विषय-सूची

भूमिका

दर्शन के इतिहास पर यह निबंध सबसे पहले अध्ययन-विधि से संबंधित है। यही नहीं, यह विश्व-दृष्टिकोण की समस्याओं की भी जांच करता है, क्योंकि दर्शन के इतिहास के मार्क्सवादी अध्ययन से अपेक्षा की जाती है कि वह *पूर्ववर्ती दार्शनिक विकास से द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के संबंध* को स्पष्ट करे।

मार्क्सवादी अध्ययन-विधि में मार्क्सवाद से पहले के दर्शन के विकास की जांच के लिए क्लासिकीय जर्मन दर्शन सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है, जो मार्क्सवाद का एक स्रोत है। यह पुस्तक उस द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद के आविर्भाव और विकास के ऐतिहासिक पहलू से संबंधित अनेक महत्व-पूर्ण किंतु अपर्याप्त रूप से विश्लेषित समस्याएं पेश करती है, जिसकी द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के अग्रदूत के रूप में असाधारण भूमिका पर मार्क्स-वाद के संस्थापकों ने हमेशा जोर दिया।

इस पुस्तक का मुख्य ध्येय अध्ययन-विधि और द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद से संबंधित कुछ प्रश्नों की जांच करते हुए विश्व-दृष्टिकोण के विकास में दर्शन के इतिहास के द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी सिद्धांत की मौलिक भूमिका को निरूपित करना है। दर्शन के इतिहास के सिद्धांत का बहुमुखी विश्लेषण सर्वथा प्रासंगिक है और इसका महत्व दर्शन के विशुद्ध ऐति-हासिक अध्ययन से कहीं व्यापक है।

एंगेल्स ने जोर दिया कि सैद्धांतिक चिंतन का इतिहास और फलतः विज्ञान का इतिहास दर्शन के इतिहास से अविच्छेद्य रूप से जुड़े हुए हैं। एंगेल्स के अनुसार, विशिष्ट विज्ञानों के मुकाबले में रखे जानेवाले विज्ञानों के विज्ञान के रूप में दर्शन की अस्वीकृति दर्शन की विरासत के आलोचनात्मक मूल्यांकन से अभिन्न है, क्योंकि धारणाओं का प्रयोग करने की कला मनुष्य का जन्मजात गुण नहीं है और न ही

सामान्य दैनंदिन चेतना के साथ उसे प्राप्त होती है, बल्कि उसे सी के लिए वास्तविक चिंतन की आवश्यकता होती है और जिस प्र इंद्रियानुभविक प्राकृतिक विज्ञानों का एक लंबा इतिहास है, ठीक उ प्रकार इस चिंतन का भी एक लंबा इंद्रियानुभविक इतिहास है। पिछ ढाई हजार वर्षों में दर्शन का जो विकास हुआ है, उसके निष्कर्षों आत्मसात् करने की कला को सीखकर ही प्राकृतिक विज्ञान एक ओर अपने से अलग, बाहर और ऊपर खड़े हुए किसी भी प्राकृतिक दर्श से छुटकारा पा सकेंगे और दूसरी ओर, अपने चिंतन की उस सकी पद्धति से भी मुक्त हो जायेंगे, जो उन्हें अंग्रेजी इंद्रियानुभववाद विरासत में मिली थी" (8,20)।

सैद्धांतिक चिंतन स्वभावतः धारणात्मक चिंतन है और यह धारणाओं की वैज्ञानिक प्रणाली को परिपूर्ण बनाने, नयी धारणाओं तथा प्रवर्ग को निर्मित करने के जरिये विकसित होता है। सैद्धांतिक चिंतन ऐसी धारणाओं के साथ काम करता है, जो गुणात्मक रूप से अत्यंत भिन्न होती है। उनमें से कुछ वस्तुओं के एक निश्चित समूह में निहि ऐसे विशेष गुणों को समाकित करती हैं, जिनको इंद्रिय-अनुभूति में ग्रहण किया जाता है और अमूर्त चिंतन से चुनकर अन्य से अलग कर लिया जाता है। दूसरी केवल सैद्धांतिक चिंतन द्वारा अनुभूत प्रक्रियाओं तथा संबंधों का सामान्यीकरण करती हैं। कुछ अन्य केवल अन्वेषणात्मक महत्व ही रखती है यानी वे अनुभव करनेवाले विषयी द्वारा सम्पन्न सक्रियाओं को प्रकट करती हैं न कि वस्तुओं के गुणों या वस्तुगत यथार्थ के सामान्य गुणों को। उदाहरणार्थ, गणित में अनन्तसूक्ष्म परिमाण की धारणा ऐसी ही है। अन्वेषणात्मक यानी सक्रियात्मक कार्य करनेवाली धारणा का एक और जीता-जागता उदाहरण तर्कशास्त्र में तादात्म्य या अमूर्तीकरण है। धारणाओं की यह सूची उनके प्रकारात्मक वर्गीकरण की दृष्टि से अधूरी है। तो भी, यह सैद्धांतिक चिंतन के धारणागत स्वरूप और दर्शन के ऐतिहासिक विकास तथा धारणाओं को बनाने वाली विचार-प्रक्रिया के साथ अंतर्वर्ती संबंधों को दिखलाने के लिए काफी है।

सैद्धांतिक चिंतन पहले से ही बनी-बनायी धारणाओं तक ही सीमित नहीं है। अध्ययन की वास्तविक प्रक्रिया में धारणाएं विकसित होती

की अन्वेषणात्मक भूमिका के बारे में एगेल्स के उपर्युक्त सिद्धात को विकसित करते हुए प्राकृतिक विज्ञानो के इतिहास के अन्वेषणात्मक महत्व पर भी जोर दिया " प्राकृतिक विज्ञानो के परिणाम धारणाए है और धारणाओ के साथ काम करने की कला जन्मजात नही, बल्कि प्राकृतिक विज्ञानो और दर्शन के विकास के २००० वर्षों का परिणाम है (10,38,262)।

स्पष्टत प्राकृतिक विज्ञानो के इतिहास के असाधारण अन्वेषणात्मक महत्व की स्वीकृति सैद्धातिक चिंतन के एक विद्यालय के रूप मे दर्शन के इतिहास के महत्व को जरा भी कम नही करती। उल्टे, विज्ञान के इतिहास का कम मूल्यांकन – और यह अब भी कुछ विद्वानो के बारे मे सही है – दर्शन के इतिहास के प्रति अवज्ञा से अनिवार्यत घुलमिल जाता है। असाधारण वैज्ञानिको ने, जिनके नाम युगातरकारी वैज्ञानिक खोजो से जुड़े हुए है, प्राकृतिक विज्ञानो तथा दर्शन मे सैद्धातिक चिंतन के इतिहास का सुव्यवस्थित ढग से अध्ययन किया। आइस्टीन हाइजेन्बर्ग वेर्नादस्की और तिमिर्यािजेव की कृतिया इसका ज्वलत उदाहरण है।

किसी भी ऐतिहासिक प्रक्रिया की भाति विज्ञान (और दर्शन) के इतिहास का अध्ययन दो मूलत भिन्न किंतु अभिन्न रूप से जुडी विधियो – ऐतिहासिक और तार्किक – से किया जा सकता है। ऐतिहासिक विधि विचाराधीन प्रक्रिया को उसकी समूची सामान्य, विशिष्ट तथा अद्वितीय विशेषताओ के साथ पुनरुत्पादित करने का ध्येय रखती है। ठोस ऐतिहासिक अध्ययन के परिणामो के समुच्चय पर आधारित तार्किक विधि एक भिन्न उद्देश्य का – अर्थात अध्ययन द्वारा निर्दिष्ट निश्चित ढाचे म परिघटनाओ के प्रदत्त समुच्चय के विकास का मनियमन करनेवाले नियमो को प्रकट करने के उद्देश्य का – अनुसरण करती है। अत चर्चा विकास प्रक्रिया के तार्किक पुनरुत्पादन की है। इस अध्ययन का प्रामाणिक उदाहरण कार्ल मार्क्स की 'पूजी' है।

एगेल्स के अनुसार, तार्किक पद्धति "वस्तुत और कुछ नही, बल्कि ऐतिहासिक रूप तथा ध्यान हटा देनेवाली सयोगवश हुई घटनाओ म वचित वही ऐतिहासिक पद्धति है। वह बिंदु जहा यह इतिहास प्रारभ होता है चिंतनधारा का प्रारभ-बिंदु भी होना चाहिए और

उसका भावी विकास अमूर्त तथा सिद्धांततः सुसंगत रूप में ऐतिहासिक क्रम का प्रतिबिम्बन मात्र होगा। इस प्रतिबिम्बन में संशोधन किया जाता है, तथापि इसका संशोधन वास्तविक ऐतिहासिक विकासक्रम द्वारा प्रदान किये गये नियमों के अनुसार होता है, क्योंकि हर क्षण का अध्ययन विकास की उस अवस्था में किया जा सकता है, जहाँ वह पूर्णतः परिपक्व होता है, अपने क्लासिकीय रूप में पहुँचता है" (6,225)। चूंकि दर्शन के इतिहास के अध्ययन को सैद्धांतिक चिंतन के विकास के लिए आवश्यक माना जाता है, इसलिए इसे केवल इंद्रियानुभविक-ऐतिहासिक अध्ययन ही नहीं, बल्कि सबसे पहले तार्किक-सैद्धांतिक, सैद्धांतिक रूप में सामान्य और ज्ञानमीमांसीय भी होना चाहिए। एंगेल्स के शब्दों में, प्रमुख **विगत ढाई हजार वर्षों में दर्शन के विकास के परिणामों** को समझने का है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद दर्शन (और विज्ञान) के इतिहास के इस सैद्धांतिक लेखे-जोखे को ज्ञानमीमांसा का एक विशेष कार्य मानता है। ज्ञानमीमांसा के अध्ययन का विषय मुख्य दार्शनिक प्रवर्गों में अपेक्षाकृत अधिक सामान्य रूप में लिया गया **संज्ञान का विकास** है।

अपनी 'दार्शनिक नोटबुक' में लेनिन ने विभिन्न विज्ञानों के इतिहास (जानवरों के मानसिक विकास के इतिहास, टेक्नोलॉजी, भाषा आदि के इतिहास) तथा समग्र रूप में ज्ञान के इतिहास की सैद्धांतिक व्याख्या और सामान्यीकरण पर आधारित मौलिक ज्ञानमीमांसीय अध्ययनों के कार्यक्रम की रूपरेखा दी। लेनिन ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की ज्ञानमीमांसा को और आगे विकसित करने के उद्देश्य से ऐतिहासिक-दार्शनिक प्रक्रिया का समाहार करने के काम को प्रधानता दी (10,*38*,351)। अध्ययन-विधि की दृष्टि से यह बहुत ही महत्वपूर्ण बात है। यह द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के संपूर्ण पूर्ववर्ती दर्शन से उसके अटूट संबंध को सीधे और स्पष्टतः दिखाती है। यह संबंध न केवल द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के उद्भव और निर्माण पर, बल्कि उसकी समस्याओं, अंतर्वस्तु तथा विकास पर भी प्रभाव डालता है। यही कारण है कि लेनिन ने हेगेल के 'दर्शन के इतिहास पर व्याख्यान' और 'तर्कशास्त्र' पर अपने नोटों को तैयार करते हुए दर्शन के ऐसे अनेक अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्धांतों को प्रतिपादित किया, जिन्हें समझे बिना मार्क्सवादी दर्शन के विकास में लेनिनीय मंजिल की अंतर्वस्तु का पूर्ण मूल्यांकन

करना असभव है। यह भी समझ मे आनेवाली बात है कि एगेल्स प्रत्ययवाद के दो हजार वर्षों के इतिहास को ध्यान मे रखते हुए इस दार्शनिक धारा के प्रति मार्क्सवादी दर्शन के रुख का निम्न रूप मे क्यो मूल्याकन करते हैं "क्योकि यह इन दो हजार वर्षों की सपूर्ण वैचारिक अतर्वस्तु का मात्र परित्याग करने का मामला नही है, बल्कि यह तो उसकी आलोचना का, उसके सक्रमणकालीन रूप से उन परिणामो को पृथक् करने का मामला है, जो एक मिथ्या और प्रत्ययवादी रूप मे, लेकिन अपने समय के लिए, स्वय क्रमविकास के लिए अनिवार्य रूप मे, प्राप्त किये गये थे" (9.198-99)।

प्रत्येक दार्शनिक शिक्षा इस या उस रूप मे दर्शन के पूर्ववर्ती इतिहास से जुडी होती है। समग्र रूप मे दर्शन के इतिहास का अध्ययन किये बिना विभिन्न दार्शनिक शिक्षाओ, दृष्टिकोणो, प्राक्कल्पनाओ, विभिन्न प्रश्नो पर प्राप्त उपलब्धियो का, जिनमे वे उपलब्धिया भी शामिल हैं जो अततोगत्वा अप्रामाणिक सिद्ध हुईं, आलोचनात्मक विश्लेषण किये बिना दर्शन की विशिष्ट प्रणाली को समझना असभव है। यहा हमारे समक्ष समष्टि और इसके अगो के बीच एक तरह का विप्रतिषेध है एक अग की समझ समष्टि के ज्ञान की पूर्वकल्पना करती है, लेकिन समष्टि का ज्ञान अगो की समझ के बिना असभव है। यह द्वद्वात्मक विप्रतिषेध समाधेय है, क्योकि एक अग को समझने का अर्थ एक हद तक समष्टि का ज्ञान और समष्टि का ज्ञान अपने सघटक अगो की निश्चित समझ की पूर्वकल्पना करता है।

इस तरह, यह विश्वास करना भारी भूल होगी कि सत्य का ऐतिहासिक (या ठीक-ठीक कहे तो ऐतिहासिक-दार्शनिक) मार्ग केवल वही तक महत्व रखता है, जहा तक सत्य अभी प्राप्त नही हुआ है, और ज्योही सत्य प्राप्त हो जाये, उसे भुलाया जा सकता है। वास्तव मे, यह काम काफी जटिल है, क्योकि सत्य ज्ञान के विकास की प्रक्रिया है और इस या उस सत्य पर पहुचना सज्ञान के मार्ग के ज्ञानमीमासीय महत्व को प्रकट करता है।

दर्शन स्वभावत एक गहनत अतर्विरोधी विषय है। उसका प्रत्येक सिद्धात न केवल निश्चित अभिपुष्टि, बल्कि निषेध भी है, अर्थात

स्थापना और प्रतिस्थापना दोनों ही है। भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण को पुष्ट करने का अर्थ प्रत्ययवाद को अग्राह्य ठहराना भी है। द्वंद्वात्मक विधि, चिंतन के द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी सिद्धांत की मूल संवेदनवादी शिक्षाओं, इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के मौलिक सिद्धांतों की सही समझ निषेध के बिना अर्थात चिंतन की अधिभूतवादी विधि अज्ञेयवाद, प्रागनुभविकवाद, आत्मगतवाद, समाज के जीवन की प्रत्ययवादी व्याख्या, आदि की समुचित वैज्ञानिक आलोचना के बिना असंभव है। वैज्ञानिक दार्शनिक आलोचना अंतिम विश्लेषण में सकारात्मक होती है। गलती को एक ज्ञानमीमांसीय परिघटना के रूप में देखा जाता है और इसकी वैज्ञानिक समझ केवल गलती को दर्ज ही नहीं करती, बल्कि इस गलती की ऐतिहासिक रूप से अनित्य आवश्यकता, उसकी ज्ञानमीमांसीय जड़ों और अंत दार्शनिक गलती की वास्तविक अंतर्वस्तु (सत्य के महत्वपूर्ण) के अध्ययन की भी पूर्वकल्पना करती है। दार्शनिक विश्लेषण के प्रति यह रुख – जो न केवल तर्कसंगत है, बल्कि स्पष्टत कुछ हद तक आवश्यक भी है – द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की समस्याओं के अध्ययन तथा दर्शन के इतिहास के मार्क्सवादी अध्ययन के बीच अंतर को समाप्त कर देता है। एंगेल्स की कृति 'ड्यूहरिंग मत-खंडन' तथा लेनिन की कृति 'भौतिकवाद और आलोचनात्मक अनुभववाद' इस सत्य के अच्छे उदाहरण हैं।

आलोचना का स्वरूप कुछ हद तक आलोचना के विषय पर निर्भर करता है। यह पुस्तक क्लासिकीय दर्शन से, खास तौर पर क्लासिकीय जर्मन प्रत्ययवाद की विरासत से द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के संबंध की जांच करती है। मार्क्सवाद का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि क्लासिकीय जर्मन प्रत्ययवाद की आलोचना उसकी गहन अंतर्दृष्टियों को रचनात्मक ढंग से आत्मसात् करती है। यही तो सकारात्मक द्वंद्वात्मक भौतिकवादी निषेध है, जिसके बारे में लेनिन ने कहा, "द्वंद्ववाद में नग्न निषेध, निरर्थक निषेध, संशयवादी निषेध, ढुलमुलपन और संदेह अभिलक्षणिक तथा सारभूत नहीं है – द्वंद्ववाद में निस्संदेह निषेध का अंश और वास्तव में उसका अत्यधिक महत्वपूर्ण अंश निहित होता है [illegible] नहीं, बल्कि सकारात्मकता को सुरक्षित रखते हुए [illegible] की एक अवस्था के रूप में, विकास की एक अवस्था के

रूप मे निषेध, अर्थात किसी ढुलमुलपन के बिना, किसी सारसग्रहवाद के बिना" (10,38,226)।

अत प्रत्येक दार्शनिक सिद्धात की विशिष्टता मूलत दार्शनिक विरासत से उसके सबध द्वारा निर्धारित होती है। किसी भी सिद्धात द्वारा उठायी गयी समस्याए निश्चित ऐतिहासिक परिस्थितियो की उपज होती है और सैद्धातिक रूप से पूर्ववर्ती दर्शन द्वारा प्रतिपादित समस्याओ से जुडी होती हैं। वह इन समस्याओ की समीक्षा करता है, उन्हे भिन्न ढग से सूत्रित करता है, समृद्ध बनाता है, सक्षेप मे उन्हे विकसित करता है। प्रत्येक दार्शनिक सिद्धात और उसके पूर्ववर्ती दर्शन की एकता मे अतर्विरोध होता है। ऐतिहासिक अनुक्रम के सबधो के अलावा, उसमे उन सिद्धातो के खिलाफ सघर्ष भी निहित होता है, जो उसके स्रोत थे। उदाहरणार्थ स्पिनोज़ा, जो देकार्त के सीधे अनुयायी होने के बावजूद, द्वैतवाद, मनोदैहिक समातरवाद स्वतत्र सकल्प की धारणा, तटस्थेश्वरवाद तथा देकार्त के सिद्धात के अन्य मूल विचारो के कट्टर विरोधी थे।

इसके अलावा, एकता सापेक्ष होती है। यह हमेशा निश्चित रूप मे उन्मुख एकता होती है और इसकी चयनात्मकता की वजह इसके सामाजिक तथा दार्शनिक पूर्वाग्रह है। यह दार्शनिक चयनात्मकता विभिन्न पूर्ववर्तियो का मूल्याकन विभिन्न ढग से करती है तथा अपने सिद्धातो के अनुरूप धारणाओ का चयन करती है। उदाहरण के लिए अन्य भौतिकवादी दार्शनिको के विपरीत स्पिनोज़ा स्पष्टत दार्शनिक इंद्रियानुभववाद और इंद्रियानुभविक प्राकृतिक विज्ञानो के महत्व को कम करके आकते हुए दर्शन मे सर्वेश्वरवादी तथा तर्कबुद्धिवादी परपरा की ओर उन्मुख हुए।

अपनी विशिष्ट अन्तर्वस्तु और सामाजिक झुकाव की वजह से दार्शनिक सिद्धात दर्शन के पूर्ववर्ती विकास के परिणामो का आलोचना त्मक ढग से विश्लेषण करने की अपनी योग्यता मे एक-दूसरे से मूलत भिन्न होते है। अत हेगेल के इस विचार से सहमत नही हुआ जा सकता कि चूकि नवीनतम दार्शनिक सिद्धात पूर्ववर्ती दार्शनिक विकास का परिणाम है, "इसलिए इसे अपने मे उसके सभी सिद्धातो को समाविष्ट करना चाहिए इसलिए वह यदि वह वास्तव मे एक दार्शनिक सिद्धात

है, सबसे विकसित, सबसे समृद्ध और सबसे ठोस है" (64,6,21)।
इस तर्क-पद्धति का अर्थ यह होगा कि चूंकि बर्कले और ह्यूम ने बेकन, देकार्त, स्पिनोज़ा, लीबनिज, लॉक और हॉब्स के बाद ऐतिहासिक मंच पर पदार्पण किया, इसलिए उन्होंने अपने सिद्धांतों में इन पूर्ववर्ती विचारकों के सिद्धांतों का संश्लेषण किया और अधिक पूर्ण तथा अधिक विकसित दार्शनिक प्रणालियों की स्थापना की। बेशक, यह ऐसा नहीं था। स्वयं हेगेल ने बर्कले और ह्यूम की शिक्षाओं की जांच करते हुए, उनके आत्मगत प्रत्ययवाद और संशयवाद की तीव्र आलोचना की तथा दिखाया कि ये असाधारण दार्शनिक पूर्ववर्ती विकास की सारी उपलब्धियों के आलोचनात्मक आत्मसातृकरण से कितने दूर थे। बर्कले और ह्यूम की प्रणालियों ने वस्तुतः ऐसे आत्मसात्करण की संभावना को पृथक् किया उनके दार्शनिक झुकाव, ऐतिहासिक चयन, पूर्ववर्ती दार्शनिक सिद्धांत में सबंध स्पष्टतः एकांगी थे।

हेगेल की गलती परम प्रत्ययवाद के मूल पूर्वाधारों से जुड़ी हुई है जिसके अनुसार दर्शन के इतिहास की प्रक्रिया दो धरातलों पर विकसित होती है। एक ओर, यह "परम प्रत्यय" के क्षेत्र में, जिसे हेगेल प्रामाणिक दार्शनिक चिंतन के रूप में चित्रित करते हैं, काल-बाह्य प्रक्रिया है। इस इतिहासेतर क्षेत्र में, जहां वास्तविक ऐतिहासिक विकास का स्थान तार्किक अनुक्रम, "धारणा" का आत्म-विकास ग्रहण करते हैं, प्रत्येक नयी अवस्था में पूर्ववर्ती तार्किक अवस्थाएं आवश्यक रूप में निहित होती हैं और वह उन्हें एक नयी तथा अधिक तर्कपूर्ण मौलिक शिक्षा के अधीन लाती है। दूसरी ओर, दर्शन के इतिहास की वास्तविक प्रक्रिया, जिसे हेगेल बिल्कुल नज़रअंदाज़ नहीं करते, मूलतः भिन्न ऐतिहासिक युगों के ढांचे में एक कालगतोश धरातल पर विकसित होती है। और इस धरातल पर – और हेगेल इसे पूर्णतः स्वीकार करते तथा सुव्यवस्थित रूप से प्रदर्शित करते हैं – पूर्ववर्ती और अनुवर्ती दार्शनिक प्रणालियों के बीच ऐसा कोई एकांगी और स्पष्ट संबंध नहीं है।

दर्शन के इतिहास की वास्तविक प्रक्रिया की सैद्धांतिक व्याख्या दिखाती है कि अनेक असम्पूर्ण दार्शनिक ज्ञान पूर्ववर्तियों के सिद्धांतों के किसी उच्च धरातल पर नहीं पहुंच सके, भले ही वे उनके उत्तरा-

धिकारी (सामान्यत इस चीज को पूरी तरह न जानते हुए) थे। यहा तक कि हेगेल भी, जिन्होंने दार्शनिक प्रणालियो के अन्य रचनाकारो के विपरीत अपने सिद्धात को दर्शन के पूर्ववर्ती इतिहास का परिणाम माना, भौतिकवादी दर्शन, सवेदनवादी ज्ञानमीमासा, अनुसधान की प्रकृतिवैज्ञानिक तथा आम तौर से उन गैर-दार्शनिक विधियो की ऐतिहासिक भूमिका का सही मूल्याकन नही कर पाये, जिन्होंने नये जमाने के दार्शनिक विचारो के सपूर्ण विकास पर बडा प्रभाव डाला था।

मार्क्सवाद द्वारा लायी गयी दर्शन मे क्राति को अक्सर सारे पूर्ववर्ती दार्शनिक सिद्धातो से एक मौलिक सबधविच्छेद के रूप मे पेश किया जाता है।

दार्शनिक विरासत से मार्क्सवाद के सबध का ऐसा मूल्याकन जटिल तथा अतर्विरोधी ऐतिहासिक प्रक्रिया के केवल एक पहलू को – शब्द के पुराने अर्थ मे दर्शन के निषेध को निर्धारित करता है। यह सही है कि द्वद्वात्मक भौतिकवाद प्रगतिशील सिद्धातो सहित सभी अन्य दार्शनिक सिद्धातो से मूलत भिन्न है। लेकिन वस्तुत द्वद्वात्मक भौतिकवाद ने ही किसी भी दूसरे दार्शनिक सिद्धात के मुकाबले मे काफी बडी सीमा तक दर्शन के सपूर्ण पूर्ववर्ती इतिहास की उपलब्धियों को आलोचनात्मक ढग से आत्मसात् किया, रचनात्मक ढग से परिष्कृत और विकसित किया। पूर्ववर्ती दर्शन से यह सबंध ही दर्शन मे मार्क्सवादी क्राति की यथेष्ट अभिव्यक्ति है, जो किसी भी सकीर्णतावादी मनोवृत्ति से मुक्त, क्रातिकारी ढग से आलोचनात्मक, रचनात्मक, पक्षधर तथा वैज्ञानिक रूप से वस्तुगत है।

'दार्शनिक नोटबुक' मे लेनिन ज़ोर देते है तथा सुव्यवस्थित ढग से स्पष्ट करते हैं कि द्वद्वात्मक प्रत्ययवाद अधिभूतवादी, द्वद्ववाद-विरोधी भौतिकवाद की अपेक्षा द्वद्वात्मक भौतिकवाद के अधिक निकट है (10,38,274)। दर्शन के इतिहास पर यह निबध, विशेष रूप से वह भाग जिसमे क्लासिकीय जर्मन प्रत्ययवाद का विश्लेषण किया गया है, इस अत्यत महत्वपूर्ण सिद्धात को स्पष्ट करता है, जो इस निष्कर्ष पर पहुचाता है कि द्वद्वात्मक भौतिकवाद (और केवल द्वद्वात्मक भौतिकवाद ही!) दर्शन के वैज्ञानिक इतिहास की सही अध्ययन-विधि प्रस्तुत करता है।

के बुर्जुआ इतिहासकार को दर्शन के इतिहास का द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी दृष्टिकोण भी एकांगी प्रतीत होगा, क्योंकि यह प्रत्ययवादी, अधिभूतवादी व्याख्या और सारसंग्रहवाद को अस्वीकार करता है, जिसे अक्सर सभी दृष्टिकोणों को "वस्तुगत रूप में" ध्यान में लेनेवाले दृष्टिकोण के रूप में, एक मर्यादित दृष्टिकोण आदि, के रूप में पेश किया जाता है। परन्तु वास्तव में, यह "एकांगीपन" दर्शन के इतिहास के प्रति सुसंगत वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। स्पष्टतः यह किसी भी अवैज्ञानिक व्याख्या को दृढ़ता से अस्वीकार करने की पूर्वकल्पना करता है। प्रत्ययवाद के खिलाफ संघर्ष, जो अपने को "अतिवादी" दृष्टिकोणों से ऊपर माननेवाले दर्शन के बुर्जुआ इतिहासकार की दृष्टि में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का दोष है, दर्शन के इतिहास के अध्ययन में वैज्ञानिक सुसंगतता की आवश्यक अभिव्यक्ति है। लेओनीद ब्रेज्नेव के अनुसार "दो विचारधाराओं के बीच संघर्ष में तटस्थता और समझौते का कोई स्थान नहीं है" (11,89-90)।

प्रत्ययवाद के प्रति द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी, पक्षधर दृष्टिकोण, जैसा कि ऊपर कहा गया है, न केवल प्रत्ययवादी दर्शन की भूमिका के वैज्ञानिक मूल्यांकन में कोई बाधा नहीं डालता, बल्कि ऐसे मूल्यांकन के लिए अध्ययन-विधि का एक सुसंगत आधार भी प्रस्तुत करता है। मार्क्स और एंगेल्स की कृति 'पवित्र परिवार' इसका प्रमाण है। इसमें लेखक प्रत्ययवादी परिकल्पनाओं का पर्दाफाश करने के साथ-साथ इस बात पर जोर देते हैं कि उनका विश्व-दृष्टिकोण भौतिकवादी है, 'जो अब स्वयं संकल्पना के कार्य में परिनिष्पन्न बन गया है" (1, 4,125)। इसका अर्थ यह है कि मार्क्सवादी दर्शन प्रत्ययवादी दर्शन की सारी उपलब्धियों को भौतिकवादी ढंग से परिष्कृत तथा आलोचनात्मक ढंग से आत्मसात् करता है। यही कारण है कि दर्शन के इतिहास के अध्ययन के लिए सैद्धांतिक आधार के रूप में स्वीकृत द्वंद्वात्मक भौतिकवाद दर्शन के इतिहास में अनुसंधान का वैज्ञानिक रूप से पुष्ट मुख्य मार्ग है। एकमात्र वैज्ञानिक दार्शनिक विश्व-दृष्टिकोण, जिसे समकालीन दर्शन ने अपना लक्ष्य घोषित किया, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद है। यह मत न केवल मार्क्सवादी दर्शन के रचनात्मक विकास में, बल्कि २०वें सदी में बुर्जुआ दर्शन के इतिहास में भी पुष्ट हो जाता है। समकाली

१

दर्शन के इतिहास में अध्ययन-विधि की समस्याएं

१

दर्शन के इतिहास में अध्ययन-विधि की समस्याएं

दर्शन का इतिहास –
दार्शनिक ज्ञान का विकास

कम से कम, पहली नजर में लगता है कि दर्शन के इतिहास का विषय सुनिश्चित और स्पष्ट है। स्वयं इसका नाम ही अध्ययन के विषय को स्पष्ट कर देता है। फिर भी, हमें इससे भ्रमित नहीं होना चाहिए क्योंकि यह ऐसा "स्पष्ट" नहीं है। यह चीज तब स्पष्ट होती है जब हम यह प्रश्न करें दर्शन का इतिहास विज्ञान या कला के इतिहास से किस रूप में भिन्न है? मिसाल के लिए, गणितशास्त्र का इतिहास इस विज्ञान की प्रगति को पुनरावर्तित करता है, जहां प्रत्येक नयी उपलब्धि की जड़ पूर्ववर्ती उपलब्धियों में निहित होती है। इस तरह इसमें गणितीय ज्ञान के विकास का सोपानक्रम होता है जिसमें उसकी ऐतिहासिक अवस्थाएं अनिवार्यतः एक-दूसरे से संबंधित होती हैं। एक विशेष विद्या के रूप में कला का इतिहास विलक्षण कला-कृतियों की वास्तविक रचना-प्रक्रिया का पुनरावर्तन करता है। बेशक ये कलाकृतियां एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं हैं। परन्तु एक दूसरे से उनका संबंध वैज्ञानिक सिद्धांतों के बीच ऐतिहासिक संबंधों से मूलतः भिन्न होता है।

विकास के सिद्धांत के विरोधी भी इससे इन्कार नहीं करते कि विज्ञान के इतिहास के अध्ययन का अपना उद्देश्य होता है। पर जहां तक कला का संबंध है, यह अध्ययन-विधि का एक विवादास्पद मुद्दा है। दृष्टत यही बात दर्शन के इतिहास पर भी लागू होती है।

दर्शन के आधुनिक प्रत्ययवादी इतिहासकार अक्सर जोर देकर कहते हैं कि दार्शनिक प्रणालियां महान कलाकृतियों की तरह हैं, क्योंकि दर्शन धारणाओं का काव्य है। यह सादृश्य दर्शन के सूत्रों और कला-बिम्बों के बीच गुणात्मक अंतर की पूर्णतः उपेक्षा करता है। होमर का 'इलियड' एक अर्थ में अब भी पूर्णता का अप्राप्य प्रतिमान बना

हुआ है। लेकिन 'इलियड' का आधुनिक पाठक इस महाकाव्य का आनंद लेते समय होमर के साथ प्राचीन यूनान के देवताओं, उनके परस्पर संबंधों, मनुष्यों के साथ उनके संबंधों, आदि पर बहस नहीं करता। दूसरी ओर, अरस्तू या प्लेटो को पढ़ते हुए वही पाठक अनिवार्यतः उनके सिद्धांतों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है, उनका विश्लेषण करता है और उनमें असत्य, असंगत विचारों से बुद्धिसंगत विचारों को पृथक करने की कोशिश करता है।

केवल शेक्सपियर ही 'ओथेलो' लिख सका। कोई अन्य व्यक्ति इस दुःखांत नाटक की रचना नहीं कर सकता था। लेकिन, उदाहरणार्थ प्लेटो अथवा अरस्तू के साथ बात कुछ और ही है। दूसरे दार्शनिकों ने उनके विचारों को भिन्न ढंग से पर व्यक्त कर ही दिया होता। इस संबंध में, दर्शन का इतिहास प्राकृतिक विज्ञानों के इतिहास के सदृश है। यह सही है कि, उदाहरणार्थ, भौतिकविज्ञान में खोजें कतिपय वैज्ञानिकों का कार्य है और उनपर उनके व्यक्तित्व की छाप है। फिर भी, अगर वे उन खोजों को करने में असफल भी हो जाते, तो दूसरे वैज्ञानिकों ने उन्हें यथासमय कर दिया होता। अतः लीबनिज या फायरबाख के सिद्धांतों का अध्ययन करनेवाले दर्शन के इतिहासकार तथा तोल्स्तोय या बाइरन का अध्ययन करनेवाले साहित्यिक इतिहासकार के बीच तुलना करना बिल्कुल गलत है। दर्शन का इतिहास कला के इतिहास से मूलतः भिन्न है।

शब्द "इतिहास" (यूनानी historia) का शाब्दिक अर्थ है कहानी, वर्णन, सूचना। विज्ञान के रूप में इतिहास का उद्भव वस्तुतः विगत की उन घटनाओं (इतिहासकार घटनाओं का प्रत्यक्षदर्शी नहीं होता) के वर्णन के रूप में हुआ, जो वर्तमान के लिए अर्थपूर्ण है।

हेगेल ने शब्द "इतिहास" के दोहरे अर्थ पर जोर दिया "हमारी भाषा में शब्द 'इतिहास' के वस्तुगत और आत्मगत, historiam rerum gestarum और स्वयं res gestas, दोनों ही अर्थ हैं, यह जो घटित हुआ उसे और ऐतिहासिक वर्णन, दोनों को सूचित करता है। हमें चाहिए कि हम इन दो अर्थों के इस संयोजन को मात्र एक बाह्य संयोग से अधिक महत्वपूर्ण कोटि के रूप में देखें, हमें यह मानना चाहिए कि इतिहास लेखन ऐतिहासिक कार्यकलापों और घटनाओं के साथ-साथ उत्पन्न

ता है उन्हे साथ-साथ जन्म देनेवाला एक सामान्य आतरिक आधार ता है" (63,164)। हमे इस बात पर भी गौर करना होगा कि ब्द "इतिहास" ने प्राचीन समय मे ही एक व्यापक अर्थ प्राप्त कर लिया था। उदाहरणार्थ, अरस्तू ने इतिहास को ऐसी तथ्यात्मक सूचनाओ (तदनुसार, विवरणो) का सग्रह कहा, जिन्हे उन्होने सिद्धात, अनुसंधान तथा तार्किक निष्कर्षो से पृथक रखा।

शब्द "इतिहास" का यह बहुअर्थ अनेक शताब्दियो तक बना रहा। 18वी सदी के अत तक प्राकृतिक विज्ञानो को, जो प्रेक्षण से प्राप्त तथ्यो का सग्रह और वर्गीकरण करनेवाले वर्णनात्मक विज्ञान बने रहे, historia naturalıs – प्राकृतिक इतिहास – कहा जाता था, ताकि उसका जातियो के इतिहास से भेद किया जा सके। सैद्धातिक प्रकृति विज्ञान ने उस स्पष्टत पुराने शब्द के स्थान पर अध्ययन के विषय का अधिक उपयुक्त शब्द रखा। एगेल्स के अनुसार, "अगर प्राकृतिक विज्ञान पिछली सदी के अत तक मुख्यत एक संग्रहकारी विज्ञान, तैयार चीज़ो का विज्ञान था, तो हमारी सदी मे यह मूलत एक क्रमबद्धकारी विज्ञान, प्रक्रियाओ का विज्ञान, इन चीज़ो के उद्भव और विकास की प्रक्रियाओ का विज्ञान तथा इन सभी प्राकृतिक प्रक्रियाओ को एक विशाल समष्टि मे जोडनेवाले अतसबध का विज्ञान है" (3,*3*,363)।

दर्शन के इतिहास और प्राकृतिक विज्ञानो के इतिहास के बीच सादृश्य देखा जा सकता है, दर्शन का इतिहास भी मात्र तथ्यो के सग्रह और उनका साराश प्रस्तुत करनेवाले वर्णन से सुव्यवस्थित अध्ययन मे विकसित हुआ है, जो दर्शन के उद्भव और विकास का एक विज्ञान बन गया है। परतु इस सादृश्य से यह तथ्य धुधला नही होना चाहिए कि दर्शन का ऐतिहासिक विकास प्राकृतिक विज्ञानो के विकास से मूलत भिन्न है।

दर्शन के इतिहास का जन्म भी मनुष्य के बौद्धिक जीवन मे असाधारण और सभवत आश्चर्यजनक घटनाओ के वर्णन के रूप मे हुआ। मिसाल के लिए, डायोजेनिस लाएर्टियस की दृष्टि मे, दार्शनिक तथा उनके सिद्धात आश्चर्यजनक थे। उनके ग्रथ 'सुप्रसिद्ध दार्शनिको के जीवन, सिद्धातो और सूक्तियो के बारे मे' को दर्शन के इतिहास का

के विचारों के बारे में प्लेटो या अरस्तू की टिप्पणियां दर्शन के इतिहास के लिए बड़े महत्व की हैं, फिर भी, ठीक-ठीक कहें तो, वे दर्शन के इतिहास का अन्वेषण नहीं हैं। प्लेटो अपने पूर्ववर्तियों को विगत के चिंतकों के रूप में मानने में असमर्थ रहे। उनके संवादों में पार्मेनिडिज, प्रोटागोरस और अन्य दार्शनिक बहस में प्लेटो के गुरु सुकरात की बराबरी में भाग लेते हैं। यह सही है कि अरस्तू इस संबंध में प्लेटो से भिन्न हैं। लेकिन पूर्ववर्ती सिद्धांतों की उनकी जांच अपनी ही प्रणाली पेश करने के कार्य के पूरी तरह अधीन है। अपने सिद्धांतों को सिद्ध करने के लिए वह दूसरे दार्शनिकों की पूर्वाग्रहपूर्ण आलोचनाओं का उपयोग करते हैं।

डायोजेनिस लाएर्शियस का ग्रंथ स्पष्टतः संकलनस्वरूप का होने के बावजूद दर्शन के इतिहास की एक निश्चित धारणा पर आधारित है, हालांकि स्वयं लेखक भी इसे पूरी तरह नहीं समझता है: इसमें डायोजेनिस लाएर्शियस दो मूल दार्शनिक प्रवृत्तियों – जडसूत्रवाद तथा संशयवाद – को अलग रखने और एक दूसरे के मुकाबले में खड़ा करने का प्रयास करते हैं।* दार्शनिकों के सिद्धांतों का वर्णन उनके बीच इतने महत्वपूर्ण मतभेद प्रकट करता है कि स्वभावतः यह निष्कर्ष निकलता है: जितने दर्शन, उतने दार्शनिक। प्रत्यक्षतः इस दृष्टिकोण से दर्शन का इतिहास दर्शनों का इतिहास है, डायोजेनिस के लिए एक ही प्रक्रिया के रूप में दर्शन के इतिहास की धारणा परायी है। यह सच है कि वह स्वीकार करते हैं कि सभी दार्शनिक सत्य की खोज में एकमत हैं, लेकिन कोई भी इस उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर पाता और वे अधिकाधिक विभिन्न मार्ग अपनाते हैं। यद्यपि डायोजेनिस लाएर्शियस एपिक्यूरसवाद के निकट थे, फिर भी दर्शन के इतिहास की उनकी अवधारणा मूलतः संशयवादी है।

---

*डायोजेनिस का अनुसरण करनेवाले संशयवादी दार्शनिकों ने इस दृष्टिकोण को अपनाया। यहां तक कि कांट ने भी इन मूल (परंतु, उनके विचार में, पूर्वाग्रहपूर्ण) दार्शनिक प्रवृत्तियों पर काबू पाने को अपना लक्ष्य माना। डायोजेनिस लाएर्शियस के ग्रंथ के धारणात्मक गुण पर देखिये (12)।

हमारा विश्वास है कि दार्शनिक सशयवाद दर्शन के इतिहास का पहला सिद्धात था और इसका प्रभाव अब भी समकालीन गैर-मार्क्सवादी दर्शन मे महसूस किया जाता है। इस सिद्धात का आरभ-बिन्दु 'बुद्धि की कसरत" के रूप मे दर्शन की नकारात्मक समझ है, जो सत्य पर कभी नही पहुचा सकती, क्योकि दर्शन सत्य और भ्राति को अलग करनेवाला मानदड नही प्रस्तुत कर सकता। सशयवादियो की दृष्टि मे, जिन चीज़ो को दार्शनिक सत्य कहते है, वे मात्र राये और विश्वास है। अत सशयवादियो ने अपने को सत्य कहने का दावा करनेवाले किसी भी दर्शन पर जडसूत्रवाद का अवज्ञापूर्ण आरोप लगाया।

सशयवाद निरपवाद रूप से सभी दर्शनो के प्रति इस विश्वास के साथ नकारात्मक रुख अपनाता है कि वही एकमात्र सही दर्शन है, क्योकि वह सभी सकारात्मक दार्शनिक स्थापनाओ को ठुकरा देता है। अत सशयवाद दावा करता है कि उसे मालूम है कि सभी दर्शन किस थैले के चट्टे-बट्टे हैं उनपर विश्वास नही किया जा सकता। इस तरह सशयवाद जगत् और उसके ज्ञान के बारे मे एक दार्शनिक सिद्धात के रूप मे नही, बल्कि दर्शन के एक दर्शन या अधिदर्शन के रूप मे प्रकट होता है। दर्शन के प्रति इस भ्रामक दृष्टिकोण को इस दावे से उचित ठहराया जाता है कि किसी भी दार्शनिक प्रस्थापना की सत्यता को अस्वीकार करने का अर्थ उसकी प्रतिस्थापना की सत्यता को स्वीकार करना नही है। सशयवादियो के अनुसार, सभी दार्शनिक अपने विचारो मे एक दूसरे से भिन्न हैं और वे एक दूसरे का खडन करते हैं, अत दार्शनिक निर्णय के प्रयोग से परहेज़ करना चाहिए। इस तथ्य की उपेक्षा कर दी जाती है कि सशयवाद भी दार्शनिको के तर्कों मे भाग लेता है और दूसरे दर्शनो की भाति अपने विरोधियो का खडन करता है।

यद्यपि प्राचीन सशयवाद ने (और यह नव युग के सशयवाद के बारे मे तो और भी सही है) कुछ दार्शनिक समस्याओ का विश्लेषण करके सज्ञान मे निहित कुछ अतर्विरोधो को निश्चय ही प्रकट किया तथा इस तरह ज्ञानमीमासीय समस्याओ के प्रति एक अधिक रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाने मे सहायता की, तथापि दर्शन के इतिहास की उसकी धारणा गलत थी और सामान्य चेतना के काफी पूर्वाग्रहो मे ग्रस्त थी। सशयवादियो ने मौलिक रूप से महत्वपूर्ण ऐसे प्रश्नो को कभी नही

मे गति की एकता मात्र एक दार्शनिक दावा नही, बल्कि एक प्रकृति-वैज्ञानिक तथ्य है" (9,197) । दूसरी ओर "वे प्रस्थापनाएं, जो सदियो पहले पेश की गयी, जिन्हे दर्शन मे बहुत पहले ही दार्शनिक रूप से निपटाया जा चुका है, अक्सर सिद्धातकारी प्रकृतिविज्ञानियो द्वारा बिल्कुल नये सत्य के रूप मे प्रस्तुत की जाती है और कुछ समय के लिए फैशनेबुल भी बन जाती है (9,43) ।

इस तरह, वे दार्शनिक सिद्धात भी, जो विशेष वैज्ञानिक अन्वेषण द्वारा पुष्ट होते हैं, दार्शनिको के बीच सार्विक स्वीकृति नही पाते। प्रकृतिवैज्ञानिको ने बहुत पहले से यह स्वीकार कर लिया है कि चेतना अत्यधिक सगठित भूतद्रव्य का गुण है। पर प्रत्ययवादी आज भी भौतिकवादी दर्शन के इस भूलभूत सिद्धात को चुनौती (चाहे आम तौर से अपवादो के साथ ही सही) देते हैं।

दर्शन के इतिहास की अपनी नकारात्मक व्याख्या के दोष के बावजूद सशयवादियो को उसके एक मुख्य गुण की खोज का श्रेय है। ज्ञान के अन्य क्षेत्रो के विपरीत दर्शन मे अनेकानेक परस्पर-विरोधी प्रवृत्तिया, सिद्धात और अवधारणाए सम्मिलित है, जिनमे से अनेक परस्पर-अपवर्जक है। लेकिन इस बात का कि मुख्य समस्याओ पर दार्शनिको के (कम से कम प्रख्यात दार्शनिको के) भिन्न-भिन्न विचार है, यह अर्थ नही है कि दार्शनिक सत्य अनस्तित्वमान है। एकमात्र स्पष्ट चीज (और यह दर्शन के इतिहास की मुख्य विशेषता है) यह है कि कुछ दार्शनिको द्वारा पुष्ट किये गये सत्यो को उनके विरोधी सर्वथा गलत घोषित करते है। दूसरी ओर, अनेक दार्शनिक भ्रातियो को मौलिक सत्य घोषित किया जाता है। ऐसा कभी-कभी दूसरे सैद्धातिक विज्ञानो मे भी होता है। परतु जबकि ऐसा विज्ञान मे यदा-कदा होता है, दर्शन मे यह आम चीज है और इसे उसका बौद्धिक वातावरण कहा जा सकता है।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सशयवादी और वे दार्शनिक भी, जिनका सशयवाद से कोई वास्ता नही है, परस्पर-विरोधी दर्शनो की असीम विविधता को क्यो स्वीकार करते है और इसे दार्शनिक ज्ञान मे अतर्निहित किसी चीज के तथा सत्य पर पहुचने मे एक गभीर बाधा के रूप मे मानते है।

१८वीं सदी में संशयवाद को अस्वीकार करनेवाले एक दार्शनिक ई० कोन्दिल्याक ने दर्शन की इस विशिष्ट स्थिति की जांच की। अपनी कृति 'प्रणालियों पर निबंध' में उन्होंने लिखा: "कितनी प्रणालियां बनायी जा चुकी हैं तथा और कितनी बनायी जायेंगी? क्या हमें कम से कम एक भी ऐसी प्रणाली मिलती, जिसकी व्याख्या इसके सभी अनुयायियों द्वारा कमोबेश एक जैसी समझी गयी हो! लेकिन क्या हम ऐसी प्रणालियों पर विश्वास कर सकते हैं, जो हजारों हृदयों से गुजरती हुई हजारों बार परिवर्तित होती हैं, जो तरंग की भांति एक ही ढंग से प्रकट और गायब होतीं और इतनी अविश्वसनीय हैं कि किसी स्थापना के खंडन और मंडन दोनों ही के लिए उनका उपयोग समान रूप से किया जा सकता है" (44,21) । संशयवादियों के विपरीत, कोन्दिल्याक ने वैज्ञानिक रूप से परखी सामग्री के आधार पर दार्शनिक प्रणाली की स्थापना के द्वारा दर्शन की उपरिलिखित स्थिति पर काबू पाना संभव तथा आवश्यक माना। कोन्दिल्याक ने संवेदनवादी ज्ञानमीमांसा के विकास के लिए बहुत कुछ किया। हालांकि वह समस्या को हल करने में असफल रहे, उनके अन्वेषण ने निस्संदेह समाधान को निकटतर ला दिया।

वर्तमान समय में, दर्शन के इतिहास के अधिकांश सैद्धांतिक अध्ययन दार्शनिक सिद्धांतों के बीच बढ़ते अंतरों पर जोर देते हैं। उदाहरणार्थ दर्शन के फ्रांसीसी इतिहासकार सी० जे० दुकास का विचार है कि इतनी संख्या में परस्पर-अपवर्जक दर्शनों के अस्तित्व का विश्लेषण दर्शन के सारतत्व को समझना संभव बनाता है। उन्होंने लिखा, "वे जो दर्शन के इतिहास की जांच करते हैं, उस अंतर से आश्चर्यचकित हो जाते हैं, जो प्राकृतिक विज्ञानों में अधिकाधिक स्पष्ट सहमति की ओर बढ़ती प्रवृत्तियों और इस तथ्य के बीच विद्यमान है कि दर्शन में ऐसी प्रवृत्ति अगर पूर्णतः अनुपस्थित नहीं है तो कम दृष्टिगोचर अवश्य है" (46,272) । अतर्कबुद्धिवादी प्रवृत्ति के दार्शनिकों के विपरीत, वे जोर देते हैं कि दर्शन और विज्ञान असंगत हैं, दुकास दर्शन को sui generis* विलक्षण मानते हैं। तो भी, वे तथ्य, जो दर्शन का विषय हैं, उन तथ्यों

* विशिष्ट । — अनु०

मे मूलत भिन्न हैं, जो किसी भी दूसरे विज्ञान का विषय है। द
मे तथ्य प्रस्थापनाए हैं और इस तरह "दार्शनिक सिद्धात की
समस्याए मूलत शब्दार्थ-विषयक हैं, लेकिन सभी शब्दार्थ-विषयक समस
अनिवार्यत दार्शनिक नही है" (46,282)। बेशक, दर्शन के सार
यह मूलत रूपात्मक व्याख्या दार्शनिक समस्याओ के वैज्ञानिक हल
सही मार्ग नही दिखा सकती।

यदि दर्शन के इतिहास का अन्वेषण कठिन है, तो दार्शनिक
के विकास की एक प्रक्रिया के रूप मे दर्शन के इतिहास को सम
और भी कठिन है। हेगेल ने ही इस समस्या को पहले पहल पेश कि
स्पष्टत इसी वजह से मार्क्स ने जोर दिया कि दर्शन के इतिहास
हेगेलीय व्याख्या के प्रत्ययवादी स्वरूप के बावजूद हेगेल "
रूप मे दर्शन के इतिहास को समझनेवाले पहले व्यक्ति थे 4,29,549

सबसे पहले हेगेल ने प्राचीन मतावाद मे बद्धमूल इस वि
को अस्वीकार कर दिया कि दार्शनिक सिद्धात एक दूसरे के
विरोधी है। उन्होंने भिन्नता की अपनी इस द्वद्वात्मक व्याख्या को
निक प्रणालियो के तुलनात्मक विश्लेषण पर लागू किया कि भि
मे तादात्म्य समाविष्ट है। हेगेल के अनुसार दार्शनिक प्रणालियो के
भिन्नताए ऐसी ही हैं, वे भी, जो अतर्विरोधो मे विकसित हो
हैं। उनके शब्दो मे, "दर्शन का इतिहास दिखाता है पहले,
भिन्न नजर आनेवाले दर्शन मात्र एक दर्शन के विकास की वि
मजिले हैं, दूसरे, विशेष सिद्धात, जिनमे से प्रत्येक किसी न किसी
विशेष प्रणाली मे अन्तर्निहित होता है मात्र एक और एक ही स
की शाखाए हैं" (64,6,21)।

जैसा कि विदित है, विभिन्नता और तादात्म्य का हेगेलीय
तादात्म्य को प्रधानता देता है, क्योकि तादात्म्य की व्याख्या एक
रूप मे तथा एकता की व्याख्या विपरीतो की अनन्यता के रूप
जाती है। हेगेल के विचार मे, सत्ता और चितन का तादात्म्य
अस्तित्वमान चीजो का सार है। दार्शनिक प्रणालियो के बीच वि
ताओ के महत्व को कम करके आकने के हेगेल के झुकाव का यही
है। उन्होंने उन्हे एक ही दर्शन के विकास की क्रमिक मजिले
जिसका सार हमेशा एक जैसा बना रहता है। इस मतावाद

का खंडन करते हुए कि सभी दर्शन मिथ्या हैं, हेगेल दरअसल पूर्ण विरोधी दृष्टिकोण स्वीकार करने को तैयार थे. सभी दर्शन सही हैं परंतु एक ही विकासमान दर्शन की अवस्थाओं के रूप में, और स्व दर्शन उस "परम प्रत्यय" की प्रामाणिक आत्माभिव्यक्ति है, जि मानव-इतिहास और सबसे पहले युग-युगों में दार्शनिक ज्ञान के वि में आत्म-चेतना पायी।

इस दृष्टिकोण से यह भी कहा जा सकता है कि दर्शन के स इतिहास से अलग करके विवेचित दर्शन की कोई भी प्रणाली स नहीं है। सत्य प्रक्रिया है और यह सबसे पहले विभिन्न और यहां त कि विपरीत परिभाषाओं की एकता के रूप में भी दार्शनिक सत्य प लागू होता है। अत हेगेल ने उस दृष्टिकोण का भी विरोध कि जो सशयवाद से इन्कार करते हुए भी उतना ही दोषपूर्ण है, क्यों उसके अनुसार सभी दर्शन उन्हें पृथक् करनेवाले अतर्विरोधों के बावजू अपने-अपने ढंग से सत्य हैं। हेगेल के अनुसार, यह स्वीकरण कि दर्श मूलत भिन्न होते हुए भी समग्र रूप में सत्य हैं, एक ऐसा पूर्वानुमा है, जो गभीरता से ध्यान देने के भी उपयुक्त नहीं है, चाहे व कितना ही सात्वनाप्रद क्यों न हो।

इस प्रकार, हेगेल ने सिद्ध किया कि दर्शन का इतिहास दर्शन का विकास है, ज्ञान के एक स्तर से क्रमश दूसरे उच्चतर स्तर में सक्रमण तथा वस्तुओं के सारतत्व की अधिकाधिक गहराई में जाना है। अपनी कृति 'दर्शन के इतिहास पर व्याख्यान' में, जिसे एंगेल्स ने "उनकी एक प्रतिभाशाली कृति" कहा (2,415), हेगेल दर्शन के विकास की व्याख्या सर्पिल गति के रूप में करते हैं, क्योंकि एक स्तर पर इस या उस ढंग से हल की गयी दार्शनिक समस्याएं दर्शन के अपने विकास द्वारा रूपातरित हो जाती हैं, नयी अतर्वस्तु प्राप्त करती हैं तथा अब भी हल की जानेवाली समस्याओं के रूप में नये, उच्चतर दार्शनिक स्तर पर पहुच जाती हैं, इन समस्याओं के प्रति नया दृष्टिकोण ऐसे निष्कर्षों पर ले जाता है, जो यथार्थ की दार्शनिक समझ को बढ़ाता है।*

---

* यह उल्लेख करना दिलचस्प है कि मुई दे कोरस के अनुसार,

बुनियाद बन गया है, जिसका चेतना अनुसरण करती है (10,38,265)।

अपनी कृति 'आत्मा की फ़िनोमेनोलॉजी' और खास तौर 'तर्कशास्त्र' में हेगेल ने दार्शनिक ज्ञान के अग्रगामी विकास के रू में दर्शन के वास्तविक इतिहास को सैद्धांतिक रूप से दिखाने की कोशिश की। 'आत्मा की फ़िनोमेनोलॉजी' के शुरू में जिस मानव चेतना की जांच की गयी है, वह प्रत्यक्ष इंद्रियगत सत्याभास से सर्वद्र भूति के लिए बद प्राकृतिक नियमों की बौद्धिक समझ तक और अन परम ज्ञान या मानव इतिहास में अपने को समुचित रूप में अभिव्य करनेवाली सभी अस्तित्वमान चीज़ों के सृजनकारी आधार के रू में परम की समझ तक ऊपर उठती है। दैनंदिन अनुभव से परम ज्ञान तक सज्ञान की यह गति, हेगेल के विचार में प्रारंभिक स्वामी–दास संबंध से बुर्जुआ-जनवादी अर्थ में नागरि के लिए स्वाधीनता तथा समानता सुनिश्चित करनेवाली विधि प्रणाली तक मानवजाति के सामाजिक-सांस्कृतिक विकास से मे खाती है। इस प्रकार, हेगेल दर्शन के इतिहास की व्या प्रत्ययवादी ढंग से सारे सामाजिक विकास के आधार तथा प्रे शक्ति के रूप में करते हैं।

'तर्कशास्त्र' एक ऐसी वस्तुगत, अन्तर्वर्ती तर्कसंगत प्रक्रिया रूप में दर्शन के विकास का सनातनीसामीय दृष्टिकोण पेश करता है, जो "परम प्रत्यय" के क्षेत्र में घटित होती है। दार्शनिक प्रणालि एक परम दार्शनिक प्रणाली की विरचना की इस प्रक्रिया की प्रवृ अवस्थाएं प्रवर्ग हैं परम दार्शनिक प्रणाली ऐतिहासिक अस्तित्व के सीमित रूपों से मुक्त तथा द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र की अवधारणाओं के सोपानक्रम में शामिल सभी पूर्ववर्ती प्रणालियों के सिद्धांतों को समन्वि करती है। इसका अर्थ यह है कि हर दार्शनिक प्रणाली में प्रत्यय एक विशि रूप में निहित होता है यानी वह "परम प्रत्यय" का सीमित रूप है। "परम प्रत्यय" अपनी पर्याप्त और स्थायी अभिव्यक्ति केवल स्व दर्शन का सार प्रस्तुत करनेवाले परम प्रत्ययवाद की प्रणाली में पाता है। दार्शनिक प्रणालियां "स्वयं प्रत्यय की भूतभूत विभिन्न के अलावा और कुछ नहीं है, वह जो कुछ भी है केवल उनमें है

प्रकट होता है, फलतः वे उसके लिए महत्वपूर्ण हैं और प्रत्यय की अन्तर्वस्तु बनाती है। अन्तर्वस्तु पूर्णतः उद्घाटित होकर रूप बन जाती है' (64,13,48)।

दार्शनिक ज्ञान के विकास का हेगेलीय तर्क अपनी सभी मेधावी अन्तर्दृष्टियों के बावजूद, जिन्हें मार्क्सवाद के संस्थापकों ने भौतिकवादी ढंग से रूपान्तरित किया, अंतिम विश्लेषण में निराधार है, क्योंकि यह दर्शन के आत्म-विकास की मिथ्या अवधारणा से आगे बढ़ता है। परम आत्मा, जो हेगेल के अनुसार 'परम प्रत्यय' की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है, दर्शन की आत्मा प्रतीत होती है और इस तरह दर्शन एक सार्विक रचनात्मक शक्ति में परिवर्तित हो जाता है। एंगेल्स ने स्पष्ट इस प्रकार की अवधारणा का विरोध किया। उन्होंने नव-युग 'दर्शन' के विकास के बारे में लिखा, 'देकार्त से हेगेल तक और हॉब्स से फायरबाख तक की इस लंबी अवधि में दार्शनिक मात्र शुद्ध चिन्तन की शक्ति से कदापि आगे नहीं बढ़े, जैसा कि उन्होंने कल्पना की है। बात उल्टी है। वास्तव में, जिस चीज ने उन्हें सर्वाधिक आगे बढ़ाया, वह प्राकृतिक विज्ञान तथा उद्योग का अधिकाधिक तीव्र और तूफानी विकास था' (3,3,347-48)।

चूँकि परम प्रत्ययवाद दार्शनिक चिन्तन को सार्विक बनाता है, इसलिए हेगेल दार्शनिक ज्ञान के विकास में प्राकृतिक विज्ञानों और सामाजिक-ऐतिहासिक व्यवहार की भूमिका को महत्वपूर्ण नहीं समझते। उनकी दृष्टि में हर गैरदार्शनिक चीज दर्शन की उपज है। दर्शन का गैरदार्शनिक अध्ययन और कार्यव्यापार के मुकाबले में सदा बढ़ता सामान्यतः प्रत्ययवादी दर्शन की विशेषता है और हेगेलीय दर्शन इसका एक आदर्श उदाहरण है। मिसाल के लिए, हेगेल के विचार में सार्विक चिन्तन की सर्वोच्च अभिव्यक्ति के रूप में दर्शन उस हर चीज का अंत कर देता है जो शुद्ध चिन्तन नहीं है और इसके परिणामस्वरूप वह अपनी अन्तर्वस्तु के संबंध में मात्र स्वयं पर ही निर्भर करता है। परन्तु हेगेल की प्रणाली में [illegible] सामग्री समाविष्ट है, जो प्राकृतिक विज्ञानों, मूर्तिकला, [illegible], आर्थिक दृष्टिकोण, कला दृष्टिकोण आदि के विषय हैं। ये भी दार्शनिक अध्ययन के इन सभी क्षेत्रों को आत्मचेतना के सर्वव्यापक के विकास के रूप में पेश किया जाता है। हेगेल स्पष्टतया कहते हैं

कि "वह हर चीज, जिसे कोई ज्ञान या विज्ञान सत्य एवं अर्थपूर्ण मानता है, केवल तभी इस नाम के योग्य हो सकती है, जब वह दर्शन से जन्मी हो, दूसरे विज्ञान दर्शन का सहारा लिये बिना तर्क-वितर्क करने की कितनी ही कोशिश क्यों न करें, उनमें इसके बिना न जीवन हो सकता है, न आत्मा, न सत्य" (64,2,53-54)।

इस तरह, विकास की हेगेलीय प्रत्ययवादी धारणा अपने द्वंद्वादी स्वरूप के बावजूद उस जटिल तथा बहुरूपी प्रक्रिया की एकतरफा और विकृत व्याख्या प्रस्तुत करती है, जो गणितशास्त्र में भी केवल धारणाओं के तार्किक विकास के रूप में परिभाषित नहीं होती। लेकिन इस बात पर तो जोर देना ही पड़ेगा कि हेगेल के जीवन-काल में वैज्ञानिक ज्ञान के किसी भी क्षेत्र ने विकास की कोई धारणा नहीं प्रस्तुत की थी।

दर्शन के इतिहास पर "विकास" के प्रवर्ग को लागू करना आसान नहीं है। यह मानना भोलापन होगा कि विकास के सामान्य सिद्धांत को, जो भौतिकवादी द्वंद्ववाद का सार है, दर्शन के इतिहास सहित ज्ञान की प्रत्येक विशेष शाखा पर प्रत्यक्ष रूप से लागू किया जा सकता है। दर्शन का इतिहास जीवविज्ञान, भूविज्ञान, आदि की भांति विशेष की द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी व्याख्या पर आधारित विकास के विशेष सिद्धांत की तैयारी की मांग करता है। डार्विन का सिद्धांत विकास के विशेष सिद्धांत का एक स्पष्ट उदाहरण है, जो अपने में न केवल सामान्य विकास-प्रक्रिया का वर्णन करनेवाले प्रवर्गों, बल्कि मात्र प्रक्रिया-विशेष से सम्बद्ध अवधारणाओं को भी सम्मिलित करता है। भौतिकविज्ञान, रसायनविज्ञान, राजनीतिक अर्थशास्त्र और समाजविज्ञान विकास की मूलतः विभिन्न किस्मों का अध्ययन करते हैं। मार्क्स की 'पूंजी' विकास का सामान्य सिद्धांत तथा सामाजिक-आर्थिक विकास का एक विशेष सिद्धांत दोनों ही पेश करती है।

सभी विकास प्रक्रियाओं के लिए आम विशेषताएं परिवर्तनों की अपरिवर्तनीयता, परिवर्तनों के विशिष्ट पथ के ढांचे में उनकी दिशा, गुणात्मक रूपांतरण, निषेध, अनुक्रम, नयी संरचना की उत्पत्ति और स्थिरता, रूपांतरण, पुनरावृत्ति (पुनरुत्पादन) तथा अद्वितीयता और

नूतन के उद्भव की एकता और नवीकरण हैं। प्रगति विकास का उच्चतम रूप है, यह विकास की उच्चतर अवस्था (स्तर) में सक्रमण है, जो इस प्रक्रिया की अंतर्वस्तु को समृद्ध तथा उसके रूप को पूर्ण बनाता है। इस प्रकार, विकास गुणात्मक रूप से विभिन्न प्रक्रियाओं की एकता है, जिनमें से प्रत्येक अब भी स्वय विकास की प्रक्रिया नहीं, बल्कि उसका आवश्यक अंगीभूत तत्व होती है। उदाहरणार्थ, अप्रतिवर्त्यता सभी जीवित चीजों के कार्य की सहवर्ती है, इसलिए इस प्रक्रिया को विकास से नहीं मिलाना चाहिए। गति और परिवर्तन अपने आप में विकास नहीं हैं, पर विकास वस्तुत गति और परिवर्तन के जरिये ही होता है।

दर्शन के इतिहास का विश्लेषण विकास की इन सामान्य, अभिलाक्षणिक विशेषताओं को प्रकट करना सभव बनाता है। इसके साथ ही, यह कुछ ऐसी प्रवृत्तिया भी प्रकट करता है, जो उपर्युक्त प्रस्थापनाओं की विरोधी हैं पूर्ववर्ती दर्शन का अमूर्त निषेध, ऐतिहासिक रूप से कालातीत दार्शनिक सिद्धांतों की वापसी तथा विपरीतों का सघर्ष, जो अक्सर परस्पर-सक्रमण, अन्योन्याश्रितता और एकता की सभावना को मिटा देता है।

यदि प्राकृतिक विज्ञानों के इतिहास के साथ दर्शन के इतिहास की तुलना की जाये, तो उनके बीच मूल अतर, जैसा कि इस अध्याय के प्रारभ में उल्लेख किया गया है, तुरत स्पष्ट हो जाता है। इस तथ्य के बावजूद कि निरतरता और व्यवधान दोनों ही प्राकृतिक विज्ञानों के विकास के लिए अभिलाक्षणिक है उनके इतिहास में अग्र विकास कभी-कभार ही भग होता है। सामान्यत वैज्ञानिक सिद्धिया नहीं भुलायी जाती हैं, परस्पर-अपवर्जक अवधारणाओं का अस्तित्व एक अस्थायी (चाहे यह स्थायी रूप से ही क्यों न घटे) परिघटना है। लेकिन दर्शन में भिन्न स्थिति है विभिन्न मतों, धाराओं, प्रवृत्तियों के बीच सह-अस्तित्व तथा सघर्ष इसके सपूर्ण इतिहास की विशेषता है। अन्य विज्ञानों में बहसों में भिन्न दार्शनिक वाद-विवाद के लिए दृष्टिकोणों का बढ़ता मतभेद लाक्षणिक है। तर्कबुद्धिवाद और इंद्रियानुभववाद, तर्कबुद्धिवाद और अतर्कबुद्धिवाद, प्रकृतिवाद और अध्यात्मवाद, अधिभूतवाद और परिघटनावाद जैसी धाराओं के बीच विरोध दिखाता है कि दर्शनों

के बीच भिन्नता अन्तर्विरोध में बदल जाती है, जो दार्शनिक प्रश्न के विकास के अधिक सामान्य रूपों के लिए भी अभिलाक्षणिक है। इसके अलावा प्रत्येक अन्तर्विरोधी धारा ध्रुवीकरण की प्रवृत्ति प्रदर्शित करती है : भौतिकवादी तर्कबुद्धिवाद प्रत्ययवादी तर्कबुद्धिवाद का तथा प्रत्ययवादी इंद्रियानुभववाद भौतिकवादी इंद्रियानुभववाद, आदि का विरोध करते हैं।

इस तरह दर्शनों की बड़ी विविधता के बावजूद, बहुविध धाराओं और प्रवृत्तियों के बावजूद – इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती, चाहे यह कभी-कभी दर्शन के इतिहास पर लोकप्रिय कृतियों में ही क्यों न हो – भौतिकवाद और प्रत्ययवाद दो प्रमुख अन्तर्विरोधी प्रणालियां हैं। उनका पारस्परिक विरोध दर्शनों के आमूल ध्रुवीकरण का परिणाम है। फिर भी वे निरपेक्ष विरोधी नहीं हैं उनका विरोध अध्ययन के सामान्य दार्शनिक क्षेत्र के ढांचे में विद्यमान (और गहराता) है। यह एक महत्वपूर्ण बात है जिस पर जोर दिया जाना चाहिए, चाहे इसलिए ही कि अधिकांश प्रत्ययवादी भौतिकवाद को एक अदार्शनिक दृष्टिकोण मानते हैं।

भौतिकवाद तथा प्रत्ययवाद के बीच संघर्ष अनुक्रम-संबंधों से इन्कार नहीं करता पर स्वभावतः इस अर्थ में नहीं कि भौतिकवादी प्रत्ययवादी विचारों और प्रत्ययवादी भौतिकवादी विचारों को आत्मसात् करते हैं। मार्क्सवादी दार्शनिक अनुक्रम को द्वंद्वात्मक निषेध के रूप में मानते हैं, जिसके सकारात्मक स्वरूप का बेमेल विचारों की सारसंग्रहवादी खिचड़ी से कोई वास्ता नहीं है। क्लासिकीय जर्मन दर्शन के प्रति द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का रुख इस द्वंद्वात्मक अनुक्रम का बहुत अच्छा उदाहरण है, जो दर्शन में पक्षधरता के वैज्ञानिक सिद्धांत के अनुसार काम करता है।

स्वभावतः यह प्रश्न उठता है क्यों दर्शन का इतिहास गणितशास्त्र, भौतिकविज्ञान और अन्य विज्ञानों के इतिहास से इतना भिन्न है? इसका उत्तर यह है कि दर्शन अध्ययन का भी एक विशिष्ट रूप है तथा सामाजिक चेतना का भी – वह एक विचारधारा है।

स्पष्टतः इस तथ्य का कि सामाजिक चेतना सामाजिक सत्ता को प्रतिबिंबित करती है, यह अर्थ नहीं है कि यह सामाजिक सत्ता का

यन अथवा ऐसे अध्ययन का परिणाम है। सामाजिक चेतना की र्वस्तु सामाजिक सत्ता द्वारा निर्धारित होती है, जो चेतना से स्वतंत्र तुगत सामाजिक प्रक्रिया है। निश्चित ऐतिहासिक परिस्थितियो मे माजिक चेतना वैज्ञानिक चेतना यानी वैज्ञानिक विचारो की एक ाली बन सकती है। विशेष वैज्ञानिक अन्वेषण के जरिये निर्मित ानिक समाजवादी विचारधारा ऐसा ही एक उदाहरण है; यह शिष्ट ऐतिहासिक सामाजिक सत्ता – पूजीवादी प्रणाली, इस प्रणाली मजदूर वर्ग की स्थिति, उसके हितो, आवश्यकताओ तथा मुक्ति दोलन – को प्रतिबिंबित करती है।

वैज्ञानिक समाजवादी विचारधारा मजदूरो की उस स्वतःस्फूर्त तना मे मूलतः भिन्न है, जो पूजीवादी विकास के दौरान बनती है। वभावतः मानव-चेतना मे न केवल सामाजिक सत्ता का प्रतिबिंबन ल्कि प्रकृति का प्रतिबिंबन भी उस अध्ययन से मूलतः भिन्न है, ो अपने विषयो का वैज्ञानिक प्रतिबिंबन करता है। इस पुस्तक के ागे के पृष्ठो पर सामान्य चेतना के साथ जो सामान्य अनुभव पर आधारित होती है, विज्ञान (और दर्शन) के सबध पर एक विशेष विवेचन दिया गया है। यहा सिर्फ यह उल्लेख करना चाहिए कि प्राकृतिक विज्ञान सामान्य चेतना के जरिये प्रकृति के प्रतिबिंबन तथा विशेष अन्वेषणो मे प्राप्त परिणामो के बीच अतर करते हैं, इसके बावजूद कि विशेष अन्वेषण बहुधा सामान्य अनुभव पर आधारित होते हैं।

विज्ञान मानव चेतना मे मात्र वस्तुगत यथार्थ को ही प्रतिबिंबित नही करता, चाहे यह प्राकृतिक या सामाजिक यथार्थ हो विज्ञान यथार्थ के सैद्धातिक प्रतिबिंबन का उच्चतम रूप है। प्रतिबिंबक चेतना (धार्मिक चेतना सहित कोई भी चेतना यथार्थ को प्रतिबिंबित करती है) और प्रतिबिंबन सैद्धातिक अध्ययन के बीच यह विभाजन दर्शन मे भी तर्कसगत है। एक उदाहरण प्रस्तुत है। १८वी सदी का फ्रांसीसी भौतिकवाद अपने युग का वैज्ञानिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोण था। भूतद्रव्य की स्वगति के सिद्धात की पुष्टि (चाहे सीमित यात्रिक रूप मे ही सही) इस दर्शन की सबसे बडी उपलब्धि थी। फ्रांसीसी भौतिकवादियो ने समाज-विज्ञान मे निम्नलिखित सिद्धात पेश किया मनुष्य अपनी परिस्थितियो के अनुसार बदलता है। मार्क्स और एगेल्स ने समाजवादी सिद्धातो

के बाद के विकास के लिए इस सिद्धांत के महत्व पर ज़ोर दिया।

इसके अलावा, फ्रांसीसी भौतिकवाद बुर्जुआ प्रबोधन का दर्शन है, सामंतवाद के विरुद्ध संघर्षरत बुर्जुआ वर्ग के हितों, आवश्यकताओं और स्थिति को प्रतिबिंबित करनेवाली बुर्जुआ विचारधारा है। फ्रांसीसी भौतिकवाद के ये लक्षण निस्संदेह उसकी मूल दार्शनिक अन्तर्वस्तु से जुड़े हुए हैं, वे उसकी विशेष अभिव्यक्तियां हैं। लेकिन इन लक्षणों को उस ऐतिहासिक युग की सामाजिक चेतना में सामाजिक सत्ता के एक वस्तुगत (विशेष परिस्थिति में स्वतःस्फूर्त भी) प्रतिबिंब के रूप में देखा जाना चाहिए, न कि अध्ययन के परिणाम के रूप में।

अतः दार्शनिक सिद्धांत की अन्तर्वस्तु के रूप में प्रतिबिंबन को दो प्रकार से व्यक्त किया जाता है: विशिष्ट यथार्थ के अध्ययन के रूप में, यानी निश्चित आत्मगत कार्यकलाप के रूप में, तथा सामाजिक सत्ता के वस्तुगत अवबोधन के रूप में, एक ऐसी समझ के रूप में, जो हमेशा और सर्वत्र संज्ञानात्मक प्रक्रिया नहीं होती। बेशक, प्रतिबिंबक चेतना और प्रतिबिंबक अध्ययन को हमेशा ही पूर्णतः एक दूसरे के मुकाबले में नहीं रखा जाना चाहिए। लेकिन हमें विलोम भ्रम में भी नहीं पड़ना चाहिए: सामाजिक सत्ता पर सामाजिक चेतना की वस्तुगत निर्भरता को नज़रअंदाज़ करते हुए दार्शनिक सिद्धांतों की अन्तर्वस्तु को मात्र अध्ययन का परिणाम नहीं माना जाना चाहिए।

फ्रांसीसी भौतिकवाद के विचारधारात्मक कार्य का वर्णन करते हुए मार्क्स और एंगेल्स ने ज़ोर दिया कि "होलबाख का सिद्धांत उस समय फ्रांस में विकसित हो रहे बुर्जुआ वर्ग के बारे में ऐतिहासिक रूप से तर्कसंगत दार्शनिक भ्रम है, जिसकी शोषण की सनक को तब भी पुराने सामंती बंधनों से मुक्त संसर्ग की परिस्थितियों में व्यक्तियों के पूर्ण विकास की सनक के रूप में लिया जा सकता था"(1,5,410)। स्पष्टतः फ्रांसीसी भौतिकवादी अपने सिद्धांत की इस सामाजिक अन्तर्वस्तु से पूर्णतः सचेत नहीं थे, वैसे ही जैसे कि सामंती प्रणाली तथा विचारधारा के प्रति अपने पूर्ण विद्वेष के बावजूद वे अपने को बुर्जुआ वर्ग के सिद्धांतकार नहीं मानते थे। मार्क्स और एंगेल्स ने फ्रांसीसी भौतिकवादियों की विचारधारा के ऐतिहासिक रूप से प्रगतिशील स्वरूप को दिखाया और लिखा: "बुर्जुआ वर्ग की दृष्टि से मुक्ति यानी प्रतिद्वंद्विता बेशक

था जब अतीत विश्लेषण में प्रवेश तथा सिद्धांत उन सिद्धान्तों को पुनरुज्जीवित करना था, जिन्हें विगत में निरूपित और बाद में अस्वीकृत कर दिया गया था। बेशक, इसका अर्थ यह नहीं है कि आज बुर्जुआ दर्शन विचार-विमर्श करने योग्य कोई समस्याएं पेश नहीं करता। पुरानी समस्याओं का पुनरुज्जीवन दर्शन के विकास का एक विशिष्ट रूप है, बशर्ते यह नयी ऐतिहासिक परिस्थितियों को प्रतिबिंबित करता हो तथा नवीनतम वैज्ञानिक उपलब्धियों को ध्यान में रखता हो। समकालीन प्रत्ययवाद के संकट की किसी भी सरलीकृत व्याख्या का विरोध करते हुए सुप्रसिद्ध सोवियत दार्शनिक प० फेदोसेयेव ठीक ही कहते हैं कि "कुछ बुर्जुआ दार्शनिक आकारगत तर्कशास्त्र के क्षेत्र में फलप्रद ढंग से काम कर रहे हैं। इस क्षेत्र में उनकी उपलब्धियों की उपेक्षा करना अनुचित होगा, इसमें विद्यमान सभी मूल्यवान चीजों का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाना चाहिए" (32,132)। इसके साथ ही, इस चीज पर दृढ़तापूर्वक जोर दिया जाना चाहिए कि केवल मार्क्सवाद की स्थापना के साथ ही युग-युगों की उन भ्रांतियों से मुक्त दर्शन की एक मूलत. भिन्न किस्म का जन्म हुआ, जिन्हें आधुनिक प्रत्ययवादी दर्शन ठीक करने में असमर्थ है। मार्क्सवादी दर्शन सारे वैज्ञानिक ज्ञान, ऐतिहासिक अनुभव तथा व्यवहार से अभिन्न रूप में सबद्ध एक विकासमान प्रणाली है। मार्क्सवाद ने अदार्शनिक अध्ययन तथा व्यवहार के दर्शन के असंगत विरोध पर पूरी तरह काबू पा लिया है। द्वंद्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद एक ऐसा वैज्ञानिक दार्शनिक दृष्टिकोण है, जो न केवल विश्व की व्याख्या प्रस्तुत करता है, बल्कि उसे बदलने का तरीका भी दिखाता है।

दर्शन के विकास के रूप में ऐतिहासिक-दार्शनिक विज्ञान के विषय की परिभाषा करते हुए हमें तार्किक जोर को विकास की प्रक्रिया से हटाकर विकास के विषय पर विचार करना चाहिए। दर्शन के विकास का क्या अर्थ है? यह प्रश्न ज्ञान के दूसरे रूपों से दर्शन के मूलभूत अंतर के कारण उचित है। यह सही है कि वे विज्ञान भी, जिनके साथ यहां दर्शन की तुलना की जा रही है, एक दूसरे से मूलत भिन्न हैं। जीवविज्ञान गणितशास्त्र से मूलत. भिन्न है। सामाजिक विज्ञान तथा प्राकृतिक विज्ञान ज्ञान के दो विशिष्ट क्षेत्र हैं। फिर भी दर्शन,

विषय – प्रकृति, समाज और संज्ञान के विकास के अपेक्षाकृत अधिक सामान्य नियम – वैज्ञानिक संज्ञान के इतिहास के सारांशीकरण और सम्प्रत्ययीकरण के रूप में ऐतिहासिक रूप से निर्मित होता है।

स्पष्टत, विकास के सार्विक नियमों के प्रश्न के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण विकास के उन विशेष नियमों के महत्व को जरा भी नहीं घटाता, जिनका खगोलविज्ञान, भूविज्ञान, जीवविज्ञान और अन्य विज्ञान अध्ययन करते हैं। मार्क्सवादी दर्शन मूलत भिन्न नियमों की एकता, उनके आम द्वंद्वात्मक स्वरूप का अध्ययन करता है। यह न केवल भौतिक या आर्थिक नियमों की जाच के दौरान, बल्कि उस समय भी स्पष्ट हो जाता है, जब विश्लेषण को सामाजिक विकास के अत्यधिक सामान्य नियमों पर लागू किया जाता है। इसे संज्ञान के अत्यधिक सामान्य नियमों के विशिष्ट लक्षणों का वर्णन करते समय भी ध्यान में रखा जाना चाहिए।

अत, सरल लगनेवाले सूत्र – "दर्शन का विकास" – की व्याख्या करने का पहला प्रयास भी कोई कम महत्वपूर्ण प्रश्न नहीं पेश करता, क्योंकि समस्या दर्शन में विकास के विशिष्ट स्वरूप और विकास के विषय यानी स्वयं दर्शन को निर्धारित करने की है। बेशक, हमें यह भी याद रखना चाहिए कि मूलत भिन्न दर्शनों का अस्तित्व है। विकास की अवधारणा को दर्शन की दो मूलभूत प्रवृत्तियों, भौतिकवाद तथा प्रत्ययवाद पर, भिन्न ढंग से लागू किया जाना चाहिए। अत "एक और अनेक की" परम्परागत समस्या दर्शन में भी (विरोधाभास के रूप में) उठती है। दार्शनिक सिद्धांतों की विविधता दर्शन की एकता का विलगाव नहीं करती, चाहे वह सापेक्ष और अन्तर्विरोधी ही क्यों न हो। परन्तु इस एकता को विकास की एक प्रक्रिया के रूप में तथा साथ और ही इसके एक परिणाम के रूप में देखा जाना चाहिए। एक ओर दार्शनिक अध्ययन में तथा दूसरी ओर, व्यावहारिक कार्य में इसके [illegible] दृष्टिकोण पर लागू होना निस्संदेह दार्शनिक ज्ञान की एकता प्राप्त करने में सहायता करता है। चूंकि दर्शन का अनेक परस्पर अपवर्जी सिद्धांतों में विभाजन गहन सामाजिक आर्थिक कारणों का परिणाम है, इसलिए भावी कम्युनिस्ट समाज में सम्भवत दार्शनिक ज्ञान की एकता के निर्माण में निश्चय ही एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवस्था

होगा। बेशक, इससे दर्शन में वाद-विवाद का अंत नहीं हो जायेगा पर यह उसके मुख्य स्वरूप को मूलतः बदल देगा।

चूंकि हेगेल आध्यात्मिक को तात्विक बनाते है, इसलिए वह दर्शन के इतिहास को प्रत्ययवाद के विकास के रूप मे देखते है। वह लिखते है, "कोई भी दर्शन मूलतः प्रत्ययवाद है अथवा कम से कम उसका सिद्धांत के रूप मे प्रत्ययवाद होता है और इस स्थिति मे प्रश्न सिर्फ यह है कि इसे वास्तव मे कितना विकसित किया गया है" (64,3, 171)। दर्शन के विकास की इस प्रत्ययवादी विकृति को अस्वीकार करते हुए दूसरी चरम सीमा तक नही जाना चाहिए। दर्शन का इतिहास मात्र भौतिकवाद का इतिहास नही है।

दो मुख्य दार्शनिक प्रवृत्तियों के रूप मे भौतिकवाद और प्रत्ययवाद ऐसे विभिन्न सिद्धांतो से अभिन्न रूप से जुड़े हुए है जो अपनी बारी मे मौलिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया के अधीन होते है। व्लादीमिर इल्यीच लेनिन ने दिखाया कि बर्कले और दिदेरो लॉक के संवेदनवाद के अनुयायी थे—बर्कले प्रत्ययवादी दिशा मे और दिदेरो भौतिकवादी दिशा मे। इस तरह, भौतिकवाद तथा प्रत्ययवाद का विरोध उन सिद्धांतो मे भी विद्यमान है, जिन्हे न तो पूर्णतः प्रत्ययवादी न ही पूर्णतः भौतिक-वादी कहा जा सकता है।

दर्शन के इतिहास के किसी भी अध्ययन की मुख्य प्रवृत्ति भौतिकवाद तथा प्रत्ययवाद के बीच संघर्ष का विश्लेषण है। स्वभावतः इस संघर्ष का स्वरूप, अंतर्वस्तु व परिणाम परिवर्तनहीन नही है। उदाहरणार्थ, एंगेल्स के शब्दो मे, प्राचीन भौतिकवाद "मन और भूतद्रव्य के बीच संबंध को स्पष्ट करने मे असमर्थ था। लेकिन इस प्रश्न के बारे मे साफ समझ प्राप्त करने के उद्देश्य से पहले एक ऐसी आत्मा की कल्पना की गयी, जिसे शरीर से अलग किया जा सकता है, फिर इस आत्मा की अनश्वरता की घोषणा की गयी और अंत मे एकेश्वरवाद की स्थापना हो गयी। अतः पुराने भौतिकवाद का प्रत्ययवाद द्वारा निषेध हो गया" (8,165-66)। १७वी और १८वी सदियो के भौतिकवादी दर्शन ने देकार्त, लीबनिज, मालब्रांश और उनके अनुयायियो की प्रत्ययवादी अधिभूतवादी प्रणालियो पर प्रभावशाली विजय प्राप्त की। पर बाद मे, क्लासिकीय जर्मन प्रत्ययवाद ने १७वी सदी के तर्कबुद्धिवादी अधि-

भूतवाद को पुनरुज्जीवित कर दिया। फायरबाख के तुरीजातिक भौतिकवाद ने हेगेल तथा उनके पूर्ववर्तियों के प्रत्ययवाद का निषेध कर दिया। क्लासिकीय जर्मन दर्शन भौतिकवाद की विजय के साथ अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंचा। लेकिन फायरबाख का भौतिकवाद सीमित था। प्रत्ययवाद का उसका निषेध अमूर्त तथा अधिभूतवादी स्वरूप का था। इस बीच, क्लासिकीय जर्मन प्रत्ययवाद ने वास्तविक प्रश्न उठाये और उनके समाधान से वैज्ञानिक-दार्शनिक दृष्टिकोण का पथ प्रशस्त हुआ।

जैसा कि एंगेल्स ने इंगित किया, एक ओर, प्राकृतिक विज्ञानों की प्रगति और दूसरी ओर, उत्पादक शक्तियों के विकास ने वैज्ञानिक दर्शन की स्थापना में योगदान किया। "भौतिकवादियों के बीच यह प्रत्यक्षतः सामने था, पर प्रत्ययवादी प्रणालियों ने भी अपने को अधिकाधिक भौतिकवादी अन्तर्वस्तु से पूरित किया और आत्मा तथा भूतद्रव्य के बीच प्रतिस्थापना का समाधान सर्वेश्वरवादी ढंग से करने का प्रयास किया। अतः हेगेलीय प्रणाली विधि और अन्तर्वस्तु में मात्र प्रत्ययवादी ढंग से सिर के बल खड़ा भौतिकवाद है" *(3,3,348)* ।

वैज्ञानिक-दार्शनिक विश्व-दृष्टिकोण की स्थापना और इसके जरिये शब्द के पुराने, परंपरागत अर्थ में दर्शन का निषेध बुर्जुआ विचारधारात्मक स्थिति से नहीं हो सकता था। अदार्शनिक कार्य (सैद्धांतिक और व्यावहारिक) के मुकाबले दार्शनिक चिंतन को खड़ा करने का अधिभूतवादी प्रयास तथा "अपक्षधरता" का सिद्धांत, जिसे बुर्जुआ चेतना दर्शन का विशिष्ट लक्षण बताती है, दर्शन की किसी भी भौतिकवादी व्याख्या को असंभव बनाते हैं। बुर्जुआ विचारकों का भौतिकवाद अनिवार्यतः अनुध्यानशील और अनिश्चित स्वरूप का है। बुर्जुआ दर्शन में द्वंद्ववाद केवल प्रत्ययवादी ही हो सकता है।

मार्क्सवाद के संस्थापकों की अपूर्व मेधा सबसे पहले इस बात में है कि उन्होंने सर्वहारा पक्षधरता की आवश्यकता को सैद्धांतिक रूप में समझा तथा उसे वैज्ञानिक रूप से पुष्ट किया। एक मौलिक नयी स्थिति से उन्होंने दर्शन के संपूर्ण इतिहास तथा संपूर्ण सामाजिक विकास की नयी, क्रांतिकारी आलोचनात्मक व्याख्या दी और द्वंद्वात्मक व ऐतिहासिक भौतिकवाद का सृजन किया तथा उसके जरिये दर्शन के इतिहास में एक नये युग का शुभारंभ किया।

मार्क्स ने कहा कि मानव की शरीर-रचना वानर की शरीर-रचना की कुंजी है। इसी ढंग से हम कह सकते हैं कि भूकि द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद उन समस्याओं को हल करता है जो पहले दर्शन के लिए विकट बनी हुई थीं यह उसकी अन्तर्वस्तु तथा अर्थ की एक नयी समझ प्रस्तुत करता है। मिसाल के लिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्रवर्गों के विकास के अपने सिद्धान्त में अन्तर्जात प्रत्ययों चिन्तन के प्रागनुभविक रूपों की समस्याओं का वैज्ञानिक दार्शनिक समाधान पेश करता है। यह सिद्धान्त उन समस्याओं को महज दूर नहीं करता (उदाहरणार्थ, नव-प्रत्यक्षवाद उनसे एकदम इन्कार करता है) बल्कि उनकी वास्तविक ज्ञानमीमांसीय अन्तर्वस्तु को प्रकट भी करता है। दर्शन के मार्क्सवादी-लेनिनवादी इतिहास का सबसे पहला कार्यभार भौतिकवाद के ऐतिहासिक रूपों द्वन्द्ववाद के ऐतिहासिक रूपों तथा उन प्रवर्गों का अध्ययन करना है जो भौतिकवाद और द्वन्द्ववाद को पर्याप्त अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। फिर भी किसी सरलीकृत व्याख्या के खिलाफ चेता देना आवश्यक है। मार्क्स के शब्दों का यह अर्थ नहीं है कि वानर का विकास मानव का विकास है क्योंकि अंतिम विश्लेषण में उसके फलस्वरूप ही मनुष्य की उत्पत्ति हुई। अपनी अन्तर्निहित *ठोस ऐतिहासिकता के कारण विकास की द्वन्द्वात्मक-भौतिकवादी* व्याख्या उद्देश्यवाद को अस्वीकार करती है। विकास की दिशा सामान्य विकास की समग्र प्रक्रिया का गुणधर्म नहीं है ऐतिहासिक रूप में निश्चित चक्र, युग आदि के भीतर विकास की प्रत्येक अवस्था की अपनी *मूलभूत विशेषताएं और अपनी यथोचित दिशा होती है।*

कार्ल मार्क्स ने उन निम्न-बुर्जुआ समाजवादियों का विरोध किया जिन्होंने समाज के समाजवादी पुनर्निर्माण के विचार को वैज्ञानिक ढंग से पुष्ट करने में असफल होने पर घोषणा की कि लोगों ने हमेशा ही समाजवादी प्रणाली सामाजिक न्याय, समानता, आदि कायम करने की कामना की है। इस संबंध में मार्क्स ने कहा कि "समानता के लिए प्रयास हमारी सदी की विशेषता है। लेकिन आज यह कहने का अर्थ कि बिल्कुल भिन्न आवश्यकताओं, उत्पादन के साधनों आदि के साथ पूर्ववर्ती सदियों ने बड़ी दूरदर्शिता से समानता के लिए काम किया, सबसे पहले हमारी सदी के लोगों तथा साधनों को पूर्ववर्ती सदियों के

लोगो तथा साधनो के स्थान पर रखना और उस ऐतिहासिक गति को गलत ढग से समझना है, जिसके द्वारा अनुक्रमिक पीढियो ने अपनी पूर्ववर्ती पीढियो द्वारा प्राप्त परिणामो को रूपातरित किया" (1,6,173)।

मार्क्स की इस प्रस्थापना को, जो अध्ययन-विधि निर्धारित करने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है, दर्शन के इतिहास पर भी लागू किया जाना चाहिए। यहा बात ऐतिहासिकता के सिद्धात तथा इसके सही प्रयोग की है, जो सर्वहारा के कार्यभारो को उत्पादन सबधों की विभिन्न प्रणालियो के अतर्गत रहे हुए भूतपूर्व शोषित वर्गों के मुक्ति-आदोलन पर आरोपित करने की सभावना को समाप्त कर देता है। इसी तरह, द्वद्वात्मक भौतिकवाद के किसी पूर्ववर्ती सिद्धात पर उन गुणो को लागू करना भी गलत है, जो केवल इसी वैज्ञानिक-दार्शनिक विश्व-दृष्टिकोण की विशेषताए है।

द्वद्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद दर्शन के वैज्ञानिक इतिहास का वह सैद्धातिक और अध्ययन-विधि सबधी आधार है, जो दार्शनिक ज्ञान के विकास का पता लगाते हुए वैज्ञानिक-दार्शनिक दृष्टिकोण की ऐतिहासिक आवश्यकता को प्रकट करता है। लेकिन यह कहना—जैसा कि दुर्भाग्य से यह कभी-कभी होता है—कि दर्शन का इतिहास द्वद्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद का इतिहास है, ऐतिहासिकता के सिद्धात से स्पष्टत विचलन होगा। इस सूत्र को मार्क्सवाद से पहले के अधिकाश सिद्धातो—मुख्यत प्रत्ययवादी और साथ ही पाडित्यवादी और रहस्यवादी भी—पर लागू करना उनका पक्ष-समर्थन करने के समान होगा।

दर्शन का अस्तित्ववादी इतिहास वस्तुत अस्तित्ववादी दर्शन का इतिहास है। दर्शन का प्रत्यक्षवादी इतिहास वैसे ही आत्मगत है यह प्रत्यक्षवाद के निकट से जुड़े इद्रियानुभविक और आत्मगत रूप से अज्ञेयवादी विचारो से असहमत चितन के सभी चितको की अवमानना करता है। मार्क्सवादी दर्शन सभी मार्क्सवाद-पूर्व और अमार्क्सवादी दर्शनो से सिद्धातत भिन्न है। दर्शन का मार्क्सवादी-लेनिनवादी इतिहास दर्शन के इतिहास की पूर्ववर्ती और वर्तमान अवधारणाओ का विज्ञान पर आधारित, द्वद्वात्मक निषेध है, यह उनके द्वारा प्रस्तुत समस्याओ और समाधानो का आलोचनात्मक ढग से विवेचन करता है। दर्शन

के इतिहास की समझ जितनी ही विशद, गहन और वैज्ञानिक होगी उतना ही यह स्पष्ट होगा कि दार्शनिक ज्ञान के विकास का वैज्ञानिक सिद्धान्त एकमात्र द्वन्द्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर ही संभव है।

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और दर्शन के इतिहास का हेगेलीय दर्शन

दर्शन के इतिहास के प्रति अर्थात अपने विगत तथा इस विगत के सुव्यवस्थित अध्ययन के प्रति दर्शन का रुख क्या है? अपने विचारों को पुष्ट करने के लिए अपने पूर्ववर्तियों के सिद्धातों का विश्लेषण करने वाले पहले दार्शनिकों – प्लेटो और अरस्तू के समक्ष यह प्रश्न नहीं प्रस्तुत हुआ। बाद में, दर्शन के इतिहास का अध्ययन अधिकाशतः संशयवादियों द्वारा किया गया, जिनके विचार में सच्चा दर्शन उसका संशयवादी निषेध है।

इमैनुएल काट ने पूर्ववर्ती दर्शन में समान रूप से गलत मात्र दो प्रवृत्तियों को देखा: जड़सूत्रवादी अधिभूतवाद तथा इसका निरर्थक निषेध – संशयवाद। इसी तरह, दर्शन के इतिहास के बारे में फिख्ते और शेलिंग के विचार भी मूलतः निषेधात्मक थे। यह सही है कि उनके जीवन-काल में दर्शन के इतिहास पर पाठ्यपुस्तकें प्रकाशित हुई थी, लेकिन उनके लेखक प्रख्यात दार्शनिक नहीं थे। अतः हेगेल विज्ञान के रूप में दर्शन के इतिहास का अध्ययन करनेवाले पहले व्यक्ति थे, परतु उन्होंने उसे अधिभूतवादी अर्थ प्रदान किया। हेगेल के अनुसार, दर्शन का इतिहास विकास का एक प्रामाणिक रूप है और इसका सिद्धात उनके दर्शन की महत्वपूर्ण अतर्वस्तु बनाता है। इसका अर्थ यह है कि हेगेल ने मात्र दर्शन के इतिहास का अध्ययन ही नहीं किया, उन्होंने विभिन्न दर्शनों के इतिहास की व्याख्या दार्शनिक विकास की नियमित प्रक्रिया के रूप में की, जिसकी विभिन्न अवस्थाए और रूप आवश्यक रूप से एक दूसरे से जुड़े हुए हैं।

हेगेल ने विकास के जिस सिद्धात को दर्शन के विगत के अध्ययन पर लागू किया, उसका आधार ज्ञानमीमासा की दृष्टि से सत्य की द्वद्वात्मक व्याख्या में निहित है। एगेल्स के अनुसार, "हेगेल के विवेचन

में सत्य जिसका सज्ञान ही दर्शन का मुख्य विषय है ऐसे बने-बनाये जडसूत्रों का सकलन न था, जिन्हें एक बार उनकी खोज हो जाने पर बस रट लेना काफी था। सत्य अब सज्ञान की ही प्रक्रिया में विज्ञान के लंबे ऐतिहासिक विकासक्रम में निहित था जो ज्ञान के निम्नतर स्तरों से निरंतर ऊपर उठता जाता है" (3,3,339)।

दर्शन के विगत के प्रति यह मौलिक रूप से परिवर्तित रुख एक ऐसा आलोचनात्मक दृष्टिकोण है जो उसके बारे में न तो हर चीज की प्रशंसा करता है न ही हर चीज को अस्वीकार करता है। यह विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों को दर्शन के इतिहास का अध्ययन करने के अलग-थलग और स्वतंत्र प्रयासों के रूप में नहीं बल्कि अतर्विरोधी विकास के क्रम में आतरिक रूप से एक दूसरे से जुडी कड़ियों के रूप में मानता है एक ऐसा विकास, जो जैव जीवन के विकास की भांति संघर्षहीन, शात प्रक्रिया नहीं, बल्कि स्वयं अपने खिलाफ कठिन ...चाहा कार्य है' (63,1,152)।

हेगेल की दृष्टि से, दर्शन शब्द के सही अर्थ में विज्ञान ... सकता है और उसे निश्चय होना चाहिए। विज्ञान का इतिहास ...कास के नैरतर्य यानी प्रगति की पूर्वकल्पना करता है। यह चीज ...र्शन के इतिहास के बारे में भी सही है। दार्शनिक विकास की द्वद्वात्मक अवधारणा का निर्माण करते हुए हेगेल नैरतर्य का वर्णन ज्ञान के मात्र सचय के रूप में नहीं बल्कि एक ऐसी अतर्विरोधी प्रक्रिया के रूप में करते हैं जो निषेध तथा निषेध के निषेध से अपनी गति प्राप्त करती है। नैरतर्य का अर्थ विगत के साथ सहमति वर्तमान में विगत की स्वीकृति नहीं है। हेगेल परम्परा की अवधारणा की पुनर्व्याख्या करते हैं और कहते हैं कि यह "मात्र वह गृहिणी नहीं है, जो अपनी ...रोहर की ठीक-ठीक रक्षा करती है और इस तरह उसे भावी पीढ़ियों ...लिए सुरक्षित रखती है परपरा निश्चल मूर्ति नहीं है यह जीवन ...और शक्तिशाली धारा की भांति अपने उद्गम से जितनी ही आगे ...ढ़ती जाती है, उतनी ही व्यापक बनती जाती है" (64,13,13)। अधिभूतवादी विवेक, जो विलोमों की एकता को स्वीकार नहीं करता, विचारधारात्मक विरासत का या तो बिल्कुल अनुसरण करता है या ...उसे बिल्कुल अस्वीकार करता है। लेकिन विचारधारात्मक विरासत

दर्शन के इतिहास की प्रक्रिया को पूरा करने के लिए अतिम दर्शन की आवश्यक्ता के बारे मे हेगेल के स्पष्टत. दोषपूर्ण सिद्धात को अस्वीकार करते हुए हमे इस तथ्य को नज़रअदाज नही करना चाहिए कि हेगेल का सिद्धात वास्तव मे अपने ढग का अतिम दर्शन था। वस्तुत यही चीज़ एगेल्स के ध्यान मे थी "हेगेल के साथ दर्शन (शब्द के पुराने अर्थ मे – ले०) की समाप्ति हो जाती है एक तो इसलिए कि अपनी प्रणाली मे उन्होने उसके सपूर्ण विकास का बडे ही शानदार ढग से निचोड पेश कर दिया है और दूसरे इसलिए कि उन्होंने हमे प्रणालियो की भूलभुलैयो से बाहर निकालकर विश्व के वास्तविक सकारात्मक सज्ञान का मार्ग दिखाया है, यद्यपि ऐसा उन्होने अनजाने ही किया " (3,3,342)।

अत. दर्शन के विकास की हेगेल की व्याख्या दर्शन तथा दर्शन के इतिहास के बीच अभिन्न सबध से आगे बढती है। यह सबध उस सबध से मूलत. भिन्न होता है, जो उदाहरणार्थ, प्राकृतिक विज्ञानो के विकास मे निश्चित स्तर तथा उसके पूर्ववर्ती विकास के बीच होता है। प्राकृतिक विज्ञानो का विकास अध्ययन के नये, अज्ञात विषयो को प्रकट करता है। आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान उन समस्याओ का अध्ययन नही करते, जो १७वी या १८वी सदियो मे ध्यान का केंद्र थी। वे समस्याए सामान्यत हल की जा चुकी हैं और इसलिए अब उनमे अनुसधानकर्ताओ की कोई दिलचस्पी नही है। लेकिन दर्शन की बात और है, जहा पहले हल हो चुकी समस्याए भी आम तौर से नयी अतर्वस्तु प्राप्त कर लेती हैं और इस वजह से वे अनुसधानकर्त्ताओ के लिए दिलचस्प बन जाती है। दर्शन नये विषयो की खोज द्वारा उतना विकसित नही होता, जितना कि दर्शन के विकास की पूर्ववर्ती अवस्थाओ मे प्रस्तुत समस्याओ को पुनर्जीवित करके, समृद्ध करके उनकी आलोचनात्मक समीक्षा करके।* यही कारण है कि हेगेल ने लिखा कि "दर्शन

---

* इस सबध मे एगेल्स की ठोस ऐतिहासिक टिप्पणी का अध्ययनविधि के लिए बडा महत्व है "यूनानी दर्शन के नाना रूपो मे भ्रूण रूप मे भावी विश्व-दर्शनो की लगभग सारी किस्मे विद्यमान थी।" (8, 395)।

के इतिहास का अध्ययन स्वयं दर्शन का अध्ययन है और यह अन्यथा हो भी नहीं सकता" (64,*13*,43)।

हेगेल के लिए इस प्रश्न का कोई अस्तित्व नही है कि वस्तु कौन-सा दर्शन अध्ययनाधीन है; दूसरे शब्दो मे, दर्शन के इतिह का अध्ययन किस दार्शनिक सिद्धात पर ले जाता है। हेगेल के अनुस इस प्रश्न का उत्तर स्वत सिद्ध है, क्योंकि उनके विचार मे, इतिह मे वर्णित सिद्धातो की विविधता एक ही अगीभूत तथा उत्तरोत्तर विका मान समष्टि है। यह "अनेक अवस्थाओं और घटकों से निर्मित ए ही सघटित प्रणाली है, एक समष्टि है" (64,*13*,40)। अत हेगे यह दावा करते हैं कि उन्होंने अपनी दार्शनिक प्रणाली में इ "अवस्थाओं और घटको की बहुलता" को सश्लेषित किया है, जं परम आत्मा की अवस्थाए हैं। "हर अवस्था दर्शन की वास्तविक प्रणाल मे अपना रूप बनाये रखती है, कुछ भी नही खोता, सभी सिद्धात बने रहते हैं, क्योकि अतिम दर्शन अपने सारे पूर्ववर्तियो का परिणाम है" (64,*15*,685)।

लेकिन अगर हेगेल की प्रणाली वास्तव मे दर्शन के इतिहास के अध्ययन का परिणाम, उसका निचोड है, तो सैद्धातिक रूप से इस अध्ययन को दर्शन की निश्चित व्याख्या से आगे बढना चाहिए, जो, जैसा कि समझना कठिन नही है, कुछ हद तक भावी अध्ययन के नतीजो के ज्ञान की पूर्वापेक्षा करती है। यह स्पष्ट है कि दर्शन के सार का यह पूर्वज्ञान दर्शन के इतिहास के अध्ययन-विशेष का परिणाम नहीं है, भले ही यह अध्ययन इसकी पुष्टि क्यो न करे। अत यह प्रश्न कि हेगेल की प्रणाली दर्शन के इतिहास के उनके अध्ययन से पहले आती है या दर्शन के इतिहास का अध्ययन उनकी प्रणाली से पहले, अध्ययन के कार्यभार को अतिसरलीकृत और असभव कर देता है।

यह मानना भोलापन होगा कि हेगेल ने पहले दर्शन के इतिहास का अध्ययन किया और फिर इसका निचोड निकाला तथा इसके जरिये दर्शन की अपनी प्रणाली प्रस्तुत की। लेकिन इसका उल्टा मानना भी उतना ही भोलापन होगा कि दर्शन की अपनी प्रणाली की स्थापना करने के बाद हेगेल ने उसके प्रवर्गों के अनुक्रम को दर्शन के पूर्ववर्ती विकास पर लागू किया यानी इसकी व्याख्या अपनी प्रणाली की आवश्यक-

ताओ के अनुसार की। हेगेल की जीवनी से पता चलता है कि उन्होंने और ही ढग से काम किया, जो उनकी प्रणाली के विकास से सबधित है न कि इसके परिणामो से। हेगेल ने अपनी प्रणाली की रचना स्पिनोज़ा के सिद्धात की प्रत्ययवादी ढग से व्याख्या करते हुए तथा काट, शेलिग और खास तौर से फिख्ते पर सीधे निर्भर करते हुए की। हेगेल को अपनी प्रणाली की रचना करने मे लगभग २० साल लगे और उन्होंने दर्शन के इतिहास का बार-बार अध्ययन किया। दर्शन की अपनी प्रणाली की रचना तथा दर्शन के इतिहास का आलोचनात्मक निचोड़ पेश करना एक ही प्रक्रिया के पहलू थे। जहा तक हेगेल के 'दर्शन के इतिहास पर व्याख्यान' का सबध है, तो वे तब लिखे गये, जब प्रणाली पर कार्य पूरा हो चुका था और उसने दर्शन के इतिहास की व्याख्या के आधार का काम किया। यह व्याख्या किसी भी अन्य व्याख्या की भाति अपने पूर्ववर्ती अध्ययन से मूलत भिन्न थी, जिसके परिणाम पहले से ही नही जाने जा सकते थे।

हेगेल का द्वद्वात्मक प्रत्ययवाद दर्शन के इतिहास का एक प्रतिभाशाली सिद्धात है, लेकिन यह उसे प्रत्ययवाद के इतिहास तक सीमित करके तोडता-मरोडता है। बेशक, इसका अर्थ यह नही कि हेगेल ने भौतिकवाद की अपेक्षा की उन्होंने इसके खिलाफ सघर्ष किया। पर उन्होंने भौतिकवाद को अधिकाशत अदार्शनिक सामान्य चेतना माना। उन्होंने दर्शन (यानी प्रत्ययवादी दर्शन) की व्याख्या भौतिकवाद के निषेध के रूप मे की, यद्यपि कुछ स्थितियो मे उन्होंने भौतिकवादी दर्शन की ऐतिहासिक उपलब्धियो को स्वीकार भी किया। लेकिन अक्सर हेगेल ने भौतिकवादी सिद्धातो की व्याख्या मूलत प्रत्ययवादी रूप मे की। उदाहरणार्थ, उन्होने कहा कि थेलेज़ ने "पानी को एक अपरिमित धारणा के, विचार के सहज सत्व के रूप मे परिभाषित किया" (64,*13*,209)। हेगेल के विचार मे, मिलेटस दर्शन-प्रणाली ने सामान्य स्वतस्फूर्त भौतिकवाद से प्रत्ययवाद मे सक्रमण का प्रतिनिधित्व किया।

हेगेल का विकास का प्रत्ययवादी सिद्धात विकास के परिणाम और इसकी प्रारभिक अवस्था के द्वद्वात्मक तादात्म्य को मान लेता है। सत्ता और चितन के तादात्म्य को यानी सारे दार्शनिक विकास के

चिंतन के रूप में परम प्रत्ययवाद के आधार को इस प्रक्रिया की प्रारंभिक अवस्था में ही प्रकट किया जाना चाहिए, चाहे यह अविकसित रूप में ही क्यों न हो। पहले यूनानी दार्शनिकों के भोले-भाले विचारों में प्रकट होनेवाले मूलतत्व की अवधारणा का उल्लेख करते हुए हेगेल दावा करते हैं कि वे दार्शनिक इस "अंतर्तम सूत्र में" आगे बढ़े थे "कि चिंतन सत्ता भी है" (64,13,126)। यह मीमांसात्मक कल्पना प्राचीन भौतिकवाद को प्रत्ययवाद के रूप में पेश करने का आधार है। इस दृष्टिकोण से, सुकरात तथा प्लेटो के सिद्धांतों में संक्रमण यानी चिंतन की वास्तविक प्रत्ययवादी प्रणाली का आविर्भाव मात्र उस चीज की उपलब्धि है, जिसे पूर्ववर्ती दर्शन धारणाओं में व्यक्त नहीं कर सका। लेकिन विकास की इस स्कीम में ल्यूकिपस, डेमोक्रिटस व एपिक्यूरस नहीं शामिल किये जाते। हेगेल यह दावा करते हुए महान प्राचीन भौतिकवादियों की आलोचना करते हैं कि उनके सिद्धांत इंद्रिय-अनुभूति के स्तर से ऊपर नहीं उठते।

प्रत्ययवाद – द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद भी – भौतिकवादी दर्शन के महत्व को समझने में असमर्थ है। तो भी, हेगेल के 'दर्शन के इतिहास पर व्याख्यान' इस क्षेत्र में सर्वाधिक उल्लेखनीय कृति है और दार्शनिक विकास का उनका सिद्धांत प्रत्यक्षतः इस विकास की वैज्ञानिक, द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी व्याख्या का पूर्ववर्ती है।

हेगेल का प्रत्ययवाद उत्कट रूप में वैज्ञानिक है, फिर भी वास्तविक वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रत्ययवाद से लेशमात्र मेल नहीं खाता। यह अंतर्विरोध वास्तविक वैज्ञानिक ज्ञान के प्रति प्रत्ययवादी दर्शन के विरोध को आवश्यक बना देता है। वास्तविक वैज्ञानिक ज्ञान की व्याख्या विज्ञान के अपूर्ण रूप में की जाती है, जब कि प्रत्ययवाद का वर्णन वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रामाणिक अभिव्यक्ति के रूप में किया जाता है। इसका संबंध सबसे पहले प्राकृतिक विज्ञानों से है। हेगेल उनकी ऐतिहासिक सीमाओं – इंद्रियानुभविक अध्ययन-विधि, यांत्रिक मनोभावों तथा अधिभूतवादी चिंतन-विधि – की आलोचना करते हैं। परंतु प्राकृतिक विज्ञानों में जो मुख्य चीज हेगेल के लिए अमान्य है, वह उनका भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण है।

हेगेल की विज्ञानोपासना साथ ही प्रत्ययवादी तत्वनिरूपण के

होनेवाली मूल अवधारणाओं को उनके बाह्य रूप में, उनके विशि प्रयोगों से संबंधित हर चीज से मुक्त कर दें, अगर उन्हें हम उनके शुद्ध रूप में लें, तो हम तार्किक व्याख्या में स्वयं प्रत्यय की परिभा की विभिन्न अवस्थाएं पायेंगे। इसके विपरीत, अगर हम स्वयं तार्किक अग्रगति को लें तो हम इसमें मुख्य क्षणों में ऐतिहासिक घटनाओं अग्रगति पायेंगे. बेशक, ऐतिहासिक रूप की अन्तर्वस्तु में इन शु अवधारणाओं को पहचानने की योग्यता होनी चाहिए" *(64,13,43)*

अगर बुद्धिसंगत ढंग से लागू किया जाये, तो अध्ययन की तार्कि सैद्धांतिक और निश्चित ऐतिहासिक विधियां समान रूप से आवश्य हैं, एक दूसरे की पूरक हैं। लेकिन दर्शन के इतिहास के अध्ययन इन विधियों का वास्तविक वैज्ञानिक प्रयोग हेगेल के दर्शन के ढांचे में असंभव है। हेगेल दर्शन के इतिहास के निश्चित ऐतिहासिक अध्ययन को दार्शनिक चिंतन के प्रागनुभविक संसाधनिक दृष्टिकोण के अधीन बना देते हैं। दर्शन के इतिहास के उनके सिद्धांत तथा दर्शन के विकास के ठोस अध्ययन के बीच, जो अक्सर उनके सिद्धांत से मेल नहीं खाता, अंतर्विरोध का यही कारण है।

दर्शन के इतिहास के सिद्धांत के उस ढांचे में, जिसका आधार तार्किक सिद्धांतों और प्रवर्गों के सोपानक्रम में है, ऐसा कोई वास्तविक संघर्ष नहीं है, जो दर्शन के वास्तविक विकास के लिए लाक्षणिक है। अवैयक्तिक परम बुद्धि में विभिन्न प्रणालियों के आधार का काम करने- वाले सभी दार्शनिक सिद्धांत केवल "परम प्रत्यय" की परिभाषाओं के रूप में अस्तित्वमान होते हैं। यहां कोई इतिहास नहीं है, कुछ भी प्रकट या विलुप्त नहीं होता। मानव-इतिहास और फलतः दर्शन का इतिहास भिन्न चीज है। यहां "कालेतर" दार्शनिक सिद्धांत दर्शन की ऐतिहासिक रूप में निश्चित प्रणालियां हैं। उनमें से प्रत्येक सिद्धांत अपने काल से जुड़ा हुआ है, अपने काल की सीमाओं का भागी है और इसलिए उससे ऊपर नहीं उठ सकता।

परन्तु अगर, जैसा कि हेगेल ने दावा किया, दर्शन किसी नित्य चीज का अध्ययन करता है, तो हम इसका उस प्रस्थापना से कैसे मेल बैठा सकते हैं कि दर्शन "अपने काल से पूर्णतः अभिन्न है" *(64, 13,69)*? हेगेल इन परस्पर अपवर्जक प्रस्थापनाओं को दर्शन के

होती है, जो स्वभावत उनके पूर्ववर्तियों के पास नहीं हो सकती थी।

अपने युग के ढाचे मे प्रत्येक दार्शनिक सिद्धान की ऐतिहासिक सीमाओ पर सही ही जोर देते हुए हेगेल दर्शन के उस विकास का उल्लेख करते हैं, जो उनके सिद्धात के अनुसार अवैयक्तिक दार्शनिक (परम) प्रत्यय के क्षेत्र मे अनुपस्थित है। लेकिन वस्तुत. इसी वजह से कि वह एक वास्तविक, इद्रियानुभविक रूप से सत्यापनीय प्रक्रिया का उल्लेख करते हैं, यह सत्य अतिरजित हो जाता है, यह दावा किया जाता है कि कोई भी दर्शन "केवल उन्ही हितों को पूरा कर सकता है, जो उनके युग के अनुरूप हो" *(64,13,60)*। पर महान दार्शनिक सिद्धात अपना महत्व, प्रभाव और कुछ हद तक अपनी सामयिक यथार्थता विभिन्न युगो तक बनाये रखते हैं। बेशक, हेगेल को यह भली-भाति मालूम है, लेकिन उनकी दृष्टि मे, यह केवल दर्शन के इतिहास के प्रत्ययिक पहलू के बारे मे ही सही है तथा उसके इद्रियानुभविक पहलू से वही तक सबध रखता है, जहा तक यह उस प्रत्ययिक स्तर तक ऊचा उठता है। अत प्रत्ययिक स्तर प्रतिमान, मानक, नियोग के रूप मे प्रस्तुत है, पर चूकि यह आद्य है, इसलिए यह उस अर्थ मे नियोग नही है, जिस अर्थ मे काट या फिख्ते ने इसे समझा। ठीक-ठीक कहे, तो आत्म-विकास के इस शुद्धत तार्किक न कि ऐतिहासिक पहलू मे "प्रत्येक दार्शनिक सिद्धात का अस्तित्व था और अब भी आवश्यक रूप से है अत उनमे से एक भी विलुप्त नही हुआ, बल्कि वे सभी दर्शन मे एक समष्टि के घटको के रूप मे सुरक्षित हैं" *(64,13,50)*। दार्शनिक ज्ञान के ऐतिहासिक विकास मे शाश्वत पर जोर देने मे हेगेल सही है। परन्तु सत्य और भ्राति की ऐतिहासिक द्वद्वात्मकता मे निस्सदेह रूप से महत्वपूर्ण इस घटक को वह बढा-चढाकर परम की हद तक ले जाते है। यह सब होते हुए भी, हेगेल तार्किक पहलू को पूरी तरह ऐतिहासिक पहलू के विरोध मे खडा करने से बचने का प्रयास करते हैं, क्योकि उन्हे यह भली-भाति मालूम है कि अपनी प्रणाली के मूलभूत सिद्धातों के विपरीत यह वैषम्य सापेक्ष है। दार्शनिक सिद्धातो के ऐतिहासिक पहलू की व्याख्या न केवल ऐतिहासिक रूप से अनित्य किसी चीज के रूप मे, बल्कि ऐतिहासिक रूप से उत्पन्न किसी शाश्वत चीज के रूप मे भी करने के हेगेल के प्रयासो का यही कारण है। इस सबध

मे हेगेल दर्शन-विशेष का उसके युग से सबंध की ठोस व्याख्या पेश करते हैं। "यद्यपि कोई दर्शन अपनी अंतर्वस्तु मे अपने युग से ऊपर नही उठता, फिर भी यह अपने रूप मे उससे ऊपर होता है, क्योंकि अपने युग की तात्विक आत्मा के चिंतन व ज्ञान के रूप मे यह दर्शन उसे अपना विषय बनाता है" (64,*13*,69)। लेकिन दर्शन मे रूप और अंतर्वस्तु का यह विभेदीकरण परम प्रत्ययवाद की मौलिक प्रस्थापना से विचलन है, जिसके अनुसार दर्शन में रूप और अंतर्वस्तु चिंतन के चिंतन-रूप मे तद्रूप हैं।

इस तरह, दर्शन के इतिहास के तार्किक और ऐतिहासिक पहलुओं के बीच हेगेल का अंतर स्पष्टत उचित और ज्ञानमीमासीय रूप से आवश्यक है। लेकिन हेगेल ज्ञानमीमासा तथा सत्तामीमासा को गड्डमड्ड कर देते हैं और इस वजह से अक्सर अनुसधानकर्ताओ द्वारा उनके दर्शन के परस्पर-विरोधी मूल्याकन पेश किये जाते हैं। उदाहरण के लिए, दर्शन के इतिहास पर हेगेल के विचारो के अनुसधानकर्ता सामान्यत निम्नलिखित अत्यत महत्वपूर्ण प्रस्थापना को उद्धृत करते हैं "नवीनतम दार्शनिक सिद्धात सभी पूर्ववर्ती दार्शनिक सिद्धातो का परिणाम है, इसलिए इसमे सभी दार्शनिक सिद्धात निहित होने चाहिए, इसलिए जब यह दार्शनिक सिद्धात बन जाता है, तो यह सबसे विकसित, सबसे समृद्ध और सबसे ठोस होता है" (64,*6*,21)। हेगेल की इस प्रस्थापना को उद्धृत करते हुए उनके अनुसधानकर्ता इस चीज़ के बारे मे सामान्यत नहीं सोचते कि वह किस हद तक दर्शन के वास्तविक इतिहास पर उनके विचार का वर्णन करती है। चूकि इस उद्धरण का इशारा नवीनतम दार्शनिक सिद्धात की ओर है, इसलिए यह स्वत स्पष्ट लगता है कि यह दर्शन के इतिहास पर लागू होता है। लेकिन यह दावा कि प्रत्येक अगला दर्शन अपने पूर्ववर्ती से हमेशा उच्चतर होता है, केवल परम की परिभाषाओं की तार्किक व्यवस्था से मेल खाता है, जो "परम आत्मा" के रूप मे अपनी तार्किक परिभाषाओं को समय मे यानी ऐतिहासिक रूप से विकसित करता है।

हेगेलीय दर्शन के सुप्रसिद्ध फ्रासीसी अनुसधानकर्ता जा हिप्पोलित इस तथा अन्य ऐसे वक्तव्यो का उल्लेख करते है तथा हेगेल की इस

बात के लिए निंदा करता है कि वह यह मानते हुए कि दार्शनिक सिद्धांतों का पूर्ण अतिक्रमण हो जाता है, उनकी प्रतिष्ठा घटाते हैं। "हेगेल के दर्शन के इतिहास का दोष, जो दार्शनिक सिद्धांतों को तार्किक और कालक्रमिक क्रम से प्रस्तुत करने का दावा करता है, यह है कि वह प्रत्येक अनुवर्ती दर्शन को उसके पूर्ववर्ती दर्शन के सिद्धांत को सम्मिलित करनेवाले तथा उसका अतिक्रमण करनेवाले एक श्रेष्ठ दर्शन में बदल देता है" (69,82)। हेगेल के उपर्युक्त उद्धरण की रोशनी में दर्शन के इतिहास की उनकी अवधारणा का यह मूल्यांकन विश्वसनीय प्रतीत होता है। लेकिन यह स्पष्टतः दर्शन के इतिहास के तार्किक और ऐतिहासिक (या टिप्योलिन के अनुसार, तार्किक और कालक्रमिक) पहलुओं के वैषम्य को कम महत्व देता है, जिसपर हेगेल इतना जोर देते हैं। इस बीच में, हेगेल के 'दर्शन के इतिहास पर व्याख्यान' से स्पष्ट है कि वह दर्शन के इतिहास के ठोस अध्ययन में अपने सिद्धांत का अनुसरण नहीं करते। मिसाल के लिए, वह स्टोइक दर्शन, एपिक्यूरसवाद अथवा संशयवाद को प्राचीन दर्शन के शिखर के रूप में नहीं मानते हालांकि वे उसके विकास की नवीनतम अवस्थाएं थे। यहां तक कि वह एपिक्यूरस का उल्लेख एक ऐसे चिंतक के रूप में करते हैं, जो इंद्रियगत अवधारणाओं से ऊपर नहीं उठ सका। वह संशयवाद की ओर भी वैसा ही अवज्ञापूर्ण रुख अपनाते हैं और स्टोइक दर्शन का वर्णन तो एक पतनोन्मुख परिघटना, दर्शन के संकट के रूप में करते हैं।

हेगेल मध्य युग के दर्शन को ऐसे दर्शन के रूप में नहीं मानते, जिसका स्तर अपने पूर्ववर्ती दर्शनों से ऊंचा हो। उनके विचार में, उत्तरकालीन पांडित्यवाद ने अपनी विशिष्ट दार्शनिक अन्तर्वस्तु खो दी और धर्मशास्त्र ने दर्शन का स्थान ले लिया।

नव-युग के दर्शन के अपने विश्लेषण में हेगेल नवीनतम दर्शन को सभी पूर्ववर्ती दर्शनों के संश्लेषण के रूप में प्रस्तुत करने से तो और भी अधिक दूर हैं। १७वीं सदी की अधिभूतवादी प्रणालियों की उच्च प्रशंसा करते हुए वह १८वीं सदी के दार्शनिकों, विशेष रूप से बुर्जुआ प्रबोधकों की आलोचना ऐसे चिंतकों के रूप में करते हैं, जो कम से कम अपने सिद्धांतों की ठोस अन्तर्वस्तु में अपने सभी पूर्ववर्तियों से उन्नीस पड़ते

थे। कहने की आवश्यकता नही कि हेगेल बर्कले और ह्यूम को देकार्त, लीबनिज या स्पिनोज़ा के सिद्धातो की तुलना मे दर्शन की उच्चतर अवस्था के प्रतिनिधि नही मानते।

यदि हम अब 'दर्शन के इतिहास पर व्याख्यान' से, जो दार्शनिक ज्ञान के ऐतिहासिक विकास का पता लगाता है, हेगेल के 'तर्कशास्त्र' की ओर मुडे, जिसके प्रवर्गों का सोपानक्रम निम्नतर से उच्चतर की ओर ले जाता है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि तब हेगेल का आशय दर्शन के इतिहास के किस पहलू से है, जब वह कहते है कि प्रत्येक अनुवर्ती दर्शन अधिक विकसित, समृद्ध व अधिक ठोस होता है (बेशक, हेगेल का तर्कशास्त्र विशिष्ट दर्शन से नही, बल्कि इसकी मौलिक प्रस्थापना, सिद्धात और प्रवर्गो से सबध रखता है)।

यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि सामान्यत दर्शन के विकास की हेगेल की अवधारणा उस अतिसरलीकृत व्याख्या से अधिक समृद्ध है, जिसके अनुसार प्रत्येक नयी परिघटना अपनी पूर्ववर्ती अवस्था से विकास की उच्च अवस्था को प्रकट करती है। विदित है कि हेगेल ने अमूर्त और मूर्त निषेध के बीच भेद करते हुए निषेध को विकास का आवश्यक तत्व माना। विकास मे अमूर्त और मूर्त दोनो ही निषेध घटित होते हैं, पर केवल मूर्त निषेध ही निम्नतर से उच्चतर अवस्था में सक्रमण को प्रकट करता है। निम्नतर से उच्चतर और अपूर्ण से पूर्ण मे प्रत्यक्ष सक्रमण की अतिसरलीकृत समझ के विपरीत हेगेल विकास का वर्णन एक ऐसी सर्पिल प्रक्रिया के रूप मे करते है, जिसमे विगत अवस्थाए एक नये आधार पर पुनर्जीवित होती है।

इस तरह, दर्शन के विकास की हेगेलीय व्याख्या मे तार्किक और ऐतिहासिक के बीच विभेदीकरण हेगेल की प्रत्ययवादी भ्रातियो की आलोचना करने के लिए भी तथा उनके मेधावी द्वद्वात्मक चिंतन को स्पष्ट करने के लिए भी आवश्यक है। इसी दृष्टिकोण से हमें दर्शन के विकास की प्रेरक शक्तियो और उसकी अतर्वस्तु के ऐतिहासिक स्रोतो की हेगेलीय अवधारणा पर विचार करना चाहिए। अगर तार्किक को न केवल सज्ञान करनेवाले विषयी के विशिष्ट गुण के रूप मे, बल्कि तात्विक के रूप मे भी स्वीकार किया जाये, तो इस तरह उसे

causa sui * के रूप में आत्म-निर्धारक के रूप में स्वीकार किया जाता है। हेगेल की यह मूल धारणा दर्शन से प्रत्यक्षतः जुड़ी हुई है और दर्शन के विकास की कल्पना एक तार्किक प्रक्रिया के रूप में की जाती है। 'दर्शन का सम्पूर्ण इतिहास मूलत: आत्मिक रूप से आवश्यक अनुक्रमिक प्रगति है, जो स्वत: में बुद्धिसंगत है और अपने विचार से a priori ** निर्धारित होती है। दर्शन के इतिहास को इसे अपने उदाहरण से सिद्ध करना चाहिए' (64,*13*,50)। इस तार्किक प्रक्रिया का उद्देश्य, जो इसके प्रारम्भ में ही निहित होता है, इसकी आन्तरिक प्रेरक शक्ति है, इसके कारण इसका परिणाम प्रारम्भ में ही पूर्वनिर्धारित होता है। दर्शन के ऐतिहासिक रूप में सीमित रूप तथा इसकी अपरिमित अन्तर्वस्तु के बीच अन्तर्विरोध दार्शनिक ज्ञान के विकास का प्रत्यक्ष प्रेरक कारण है। हेगेल के अनुसार, परिमित अब भी सत्य नहीं है, जिसकी वजह से "आन्तरिक प्रत्यय इन परिमित रूपों को नष्ट कर देता है" (64,*13*,50) यानी यह दर्शन की एक प्रणाली से दूसरी में संक्रमण को एक आवश्यकता बना देता है। चूंकि दर्शन के इतिहास को "परम प्रत्यय" की परिभाषाओं का एक तार्किक सत्तामीमांसीय अनुक्रम माना जाता है, इसलिए यह "परम प्रत्यय" द्वारा भी निर्धारित होता है और वस्तुत इसी वजह से यह उद्देश्यवादी स्वरूप का है। संसार में जो कुछ भी घटता है, वह अन्तिम विश्लेषण में बुद्धिसंगत है। हेगेल की दृष्टि में, यह महान पूर्वाधार, "जो एकमात्र ऐसी चीज है, जो दर्शन के इतिहास को इतनी दिलचस्प बनाती है, केवल एक भिन्न रूप में दैव में विश्वास के अलावा और कुछ नहीं है" (64,*13*,49)।

ये सभी परिभाषाएं दर्शन के इतिहास के उस पहलू से प्रत्यक्ष संबंध रखती हैं, जिसे हेगेल तात्विक के रूप में वर्णित करते हैं। लेकिन तात्विक पहलू का अस्तित्व दर्शन के "इंद्रियानुभविक" विकास के बाहर नहीं होता, क्योंकि यह उसका सारतत्व बनाता है। हेगेल की सुविदित परिभाषा के अनुसार, ऐतिहासिक रूप से विकासमान द्रव्य सत्ता के रूप में

---

* स्वकारण। – अनु०

** अनुभव-निरपेक्ष। – अनु०

स्पष्टत हेगेल एक ही सार्विक परम आत्मा की अवधारणा मे उ
बढ़ते हैं जिसकी एक निश्चित अवस्था काल की आत्मा के रूप
प्रकट होती है और इसकी विविधता धर्म, कला, राजकीय व्यव
में तथा अत्यंत पर्याप्त रूप में दर्शन में प्रकट होती है। दर्शन
सामाजिक जीवन के सभी अन्य रूपों के बीच सबंध सहसबंध, समान
सगतता का और प्रकटत अन्योन्यक्रिया तथा अन्तर्व्याप्ति का भी
है। हेगेल की प्रत्ययवादी प्रणाली का मूल अभ्युपगम सामाजिक
व सामाजिक सत्ता की अन्तर्वस्तु के बीच अंतर को अस्वीकार
है क्योंकि अंतिम विश्लेषण में दोनों ही चिंतन के चिंतन, |
तत्व, सत्ता और चिंतन के तादात्म्य में परिणत हो जाती हैं।

यह सही है कि हेगेल विधि के दर्शन में राज्य तथा नागरिक स
निजी हितों, सर्वोपरि आर्थिक हितों के क्षेत्र – के बीच मूलभूत |
करते है। परन्तु यह विभाजन दर्शन के विकास के उनके विश
नहीं प्रकट होता। वर्ग समाज की वास्तविक सरचना इद्रिय
के मीमासात्मक उन्मूलन में विलयमान हो जाती है। यह स
की ठोस ऐतिहासिक अन्तर्वस्तु और उसकी सामाजिक भूमिका के
को पहले ही प्रकट सही (पर बेशक प्रत्ययवादी नही) मार्क्स से
है। अंतिम निष्कर्ष – परम प्रत्ययवाद प्रत्येक ऐतिहासिक
व सामाजिक जीवन में दर्शन की स्थिति का विश्लेषण करते स
आगे बढ़ने का साहस नहीं करता – का सार यह स्वीकृति है
तथा सामाजिक परिघटनाओं के सभी अन्य रूप एक समष्टि में
है और कि उस समष्टि के आतरिक सघटक आवश्यक म
है। अत दर्शन का एक निश्चित प्रकार लोगों के एक निश्
विशेष बीच सह अस्तित्वमान होता है उनकी राज्य प्रणालिय
उनके सामाजिक जीवन से सबद्ध है'(64,13,65)। से
... इस सबंध का निर्धारण करती है या मात्र कार
... नहीं है? हेगेलीय दर्शन इस प्रश्न का उत्तर अ
... परम आत्मा की अनन्यता। इसका अर्थ य
... है परम आत्मा ... परम आत्म

कार्ल मार्क्स के अनुसार हेगेल विश्व-इतिहास को दर्श
में बदल देते हैं। वह समाज के ठोस ऐतिहासिक (आर्थिक
विचारधारात्मक, टेक्नोलाजिकल, आदि) विकास को
आत्म-चेतना के विकास से गड्डमड्ड कर देते हैं तथा अ
प्रामाणिक रूप को दर्शन घोषित किया जाता है। यह
चेतना में प्रगति के रूप में विश्व इतिहास की व्याख्या
तरह मेल खाता है। मानव इतिहास की विविधता को द
के विकास में परिणत कर दिया जाता है। हेगेल
"विश्व-इतिहास दिव्य, अपने सर्वोच्च रूपों में आत्मा की
की अभिव्यक्ति है यह उस अधिक्रम की अभिव्यक्ति
जरिये वह अपने सत्य को साकार करती है और आत्म-चेतन
है विश्व-इतिहास केवल यह दिखाता है कि कैसे आ
चेतना और सत्य के लिए प्रयास धीरे-धीरे जाग्रत होते है
चेतना की टिमटिमाहट होती है फिर उसे मुख्य बातें स
है और अंत में वह पूर्णत सचेत बन जाती है"

ऐसी एकांगी व्याख्या विश्व इतिहास की अंतर्वस्तु
को नष्ट करती तथा तोड़ती-मरोड़ती है। प्रत्ययवाद ने
इतिहास को सर्वोपरि बौद्धिक विकास के इतिहास के रू
के साथ बुद्धि के, बुराई के साथ अच्छाई के संघर्ष के रूप
है। हालांकि समाज के इतिहास के वस्तुगत तर्क के बारे
सिद्धांत कुछ हद तक इतिहास की प्रत्ययवादी व्याख्या के
को दूर करता है फिर भी वह निस्संदेह इस दार्शनि
धारणा के उत्तराधिकारी है। तो भी दर्शन की अलग-अ
के अपने विश्लेषण में हेगेल बहुधा निश्चित ऐतिहासिक यु
लक्षणों के साथ उनके संबंध को विश्वसनीय ढंग से दि
हरणार्थ, वह फ्रांसीसी बुर्जुआ प्रबोध की ऐतिहासिक आ
औचित्य को प्रकट करते हैं। हेगेल के अनुसार उसक
विरोध और अनीश्वरवाद भी कालातीत सामंती व्यवस्था
मुख्याधार कैथोलिक धर्म के खिलाफ संघर्ष की अभिव्यक्ति
दृष्टि में १७८९ की क्रांति उस बौद्धिक आंदोलन में

के प्रति अपने सुविदित विद्वेष के बावजूद इनके युग उन्माद से उल्लेख करते है।

हेगेल का 'तर्कशास्त्र' दार्शनिक प्रणालियों के बीच सिर्फ तार्किक सबधो को मानते हुए दर्शन तथा इससे स्वतत्र सामाजिक परिस्थितियो के बीच ऐतिहासिक सबधो को, जिन्हे हेगेल अकित करते है, हर्गिज नही स्वीकार करता। फिर भी, हेगेल के लिए दार्शनिक सिद्धातो का समाजवैज्ञानिक मूल्याकन आवश्यक है, क्योकि अपनी मौलिक अवधारणा के अनुसार वह केवल तत्वनिरूपण करने वाली परम आत्मा की तार्किक आत्म-गति को ही नही, बल्कि इतिहास मे दर्शन के विकास को भी स्वीकार करते है। बेशक, दर्शन का विकास आवश्यक है, क्योकि परम मात्र आत्म-अनुध्यान से सतुष्ट नही हो सकता। और "जितनी ही आत्मा स्वय मे लीन होती है, उतनी ही विषमता गहरी बनती जाती है, उतनी ही बाहर को निर्दिष्ट समृद्धि व्यापक होती जाती है; हमे गहराई को उसे आवश्यक ललक के मापदड से नापना चाहिए, जिससे आत्मा अपने को पाने के लिए अपनी खोज बाहर को निर्देशित करती है (64, *15*,684)। इस प्रकार, अपनी सर्वबुद्धिवादी प्रणाली के सिद्धातो को बदले बिना ही हेगेल तार्किक और ऐतिहासिक को आतरिक और बाह्य के रूप मे मिला देते है। ये विषमताए द्वद्वात्मक है, जिसकी वजह से बाह्य आतरिक बन जाता है, जब कि उनकी एकता विश्व-इतिहास तथा इसके सारतत्व के रूप मे विकासमान दार्शनिक आत्मा बन जाती है। स्वभावत तार्किक को प्रधानता दी जाती है, इद्रियानुभविक को एक ऐसे साधन मे परिणत कर दिया जाता है, जिसके द्वारा आत्मा अपनी अतर्वस्तु के प्रति सचेत बन जाती है।

सामाजिक जीवन के विभिन्न और प्राय दर्शन से असबद्ध पहलुओ के अपने विश्लेषण मे हेगेल बेशक दर्शन तथा गैर-दार्शनिक अध्ययनो और सामाजिक चेतना के दूसरे रूपो – धर्म, कला, नैतिकता – के बीच मूल सबध की उपेक्षा नही कर सकते। नव-युग के दर्शन का वर्णन करते हुए वह स्पष्टत लिखते है "प्रायोगिक विज्ञानो के स्वतत्र विकास के बिना दर्शन प्राचीन दार्शनिको के स्तर से ऊपर नही उठ सकता था" (64,*15*,283)। लेकिन यह स्वीकृति प्रणाली के ढाचे मे ठीक-ठीक नही बैठती और अत दार्शनिक विकास की प्रेरक शक्तियो के बारे

ध्यान देने की बात यह है कि दर्शन और धर्मशास्त्र के विषयो
के तादात्म्य को सिद्ध करने के हेगेल के तर्क अधिकांशतया गौण है
इससे भी बढ़कर, वह सिद्ध करते है कि दर्शन धर्म से स्वतंत्र है
हेगेल के विचार मे, धर्म यह दावा नही कर सकता कि उसका वि
दर्शन के विषय से उच्च स्थान पर है। दर्शन ज्ञान के सोपानक्रम
सर्वोच्च सोपान पर है, क्योंकि उसका सर्वोच्च विषय दिव्य है। दर्श
धर्म से उच्च है, क्योंकि जो चीज धर्म मे कल्पना व भावना (औ
हेगेल उनके संज्ञानात्मक मूल्य को महत्वहीन समझते है) का विष
है, वह दर्शन मे धारणात्मक ज्ञान का विषय है। अतः आश्चर्य नही
कि हेगेल के जीवन-काल मे धर्मशास्त्रियो ने उनके तर्क-वितर्को को
दर्शन की धृष्टता तथा धर्मशास्त्र के परमाधिकारो को हथियाने के
प्रयास के रूप मे देखा।

हेगेल ने दर्शन के इतिहास का सिद्धांत निरूपित करके उसे एक
विज्ञान के रूप मे दर्शन के इतिहास का आधार बनाया है। यह मूल
द्वंद्वात्मक सिद्धांत दार्शनिक ज्ञान के विकास का सिद्धांत है, जो आगे
चलकर दर्शन के विश्व-इतिहास के हेगेल के ठोस और सुव्यवस्थित
अध्ययन के आधार का काम करता है। वह दर्शन के विकास की व्याख्या
प्रकृति तथा समाज मे विकास के रूपों से मूलतः भिन्न विकास के एक
विशिष्ट रूप मे करते है। परस्पर विरोधी सिद्धांतो का अस्तित्व एक
[illegible] दर्शन के विकास की मुख्य विशिष्टता है। हेगेल के अनुसार
[illegible] उनकी अंतर्वस्तु के परस्पर संबंध अथवा एक सिद्धांत से
दूसरे मे अंतर्वर्ती संक्रमण का [illegible] नही ठहराता। दर्शन के इतिहास
की [illegible] की अवधारणा तथा ऐतिहासिक विकास
की द्वंद्वात्मक समझ हेगेल के दर्शन के इतिहास की महानतम उपलब्धि है।

[illegible] दर्शन की सभी उपलब्धियों को विकसित
[illegible] है। विकास की [illegible] व्याख्या [illegible] को [illegible]
[illegible] है [illegible] प्रणाली के [illegible] करती है [illegible]
[illegible] करती है और
[illegible] दर्शन के इतिहास की [illegible] व्याख्या [illegible]
[illegible] है। हेगेल की [illegible] प्रणाली [illegible]

दार्शनिक समस्या के वैज्ञानिक समाधान का उत्कृष्ट पूर्वानुमान है।

क्लासिकीय दार्शनिकों के विपरीत दर्शन के इतिहास के आधुनिक बुर्जुआ सिद्धांतकार यह साबित करने की कोशिश करते हैं कि कला (और बेशक धर्म) की भांति दर्शन अपनी प्रकृति के अनुसार विज्ञान नहीं हो सकता और नहीं होना चाहिए और कि वैज्ञानिक दर्शन के निर्माण की कोई भी कोशिश मानव-अस्तित्व के इस मूलतः अवैज्ञानिक "आत्मिक पद्धति" के अनूठे अर्थ और महत्व की उपेक्षा है। स्विस दार्शनिक आंद्रे मेर्स्ये ने १५वीं विश्व दर्शन कांग्रेस में कहा, "दर्शन विज्ञान नहीं है विज्ञान न तो कोई दर्शन, न ही सामान्यतः दर्शन है" (87,25)। मेर्स्ये जैसे सिद्धांतकार वैज्ञानिक दर्शन की संभावना को अस्वीकार करते हैं, दार्शनिक सिद्धांतों की विविधता को दार्शनिक चिंतन की परम स्वतंत्रता की प्रामाणिक अभिव्यक्ति मानते हैं और पूर्व-मार्क्सवादी क्लासिकीय दार्शनिकों की आलोचना उनपर यह आरोप लगाते हुए करते हैं कि दर्शन के एक विज्ञान की स्थापना करने के उनके प्रयास आशावादी चिंतकों की अव्यावहारिक कल्पनाजन्य भ्रांतियां थे, जिन्हें इतिहास का कटु अनुभव नहीं था। ऐसा है "प्रमाण" उस दृष्टिकोण का, जो दार्शनिक ज्ञान की प्रगति से संबंधित विज्ञान के रूप में दर्शन के इतिहास को नकारता है और वैज्ञानिक विश्व-दर्शन की संभावना से ही इन्कार करता है।

इस निषेधात्मक प्रवृत्ति ने बहुत-से फ्रांसीसी, इतालवी और पश्चिम जर्मन दार्शनिकों द्वारा दर्शन के इतिहास के अध्ययनों में अपनी धारणात्मक अभिव्यक्ति पायी, जो अपनी इस प्रवृत्ति को "दर्शन के इतिहास का दर्शन" कहते हैं। मार्शियल गेरू को इस प्रवृत्ति का नेता माना जाता है, जो देकार्त, स्पिनोज़ा, फ़िख्ते, मालब्रांश, माइमोन तथा दर्शन के इतिहास की अध्ययन विधि पर अनेक निबन्धों के लेखक हैं। गेरू के समर्थकों और अनुयायियों में हेनरी गुइए, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] सोंग्ग्रम्पी और वी॰ मान्तवमोइन शामिल हैं।

[illegible] "दर्शन के इतिहास का दर्शन" नाम से [illegible] [illegible] [illegible] कोई [illegible] नहीं है। इस नाम के [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] दर्शन के इतिहास [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

इतिहास के एक दार्शनिक सिद्धात को विकसित किया। लेकिन ऊपर जिन सिद्धातकारो का उल्लेख किया गया है, वे इस तथ्य के बारे मे कोई जिक्र नही करते, क्योकि उनका सिद्धात दार्शनिक ज्ञान के विकास के हेगेलीय सिद्धात का उल्टा है। बात यह है कि हेगेल ने दर्शन के इतिहास की एकता–स्पष्टत अतर्विरोधी एकता–के सिद्धात की पुष्टि अपने युग के उस प्रधान विचार की असगति को सिद्ध करके की, जिसके अनुसार दर्शन की अनेकानेक परस्पर-निषेधक प्रणालियो के बीच मूलत कोई सबध नही है तथा वे दर्शन के विकास की एक, यद्यपि कि बहुविध प्रक्रिया के विभिन्न पहलू नही हैं। गेरू के दृष्टिकोण से, इसका अर्थ एक विज्ञान के रूप मे दर्शन के इतिहास की सभावना को ही नकारना होगा। वह दावा करते है कि हेगेल के दर्शन का इतिहास "उसी तथ्य का उन्मूलन कर देता है, जिसे वह सिद्ध करने का दावा करता है" (60,59)।

ब्रुन्नेर के अनुसार, हेगेल का दर्शन का इतिहास "दार्शनिक विविधता की समस्या का निरकुश हल है" (40,193), क्योकि हेगेल दार्शनिक सिद्धातो की स्वायत्तता से इन्कार करते हैं और दर्शन के इतिहास को दर्शनो की वास्तविक विविधता के उत्तरोत्तर उन्मूलन की द्वद्वात्मक प्रक्रिया के रूप मे चित्रित करते हैं। गोल्दश्मीद्त हेगेल पर "दर्शन के इतिहास की साम्राज्यवादी व्याख्या" (57a,40) का आरोप लगाते हैं, क्योकि वह दार्शनिक प्रणालियो की निर्विवाद स्वतत्रता का अतिक्रमण करते हैं और दर्शन की प्रत्येक प्रणाली का ऐतिहासिक रूप से निश्चित युग की आत्म-चेतना के रूप मे वर्णन करते हुए उन्हें दार्शनिक ज्ञान के ऐतिहासिक विकास के अधीन करते हैं। आधुनिक 'दर्शन के इतिहास के दर्शन" के प्रवक्ताओ के लिए, जैसा कि हम देखते हैं, दार्शनिक सिद्धातो के प्रति ऐतिहासिक दृष्टिकोण पूर्णत अमान्य है।

लोम्बार्दी के अनुसार (देखिये 79), हेगेल ने न केवल प्लेटो के सत्य को, बल्कि अरस्तू के सत्य को भी अर्थ प्रदान करने की कोशिश की, जिसके फलस्वरूप वह सभी चिंतको को मानव-ज्ञान के मदिर मे भ्रातियो की गैलरी मे योगदानकर्ताओ के रूप मे प्रस्तुत करते हैं। परतु इस सूरत में यह बिल्कुल साफ है कि ये चितक हेगेल के प्रत्यय

साधारण परिणाम के रूप मे दर्शन (और सामान्यत सामाजिक चेतना के किसी भी रूप) के बारे मे इस दृष्टिकोण के मुकाबले मे, जो मार्क्सवाद पर गलत ढग से आरोपित किया जाता तथा उससे पूर्णत असबद्ध है, सभी गैर-दार्शनिक चीजो से दर्शन की स्वतत्रता के प्रत्ययवादी सिद्वात को रखता है, जो इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या को अस्वीकार करता है। उदाहरण के लिए, ब्रुन्नेर इन निष्कर्षो पर पहुचते हैं, जब वह लिखते है "यदि हेगेल अपनी प्रणाली के घटको के रूप मे दर्शनों का पुनर्नामकरण करते हुए उनकी स्वायत्तता को नष्ट करते हैं, तो मार्क्स और भी आगे जाते हैं वह स्वय दर्शन को दर्शन के रूप मे उसकी स्वाभाविक स्वायत्तता से वचित करते हुए नष्ट कर देते हैं। दर्शन, जो कभी सर्वोत्तम विद्या हुआ करता था, मानव के सामाजिक जीवन की अनुघटना मे परिवर्तित हो जाता है" (40,194)। "दर्शन के इतिहास के दर्शन" के अन्य अनुयायियो की भाति ब्रुन्नेर अब भी सुदूर विगत के प्रवर्गों मे सोचते है। वह दर्शन को एक महाविज्ञान के रूप में मानते हैं, जिसे "निम्नतर" वैज्ञानिक ज्ञान की उपेक्षा करने का हर अधिकार है। स्पष्टत मार्क्सवाद दर्शन की इस व्याख्या को दृढतापूर्वक ठुकरा देता है, जो दार्शनिक ज्ञान के कारगर विकास मे एक बाधा बन गयी है।

उल्लेखनीय है कि दर्शन की स्वायत्तता के सिद्धात को प्रत्ययवाद भी अस्वीकार करता है, अगर यह आत्मिक जीवन के अन्य रूपो (विज्ञान, कला) से दर्शन के सबध और धर्म पर अपनी निर्भरता को स्वीकार करता है। अत यह आश्चर्य की बात नही है कि बेल्जियन प्रत्ययवादी दार्शनिक अल्फोन्स दे वाल्लान्स अपने लेख 'दर्शन और गैर-दर्शन' मे दर्शन की परिभाषा "गैर-दार्शनिक अनुभव पर चिंतन" के रूप मे करते हैं तथा "दर्शन और गैर-दर्शन के बीच अटूट सबध" पर जोर देते हैं (96,6,12)। लेकिन इसमे वाल्लान्स दर्शन की एक ऐसी नव-थॉमसवादी अवधारणा पेश करते है, जो इसे धर्म से प्रत्यक्षत जोड देती है।

अत, "दर्शन के इतिहास के दर्शन" की सैद्धातिक धारणाए दर्शन के इतिहास की एकता, वैज्ञानिक दर्शन की सभावना तथा दर्शन के विकास को अस्वीकार करती हैं। इसके एक अनुयायी के अनुसार,
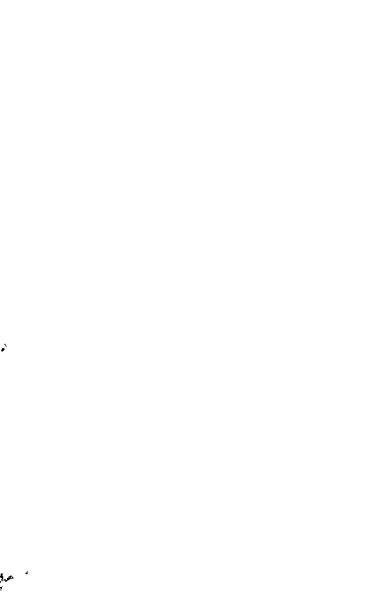
उपलब्धियो के निरतर अवमूल्यन के रूप मे देखता है। उदाहरण के लिए, हेनरी गुइए घोषणा करते है कि "एकमात्र निर्विवाद तथ्य यह है कि आज का विज्ञान कल के विज्ञान की अवमानना करता है, जब कि आज का दर्शन कल के दर्शन की अवमानना नही करता (59,111)। बेर्गसनियन जिल्वेर्त मेर के अनुसार, दर्शन कभी भी कालातीत नही होता। "अरस्तू और देकार्त के भौतिकविज्ञान मर चुके हैं लेकिन उनके दर्शन फल-फूल रहे हैं" (81,19)। मेर "दर्शन के इतिहास के दर्शन" के समर्थक नही है। पर उनके विचार उस सप्रदाय के विचारो से काफी मिलते-जुलते हैं। "दर्शन के इतिहास का दर्शन" ऐसे बहुत-से बुर्जुआ दार्शनिको के विचारो को व्यक्त करता है, जिनका उसके समर्थको के अपेक्षाकृत छोटे हलके से कोई सबध नही है।

स्पष्टत ऐसे तर्क विज्ञान के वास्तविक इतिहास का खडन करते हैं। न्यूटन की यात्रिकी की अवमानना नही की जाती, न ही प्राकृतिक विज्ञानो की अन्य वास्तविक उपलब्धियो की। यह दूसरी बात है कि विगत की वैज्ञानिक उपलब्धियो की जगह नयी उपलब्धियो ने ले ली है। इस *तथ्य का मिथ्या निरूपण करते हुए और इस बात पर एकतरफा* जोर देते हुए कि विगत मे प्रस्तुत अनेक दार्शनिक प्रश्न अब भी अपना *सामयिक महत्व बनाये हुए हैं*, "*दर्शन के इतिहास के दर्शन*" *के समर्थक* दर्शन तथा विज्ञानो के बीच एक अभेद्य दीवार खडी करते है। मिसाल के लिए, पश्चिम जर्मनी के हेनरी रोमबाख, जो इस सप्रदाय से सबध रखते हैं, यहा तक दावा करते हैं कि "दर्शन एक कालसापेक्ष परिघटना नही है वह काल के ढाचे मे नही विकसित होता, वह स्वय ही सभी आत्मिक घटनाओ के लिए बाह्य ढाचे की रचना करता है" (93,13)। इस तरह, "दर्शन के इतिहास का दर्शन" दर्शन का धर्मशास्त्र बन जाता है।

दर्शन के इतिहास और विज्ञान के विकास के बीच मौलिक अतर को पूर्ण बनाते हुए गेरु इस प्रश्न का उत्तर देने (बेशक शुद्ध परिकल्पनात्मक तर्क के द्वारा) का प्रयास करते हैं कि क्यो विज्ञान के रूप मे *दर्शन के इतिहास की वैधता हमेशा सदेह का विषय रही है और* आज भी है? वह हमे यकीन दिलाना चाहते है कि यह इस वजह से है कि हमेशा दर्शन पर विज्ञान मे ऐसी कसौटिया लेकर लागू की गयी

ही है, जो हमेशा अपने विगत पर दृष्टिपात करता है। चूंकि प्राचीन और बाद के दर्शन दोनों ही आज भी अपना महत्व बनाये हुए है, इसलिए उनके सस्थापक वस्तुत हमारे समकालीन हैं। वर्तमान और विगत की प्रतिमुखता को, जो विज्ञान के इतिहास मे इतनी स्पष्ट है, ऐसे वर्णित किया जाता है जैसे कि दर्शन मे इसका बहुत कम महत्व हो। गेरू जोर देते हैं, "दर्शन और इसके इतिहास की अविभाज्यता इस इतिहास के तथ्य की एक आवश्यक विशेषता है" (60, 47)। लेकिन अगर दर्शन और इसका इतिहास वास्तव मे अविभाज्य हैं और एक दार्शनिक प्रणाली को दूसरी से अलग करनेवाली सहस्राब्दि का कोई महत्व नही है, तो कालसापेक्ष वास्तविक प्रक्रिया के रूप मे, मौलिक रूप से भिन्न सामाजिक परिस्थितियो मे दर्शन का इतिहास कैसे सभव हो सकता है? "दर्शन के इतिहास के दर्शन" के दृष्टिकोण से एक ऐतिहासिक युग से दूसरे मे सक्रमण का क्या महत्व है? यह इन प्रश्नो का उत्तर उत्कृष्ट दार्शनिक कृतियो की सख्या मे वृद्धि का हवाला देकर देता है। काट की दुनिया मे कोई हेगेल नही थे, लेकिन हेगेल की दुनिया मे काट थे और इस तथ्य ने हेगेल के दर्शन को अनिवार्यत प्रभावित किया। इस सबका अर्थ यह है कि सभी असाधारण दार्शनिक एक ही युग मे नही होते। इस तथ्य को "दर्शन के इतिहास का दर्शन" एक मौलिक महत्व प्रदान करता है। लेकिन अगर विशद रूप से व्याख्या की जाये, तो यह तथ्य प्रत्येक दर्शन के कालनिरपेक्ष सारतत्व के बारे मे निराधार दावे का पूरा-पूरा खडन कर देता है। इस प्रत्ययवादी सिद्धात को बचाने के अपने प्रयास मे विचाराधीन धारा के अनुयायी दावा करते हैं कि दार्शनिक कृतियो के पाठको (या अध्येताओ) के लिए उनके लेखक समकालीन होते हैं, चाहे वे किसी भी काल मे रहे हो। लेकिन यह दावा भी निराधार है।

यह समझना कठिन नही है कि विभिन्न दार्शनिक सिद्धातो, उनकी अन्तर्वस्तु और रूप के मूल मे निहित ऐतिहासिक तथ्यो का निषेध करने का अर्थ है विज्ञान के रूप मे दर्शन के इतिहास की वैधता पर उगली उठाना। दार्शनिक सिद्धातो के ऐतिहासिक मूल्यांकन से रहित दर्शन के इतिहास का अध्ययन स्वय अपने ही मूलभूत उद्देश्य से

रखता है। फिर भी गेरू के अनुसार, किसी दार्शनिक सिद्धांत की ऐतिहासिकता उसके स्थायी मूल्य को अस्वीकार करती है, किंतु बिना यह स्पष्ट किये किसी अर्थ में एक समस्या दर्शन नहीं रह जाता पर दर्शन के वास्तविक इतिहास का अध्ययन दिखाता है कि दार्शनिक सिद्धांत अपने युग के बाद भी वस्तुतः इस कारण से अपना प्रभावकारी महत्त्व बनाये रखते हैं कि वे एक ऐसे युग-विशेष की उपज होते हैं जिसने बाद के सामाजिक विकास में सहायता की।

गेरू की राय में, विज्ञान के रूप में दर्शन के इतिहास का प्रश्न वैसा ही है, जैसा कि कांट का सुप्रसिद्ध सूत्र "शुद्ध गणितशास्त्र कैसे संभव है? शुद्ध अर्थात सैद्धांतिक प्राकृतिक विज्ञान कैसे संभव है?" कांट ने, जैसा कि सुविदित है, यह मान कर शुरुआत की कि "शुद्ध" गणितशास्त्र और "शुद्ध" प्राकृतिक विज्ञानों का अस्तित्व है और फिर उनके ज्ञानमीमांसीय पूर्वाधारों की खोज की ओर आगे बढ़े। उनके उदाहरण का अनुसरण करते हुए गेरू दावा करते हैं "यह कहने का कि दर्शन का इतिहास अस्तित्वमान है, अर्थ असल में केवल यह है कि विगत के दर्शनों के अध्ययन नये अर्थ में विद्यमान रहे हैं, जिनका उद्देश्य उस काल की दार्शनिक चेतना को उसके मौलिक अर्थ में पुनरुत्पादित करना रहा है, बशर्ते यह मान लिया जाये कि अध्येतागण उनके लेखकों को समझते हैं" (60,47)। कांट ने शुद्ध गणितशास्त्र और शुद्ध प्राकृतिक विज्ञानों के अस्तित्व को अनुभूति तथा चिंतन के प्रागनुभविक रूपों के अस्तित्व की कल्पना करके सिद्ध किया। गणितशास्त्र तथा प्राकृतिक विज्ञानों के बाद के इतिहास ने इस कल्पना का पूर्णतः खंडन कर दिया। तो भी, इतिहास में दर्शन की स्वतंत्रता से संबंधित प्रत्ययवादी सिद्धांत की रक्षा करने में गेरू दर-असल कांट के प्रागनुभविक दृष्टिकोण की ग़लतियों को ही दुहराते हैं।

गेरू अपने सिद्धांत को "डायनोटमैटिक्स"* कहते हैं, जिसे वह

---

* प्राचीन यूनानी दर्शन में dianoia का अर्थ था "चिंतन", "अवधारणा", "विचार"। प्लेटो के *Timaeus* में dianoema का अर्थ है "चिंतन"। शापेनहार का Dianoiologie चिंतन-क्षमताओं का विज्ञान है। गेरू इसी अर्थ में "डायनोइमैटिक्स" का प्रयोग करते हैं।

हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में यदि दर्शन वस्तुगत वास्तविकता के अध्ययन नहीं हैं तो फिर वे क्या हैं? ब्रुन्नेर उन्हें मात्र "कला के विषय" कहते हैं (40,198)। इस प्रकार, दार्शनिक सज्ञान की विश्व के कलात्मक दर्शन से तथा दार्शनिक प्रणालियों की फीडियस, राफाएल, चाइकोव्स्की आदि की कृतियों से तुलना की जाती है। बेशक, दर्शन के प्रति इस "कलात्मक" दृष्टिकोण से यह स्पष्ट करने की आशा नहीं की जाती कि कौन-से दार्शनिक सिद्धान्त सही हैं और कौन-से गलत। लेकिन समाधान अत्यधिक महंगा है उसमें वास्तविकता की सौंदर्यात्मक अनुभूति और दर्शन के बीच मूलभूत अंतर को मानने से इन्कार करना पड़ता है। दर्शन, जैसा कि विदित है, कलाकारों का सृजन बिल्कुल नहीं है। कवि के विपरीत दार्शनिक बिंबों के रूप में नहीं, बल्कि धारणाओं के रूप में सज्ञान प्राप्त करने की कोशिश करता है। कवि अक्सर गहन दार्शनिक विचारों तक पहुंच जाते हैं, लेकिन दार्शनिक काव्यात्मक रचनाओं का सृजन नहीं करते। प्रतीत होता है कि इसी कारण से गेरु आम तौर से कलाकृतियों के साथ दर्शनों की तुलना का विरोध न करते हुए भी अत्यधिक सीधे दृष्टिकोण को संशोधित करना आवश्यक समझते हैं।

गेरु के अनुसार, दर्शन को सत्य की आकांक्षा से अलग करके नहीं देखा जा सकता, जो सभी सच्चे दार्शनिकों को प्रेरित करती है। यह आकांक्षा महज ऐसी आत्मगत मनोदशा नहीं है, जो दर्शनों की उस अन्तर्वस्तु को सन्निहित करती है, जो वास्तविक तो है पर सच्ची कदापि नहीं। समस्या वास्तव में यह है कि सत्य की इस सहज आकांक्षा की विशिष्ट सिद्धि के रूप में प्रत्येक दर्शन को कैसे समझा जाये। लेकिन यदि बात ऐसी ही है तब स्पष्टतः दर्शनों की एक दूसरे से तथा वैसे ही प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों द्वारा प्रस्तुत आंकड़ों से तथा [illegible] अनुभव और व्यवहार से तुलना की जानी चाहिए, क्योंकि केवल इसी तरीके से यह स्पष्ट किया जा सकता है कि कितने सही रूप में यह या वह दर्शन यथार्थ को समझता है। पर गेरु ठीक इसी बिंदु को नामंजूर कर देते हैं और यह दावा करते हैं कि वैज्ञानिक सत्यों से मूलतः भिन्न और पूर्णतः स्वतंत्र दार्शनिक सत्यों का अस्तित्व है और दार्शनिक सत्य विज्ञान से परे विशेष प्रकार के यथार्थ पर आधारित

होता है। दर्शन का विषय समग्रत. सभी प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानो के विषय की एकदम विपरीत स्थिति मे रख दिया जाता है, जिसमे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि दार्शनिक को वैज्ञानिक ज्ञान की आवश्यकता नही होती और वैज्ञानिक दार्शनिक खोजे करने मे असमर्थ हैं। तर्कों का ऐसा परिवर्तन-प्रतिवर्तन गेरू के लिए आवश्यक है, ताकि वह वैज्ञानिक खोजो की उपेक्षा करने के दार्शनिको के जिस अधिकार की घोषणा करते है उसे उचित ठहरा सके। यह समझना कठिन नही है कि इस "अधिकार" का निगमन विज्ञान के विकास सहित ऐतिहासिक विकास मे दर्शन की स्वतत्रता के बारे मे एक मिथ्या पूर्वाधार से किया जाता है। गेरू के अनुसार, दार्शनिक सत्य और इसकी आकाक्षा के एक आधार का अस्तित्व है और यह अस्तित्व दार्शनिक की इच्छा से (पर उसकी चेतना से नही) स्वतत्र है। इस स्थापना को उचित ठहराने के लिए वह दैनदिन यथार्थ के विपरीत, जिसे वह वैज्ञानिक अध्ययन के एक विषय के रूप मे देखते हैं, दार्शनिक यथार्थ की अवधारणा का निर्माण करते हैं। वह इस तथ्य की व्याख्या कि विज्ञान ने लबे समय पहले सामान्य अनुभव की सीमाओं को पार कर लिया है, इस अर्थ मे करते हैं कि ये सीमाए क्रमश बढती जा रही हैं, लेकिन यह चीज सामान्य अनुभव को तथाकथित अधिवैज्ञानिक दार्शनिक यथार्थ के निकट नही लाती। यह सारा तर्क-वितर्क धर्मशास्त्रियो के इस दावे से मिलता-जुलता है कि उनके "अध्ययन" का विषय इहलोक नहीं है।

अत गेरू दावा करते हैं कि दर्शन अपने को सामान्य यथार्थ मे अलग कर लेता है और एक दूसरे, गहन यथार्थ की ओर मुडता है। इससे भी बढकर दर्शन का निर्माण इसी यथार्थ से सबधित है, जब-कि ठोस सामान्य यथार्थ कठोर दार्शनिक आलोचना का विषय बन जाता है।

गेरू दावा करते हैं कि दर्शनो के बीच अतरो को उस सामान्य यथार्थ के समक्ष सफाई देने की आवश्यकता नही है, जिसे दार्शनिक चिंतन सदेहास्पद समझता है। अत सामान्य यथार्थ को न कि दर्शन को बुद्धि के समक्ष अपनी सफाई पेश करनी चाहिए। दर्शन सामान्य यथार्थ मे बल्कि इसकी दूसरी ओर से उसके सज्ञेय सार दार्शनिक यथार्थ की खोज करता है। सामान्य यथार्थ के विपरीत दार्शनिक यथार्थ दार्शनिक निर्णय से अटूट रूप से जुडा हुआ है, जो स्वतत्र तो है लेकिन यादृच्छिक नही,

[illegible] इतिहास और इस प्रकार (पहले तक कि [illegible] के रूप में भी)। यह सर्वव्यापी तथा अपरिवर्तित है और यही है इसका [illegible] [illegible] है।

[illegible] के लिए सामान्य यथार्थ मात्र, इंद्रियों द्वारा प्राप्त [illegible] नहीं है। वह इस धारणा को इस हद तक विस्तारित करते हैं कि उनकी परिधि में वे सभी चीजें शामिल हो जाती हैं, जिनका दैनंदिन अनुभव करता और विज्ञान प्राप्त करता है। अतः इस [illegible] यथार्थ के बारे में ज्ञान अनुभव या व्यवहार पर आधारित ज्ञान मिलता-जुलता है। और इस यथार्थ ज्ञान के विरोध में, जिसके प्रति मानवजाति बहुत आभारी है, जिसके बिना आधुनिक सभ्यता असंभव होती, यथार्थ से स्वतंत्र आत्म-निर्भर समष्टि के रूप में प्रागनुभविक पूर्वाधारों के जरिये अपना निर्धारण करनेवाले चिंतन बंद जगत् के रूप में विभिन्न महान दर्शन खड़े कर दिये जाते हैं। बुल्नेर इस अवधारणा को निरपेक्षवादी यथार्थवाद कहते हैं। प्रत्येक दार्शनिक प्रणाली को सैद्धांतिक के विषय में मिलती-जुलती किसी चीज के रूप में कम से कम इस अर्थ में प्रस्तुत किया जाता है कि वह प्रत्यय के एक बंद जगत् को बनाता है। दार्शनिक सत्ता की रचना भी करता है और उसका अवबोधन भी, जो उसके मनन का विषय है। यथार्थ की समस्याएं, जिनका दर्शन अध्ययन करता है, बुल्नेर के अनुसार, प्लेटो के इंद्रियातीत विचार-जगत के सदृश हैं, जो हर किसी की पहुंच में होनेवाली इंद्रियगोचर वस्तुओं के जगत का विरोध करता है। इस तरह, सभी महान दर्शनों की मूलभूत समानता के बारे में अपने सभी दावों के बावजूद "दर्शन के इतिहास के दर्शन" के समर्थक भौतिकवादी प्रणालियों को अस्वीकार करते हैं तथा "प्लेटो की लाइन" यानी प्रत्ययवाद की रक्षा करते हैं। बेशक, इसका अर्थ यह नहीं है कि वे प्लेटो के दर्शन का अनुसरण करते हैं। आधुनिक प्रत्ययवाद स्पष्टतः प्लेटो के सिद्धांत को स्वीकार नहीं कर सकता, जिसकी रचना २००० साल पहले की गयी थी। और "दर्शन के इतिहास का दर्शन" इस अनिरूपित दार्शनिक यथार्थ को बोधगम्य विचारों के जगत् के रूप में प्रस्तुत करता है, चाहे उनकी सत्तामीमांसीय स्थिति कुछ भी क्यों न हो।

मे एक विशिष्ट औपचारिकता ही प्रतीत होती है, क्योंकि यह उन अध्ययन-विधियों के मूल्यांकन को पूर्णतः अस्वीकार करती है, जो यह देखने के लिए लागू की जाती हैं कि वे वस्तुगत यथार्थ और तदनुरूप वस्तुगत सत्य को कैसे प्रतिबिंबित करती हैं। इस संबंध में पॉन फि द्वारा दी गयी वैज्ञानिक वस्तुगतता की परिभाषा महत्वपूर्ण है. "हमें वस्तुगतता को उसके निश्चित ज्ञानमीमांसीय अर्थ में समझ चाहिए, वस्तुगत वह है, जिसे सुव्यवस्थित चिंतन द्वारा विर्श किया गया हो, जिसे क्रमबद्ध ढंग से पेश किया और समझा गया और जो दूसरों के लिए भी स्पष्ट हो सके। यह भौतिक तथा जै विज्ञानों के बारे में सही है; यह इतिहास के बारे में भी सही है (92, 26)। अध्ययन की वस्तुगतता की तकनीकी मांगों तक सीमितता, हालांकि वे बेशक आवश्यक हैं, रिकेर को इस निष्कर्ष ले जाती है कि ऐतिहासिक (और सर्वोपरि, ऐतिहासिक-दार्शनिक अध्ययन अपनी ज्ञानमीमांसीय वस्तुगतता के बावजूद आत्मगत है लेकिन यह "वैज्ञानिक आत्मगतता" है, जिसे "बैरी मंतव्य की आत्म गतता" से, दूसरे शब्दों में, विवेकहीनता या अयोग्यता से गड्डमड्ड नहं करना चाहिए।

अनुसंधान के आत्मगत पहलू की उपेक्षा नहीं की जा सकती। लेकिन मूल बात इसमें नहीं है कि अनुसंधानकर्ता के आत्मगत दृष्टिकोण को स्वीकार या अस्वीकार किया जाता है, बल्कि इसमें है कि वस्तुगत सत्य और इसकी कसौटी की सिद्धि के मार्ग को देखा जाये यानी सज्ञान के आत्मगत पहलू तथा आम तौर से मानव आत्मगतता की भौतिकवादी समझ रखी जाये। वस्तुतः इसी चीज़ की "दर्शन के इतिहास के दर्शन" के अनुयायियों में कमी है, जो उन्हें दर्शन के इतिहास के प्रति आत्मगत दृष्टिकोण पर ले जाती है, बावजूद इसके कि वे "ज्ञान-मीमांसीय वस्तुगतता" की मांगों का ईमानदारी से पालन करते हैं। वस्तुगतता का सिद्धांत अर्थात व्यक्तिगत मेधा का सिद्धांत "दर्शन के इतिहास के दर्शन" के लिए मुख्य अवधारणा है। प्रत्येक दर्शन की सच्ची अंतर्वस्तु तत्व निरूपण करनेवाले व्यक्ति की अद्वितीय रचनात्मकता की अभिव्यक्ति है, उसके स्वातंत्र्य का एक साधन है। उदाहरणार्थ हेनरी गुहए दावा करते हैं "हमारी दृष्टि में कोई भी 'वाद' दूसरे

कहा जाता है" (92,57)। लेकिन स्पष्टत वह इस चीज को नहीं समझते कि दर्शन के इतिहास में सततता की अस्वीकृति भी सन्देहवाद पर ले जाती है, जो दावा करता है कि दार्शनिक न तो अपने पूर्ववर्तियों से सीख सकते हैं, न ही अपने उत्तराधिकारियों को सिखा सकते हैं। स्वय रिकेर भी वस्तुत इस वजह से दार्शनिक समयवाद के निकट हैं (हालाकि वह स्वीकार नहीं करते हैं) कि वह समयवादियों की भांति ही दार्शनिक समस्याओं की विरासत के विचार को अस्वीकार करते हैं।

विगत में, दर्शन के इतिहासकारों ने आम तौर से कहा कि सभी दार्शनिकों ने हमेशा एक समान "शाश्वत" समस्याओं को प्रस्तुत और हल करने की कोशिश की थी। दर्शन के इतिहास का वर्णन विचारों तथा असमाधेय समस्याओं के एक बंद चक्र के रूप में किया जाता था। इस परंपरागत अवधारणा के विपरीत, जिसकी भ्रान्तिपूर्ण प्रकृति को हेगेल ने पहले ही प्रकट कर दिया, "दर्शन के इतिहास का दर्शन" सामान्य अस्वीकार करता है कि विभिन्न दर्शनों द्वारा विवेचित दार्शनिक समस्याओं में कोई समानता है। एक अधिभूतवादी छोर से दूसरे पर, दार्शनिक समस्याओं की सामान्यता से उनके "विशिष्टीकरण" पर अथवा जैसा कि इतालवी अस्तित्ववादी निकोला अब्बान्यानो कहते हैं, उनके "वैयक्तिकीकरण" पर इस छलांग को कैसे स्पष्ट किया जाये? इस प्रश्न का उत्तर उपर्युक्त विवरण से सुस्पष्ट है। "दर्शन के इतिहास का दर्शन" वैज्ञानिक दर्शन के विचार पर हमला करता है, जिसकी रक्षा पूर्व-मार्क्सवादी दर्शन की एक प्रगतिशील विशेषता थी। इस दार्शनिक स्कूल की दृष्टि से (और अधिकांश आधुनिक बुर्जुआ दार्शनिक सिद्धांतों की दृष्टि से) दर्शन तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण में कोई मेल नहीं है। "विज्ञानवाद" के खिलाफ संघर्ष का यही कारण है, जिसमें एकतरफा वैज्ञानिक विशेषीकरण के कुछ नकारात्मक परिणामों की आलोचना तथा सामान्यतः वैज्ञानिक विश्व-दृष्टि के रूप में विज्ञान के महत्व की अस्वीकृति का एक प्रगत परस्पर विरोधी संयोजन प्रकट होता है। अतः मार्क्सवाद के खिलाफ आधुनिक बुर्जुआ दर्शन का संघर्ष वैज्ञानिक दर्शन की अवधारणा, वैज्ञानिक विश्व-दृष्टि की अस्वीकृति [illegible] है जैसे ही जैसे कि समाजवाद की अनिवार्यता की बुर्जुआ

अस्वीकृति सामान्यत ऐतिहासिक अनिवार्यता की निषेधवादी अस्वीकृति मे व्यक्त होती है।

रिकेर अपने को दार्शनिक समस्याओ की ऐतिहासिक निरतरता की अस्वीकृति तक ही सीमित नही करते। वह दार्शनिक समस्याओ के किसी भी समाधान पर ऐसे हमला करते हैं मानो यह दर्शन का कार्य न हो दर्शन केवल प्रश्नो को पेश करता है, इसे उनका उत्तर नही देना चाहिए। इसलिए एक दार्शनिक की मौलिकता और रचनात्मक प्रतिभा उन प्रश्नो के उत्तर मे नही व्यक्त हो सकती, जिन्हे उसके पूर्ववर्तियो ने पेश किया था। उसकी प्रतिभा केवल इस चीज मे व्यक्त होती है कि वह समस्याओ को नये ढग से पेश करता है और उत्तर कम महत्वपूर्ण तथा गैर-दार्शनिक व्यक्तियो से आते हैं।

स्पष्टत दर्शन के विकास मे समस्या को सही रूप मे पेश करना बड़ा महत्व रखता है। सुविदित है कि विश्व की एकता, मूलतत्व, भूतद्रव्य की स्वगति, सत्य की कसौटी आदि के बारे मे प्रश्नो को पेश करना कितना महत्वपूर्ण है। एक बडी हद तक दर्शन का विशिष्ट स्वरूप इस चीज से उत्पन्न होता है कि यह ऐसी नयी समस्याओ को पेश करता है, जिनपर पहले कोई ध्यान नही दिया गया था और जिनके समाधान के लिए हमेशा आवश्यक वैज्ञानिक आकडे उपलब्ध नही होते है। अत यह साफ है कि दार्शनिक समस्याए पेश करने के तरीके मे ही सज्ञान का विकास निहित है और यहा अगर स्वय उत्तर महत्वपूर्ण नही है, तो बहरहाल यह उत्तर पहुचने के सभव मार्गो की ओर सकेत है। लेकिन दर्शन न केवल प्रश्नो को पेश करता है बल्कि यह उनका उत्तर भी देता है। यह और बात है कि ये उत्तर जैसा कि दर्शन का इतिहास प्रमाणित करता है अक्सर बहुत अवैज्ञानिक थे। फिर भी यह चीज इसके लिए आधार नही प्रस्तुत करती कि उनके महत्व को कम करके आका जाये। अगर इन उत्तरो मे सत्य का एक अश भी है तो भी यह प्रगति है। दार्शनिक समस्याए किसी भी विज्ञान-विशेष के विशिष्ट प्रश्नो से मूलत भिन्न होती है क्योकि उनका हल विज्ञान व्यवहार तथा ऐतिहासिक अनुभव द्वारा प्रस्तुत बहुविध आकडो की माग करता है और अत यह किसी विशिष्ट प्रयोग पर सीमित आकडो तथा सैद्धांतिक पूर्वाधारो पर आधारित नही हो सकता।

"दर्शन के इतिहास का दर्शन" केवल वैज्ञानिक दर्शन के महत्व तथा आवश्यकता से ही इन्कार नहीं करता। यह वस्तुतः तो दर्शन में सैद्धांतिक अन्तर्दृष्टि के उच्चतम रूप की शक्ल में अतार्किक दृष्टियों को (स्पष्टतः अवैज्ञानिक प्रत्ययवादी दर्शन को) प्रस्तुत करता है। वस्तुतः अवैज्ञानिकता की यह पूजा, जिसे सैद्धांतिक विवेक की प्रामाणिक अभिव्यक्ति के रूप में पेश किया जाता है, सैद्धांतिक ज्ञान के उच्चतम रूप विज्ञान को नीचा दिखाने का प्रत्ययवादी प्रयास है।

रैंक काट पर इस बात का आरोप लगाते हैं कि उन्होंने अधिभूतवाद (दर्शन) के महत्व को विज्ञान होने की उसकी क्षमता से आंकने की कोशिश की। पर रैंक की धारणा के अनुसार, अपने अतार्किक स्वरूप के बावजूद सभी अधिभूतवादी प्रणालियां सारतः सत्य से युक्त हैं। रैंक लिखा देते हैं कि वह चीज़ जो एक दर्शन को स्थायी ऐतिहासिक महत्व प्रदान करती है इसके सही निर्णयों में नहीं बल्कि उस की दुर्बोधता में निहित होती है जिसने इसमें अपनी ऐतिहासिक धार्मिक रूप पाये।

म भरते हुए और सज्ञान तथा मानवजाति के आत्मिक जीवन के एक रूप की हैसियत से दर्शन की विशिष्टता का विशदीकरण करते हुए ब्रह और उनके अनुयायी दर्शन के महत्व को विवादास्पद बनाते हैं व ज्ञानिक दार्शनिक ज्ञान के आदर्श से इन्कार करते हैं जिसे दर्शन के सम्पूर्ण इतिहास ने जन्म दिया। लेकिन स्वयं "दर्शन के इतिहास के दर्शन" को दर्शनों के ऐसे निर्माताओं के पूर्वाग्रहपूर्ण दृष्टिकोण से ऊपर उठनेवाले एक सच्चे विज्ञान के रूप में देखा जाता है, जो सभी अन्य दर्शनों का वस्तुगत रूप से मूल्यांकन करने में असमर्थ है। ब्रुन्नेर के अनुसार, "ऐतिहासिक अध्ययन के विषय को एक विषय ही रहना चाहिए और यह गुण इतिहासकार की निष्पक्षता द्वारा प्रत्याभूत होना चाहिए। विधि की यथातथ्यता मांग करती है कि दर्शनों की जांच ऐसी बाह्य वस्तुओं के रूप में की जानी चाहिए, जिनपर इतिहासकार द्वारा शांतिपूर्वक मनन किया गया हो" (40,184-85)। इस तरह "दर्शन के इतिहास के दर्शन" को दार्शनिक ज्ञान के इतिहास में एक अद्वितीय स्थान दिया जाता है। यह कथित रूप से एक निष्पक्ष तटस्थ निर्णयकर्ता है। ब्रुन्नेर के अनुसार, दर्शन के इतिहासकार को न तो उस विचार-प्रणाली का समर्थक, न ही विरोधी होना चाहिए जिसका वह अध्ययन करता है। किसी दर्शन-विशेष से लगाव दर्शन के इतिहासकार को उन कठिनाइयों की उपेक्षा करने को विवश करता है जिनपर यह दर्शन काबू पाने में असमर्थ है तथा उसे अध्ययन के विषय के प्रति आलोचनात्मक रुख से वंचित करता है जो अध्येता के लिए इतना महत्वपूर्ण होता है। इस दृष्टिकोण से किसी दार्शनिक सिद्धांत के प्रति अनुरक्ति का अर्थ है उस सिद्धांत के प्रति अनालोचनात्मक दृष्टिकोण तथा सभी दूसरे सिद्धांतों के प्रति भी पूर्वाग्रहपूर्ण रुख अपनाना। इस संदर्भ में ब्रुन्नेर १६वीं सदी के मध्य के दर्शन के इतिहासकार एडमाद शेरेर का हवाला देते हैं जिन्होंने लिखा "दर्शन को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हमारे लिए वह पराया हो ताकि हम उसपर बाहर से विचार कर सकें" (40,185)।

यह चीज स्वतःस्पष्ट है कि वैज्ञानिक वस्तुगतता के बजाय अपनी व्यक्तिगत मांगों, रुचियों और दिलचस्पियों से निर्दिष्ट होनेवाला अनुसंधानकर्ता सच्चा अनुसंधानकर्ता नहीं हो सकता। वैज्ञानिक सर्वविदित्स

ना की अस्वीकृति नही है। वह उतना दार्शनिक नही है जितना कि अधि-दार्शनिक। उसकी दार्शनिक स्थिति "दर्शन के इतिहास का दर्शन" या दर्शन का दर्शन यानी दर्शन के इतिहास का दार्शनिक सिद्धात है।

इस प्रकार, "दर्शन के इतिहास के दर्शन" का आलोचनात्मक विश्लेषण यह निष्कर्ष निकालने की अनुमति देता है कि यह दर्शन के इतिहास की एक प्रत्ययवादी व्याख्या है। जिस अपक्षधरता की इतने ज़ोर-शोर से घोषणा की जाती है, वह अपेक्षित ढग से छद्म-अपक्षधरता अर्थात प्रच्छन्न बुर्जुआ पक्षधरता निकलती है। इस तरह की पक्षधरता का वास्तव मे वैज्ञानिक वस्तुगतता से लेशमात्र मेल नही है। हम देख चुके है कि "दर्शन के इतिहास के दर्शन" का एक निश्चित विचार-धारात्मक कार्य है। दर्शन के इतिहास की बहुवादी व्याख्या आम तौर से सामाजिक विकास के बहुवादी स्वरूप को पुष्ट करने का प्रयास भी है। पूजीवाद से समाजवाद मे अनिवार्य सक्रमण के बारे मे सिद्धात के मुकाबले मे यह विचारधारात्मक निष्कर्ष "दर्शन के इतिहास के दर्शन" मे केवल अव्यक्त रूप से ही नही विद्यमान है। मार्शियल गेरू ने १९६८ मे १४वी विश्व दर्शन काग्रेस मे इसके बारे मे प्रत्यक्ष चर्चा की।*

अपने सभी अति-ऐतिहासिक दावों के बावजूद आधुनिक बुर्जुआ 'दर्शन के इतिहास का दर्शन" अतर्कबुद्धिवाद की ओर खिचनेवाले आधुनिक प्रत्ययवादी दर्शन मे प्रचलित वास्तविक स्थिति की ऐतिहासिक रूप से निश्चित आत्मगतवादी अभिव्यक्ति है। दर्शनो की अ-राजकता को उचित ठहराना आधुनिक बुर्जुआ दर्शन की एक मुख्य विशेषता है। अत आश्चर्य नही कि विचाराधीन स्कूल के प्रतिनिधि दर्शन के बहुवाद के साथ-साथ "दर्शन के इतिहास के दर्शनो" की किसी भी बहुलता के अस्तित्व को पूर्णत उचित मानते है।

बुर्जुआ दर्शन का सकट, विचारधारात्मक सभ्राति, सत्य के लिए भावावेग का अभाव जिससे विगत के महान दार्शनिक ओत-प्रोत

---

*'दर्शन के अतर्कबुद्धिवादी इतिहास के अभ्युपगम' शीर्षक लेख मे उनकी रिपोर्ट का आलोचनात्मक ढग से विश्लेषण किया गया है (31)।

दार्शनिक प्रणाली का द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी विचार

मार्क्सवाद मार्क्स के विचारों और
शिक्षाओं की प्रणाली है।

व्ला० इ० लेनिन

मैं पहले ही उल्लेख कर चुका हूं कि मार्क्सवाद का वैज्ञानिक-दार्शनिक विश्व-दृष्टिकोण शब्द के पुराने, परंपरागत अर्थ मे दर्शन का निषेध है यानी यह दार्शनिक ज्ञान की एक ऐसी पूर्ण प्रणाली का निर्माण करने के किसी भी प्रयास का निषेध है, जिसने अपने विषय का सांगोपांग अध्ययन कर दिया हो और जो सज्ञान और सामाजिक जीवन के सभी अनुवर्ती विकास से स्वतंत्र हो। यह एक ठोस, द्वद्वात्मक-भौतिकवादी निषेध है, जो दर्शन मे उस क्रांति की विशिष्टता को प्रकट करता है, जिसे मार्क्स और एंगेल्स ने द्वद्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद यानी दर्शन की एक ऐसी प्रणाली का निर्माण करते हुए संपन्न किया, जो विगत के सभी दर्शनो से मौलिक रूप से भिन्न है।

मार्क्सवाद के एक सिद्धात अथवा संघटक अंग को दूसरे के मुकाबले मे रखने के बुर्जुआ और संशोधनवादी प्रयासो की अपनी आलोचना मे लेनिन ने हमेशा ज़ोर दिया कि मार्क्सवाद अखड वैज्ञानिक प्रणाली है। यह बहुत महत्वपूर्ण बात मार्क्सवादी दर्शन के बारे में भी सही है, लेकिन न तो इसके बुर्जुआ आलोचक, न ही कुछ (सचमुच बहुत असंगत) मार्क्सवादी इसे समझते है। यह बता देना ही काफी है कि २०वी सदी के प्रारंभ मे दर्शन के प्रति मार्क्सवादी रुख की प्राय नकारात्मक रुख के रूप मे व्याख्या की जाती थी। मिसाल के लिए, कार्ल काउत्स्की ने लिखा "मैं मार्क्सवाद को एक दर्शन के रूप मे नहीं, बल्कि एक इंद्रियानुभविक विज्ञान, समाज के एक विशिष्ट विचार के रूप मे देखता हू" (47,2,452)* । मार्क्सवाद के दार्शनिक मूल

---

* कार्ल काउत्स्की की यह अस्वीकृति कि मार्क्सवादी दर्शन का अस्तित्व है, एक इंद्रियानुभविक "वक्तव्य" के रूप मे प्रस्तुत होती

सिद्धातो की इस असगत "समझ" को याद रखना महत्वपूर्ण है, क्योकि आज इसे फ्रैंकफुर्ट सामाजिक अध्ययन स्कूल के सिद्धातकारो द्वारा पुनरुज्जीवित किया गया है, जो मार्क्स के सिद्धात की प्रामाणि व्याख्या (या उनके ही शब्दो मे, "पुनर्निर्माण") पेश करने क दावा करते हैं। उदाहरणार्थ, आधुनिक टुटपुजिया-बुर्जुआ बुद्धिजीवियों के बीच बहुत प्रभावशाली हर्बर्ट मार्कुज़े काउत्स्की की भावना मे घोषण करते है कि "मार्क्सवाद एक आर्थिक न कि दार्शनिक प्रणाली है' (82,103)। मार्क्स की उन कृतियों के बारे मे, जिन्हे उन्होंने उस काल मे लिखा था, जब कि वह अभी अपने सिद्धात का निर्माण शुरू ह कर रहे थे, जब कि मार्क्सवाद की दार्शनिक समस्याएं सर्वोपरि महत्वपूर्ण थी, मार्कुज़े का विचार इस प्रकार है: "यहा तक कि मार्क्स की प्रा रंभिक रचनाए भी दार्शनिक नही हैं। वे दर्शन के निषेध को व्यक्त करती हैं, हालाकि वे अब भी उसे दार्शनिक भाषा में करती हैं" (83,258)।

मार्क्सवाद के कुछ आलोचक (उदाहरणार्थ, जा हिप्पोलित और जान यवेज काल्वेज) मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा वैज्ञानिक समाजवाद को दर्शन से मूलत भिन्न सिद्धातो के रूप में उपेक्षा करते हुए मार्क्सवाद की व्याख्या केवल एक दर्शन के रूप मे करते हैं। इसके विपरीत, दूसरे इस बात का हवाला देते हुए कि मार्क्सवाद परपरागत दर्शनो, शब्द के पुराने अर्थ मे सामान्यतः दर्शन का निषेध करता है, मार्क्सवादी दर्शन के अस्तित्व को मानने से इन्कार करते हैं। लेकिन

है। अत बुर्जुआ दर्शनो के साथ मार्क्सवाद के "एकीकरण" के खिलाफ उन्हे कोई आपत्ति नही है। वह स्वय इतिहास के भौतिकवादी विचार की व्याख्या प्रत्यक्षवाद की भावना मे करने की कोशिश करते है। एक सामाजिक-जनवादी के इस प्रश्न का कि क्या मार्क्सवाद को माखवाद के साथ "एकीकृत" किया जा सकता है, काउत्स्की ने उत्तर दिया "स्पष्टत यह सिद्धात प्रत्ययवादी दर्शन से लेशमात्र मेल नही खाता, लेकिन यह माख के ज्ञान-सिद्धात का विरोध नही करता' (74, 2,452)। यह सिद्ध करता है कि काउत्स्की ने इस तथ्य की उपेक्षा की कि माख का दर्शन प्रत्ययवादी था।

मार्क्सवाद के विरोधी इस निषेध के द्वंद्ववादी स्वरूप को न
करते है। मार्क्सवाद की इस विज्ञान-विरोधी व्याख्या की
तथा पूर्ववर्ती दर्शनों के प्रति मार्क्सवादी दृष्टिकोण को सम
आवश्यकता निम्नलिखित प्रश्न पेश करती है परपरागत
मार्क्सवादी निषेध का क्या अर्थ है ? एक प्रणाली के रूप
का मार्क्सवादी विचार क्या है ?

जब मार्क्सवाद परपरागत दर्शनो का निषेध करता है
अर्थ यह है कि वह दर्शन को गैर-दार्शनिक (और विशेष रूप
हारिक) कार्यकलाप तथा गैर-दार्शनिक अध्ययन के मुकाबले
के तथ्य का निषेध करता है, जो इन सभी दर्शनो के लिए
है। अतिसरलीकरण की गलती से बचने के लिए हमे ध्यान
चाहिए कि यह मुकाबला, जो सबसे पहले तर्कबुद्धिवादी
विशिष्टता है और जिसकी पूर्व-मार्क्सवादी भौतिकवादियो तथा
भववादी दार्शनिको द्वारा कुछ आलोचना भी की गयी, दार्श
गैर-दार्शनिक के बीच स्पष्ट भिन्नताओ को दर्ज करता है।
ये भिन्नताएं खासी बडी हैं, पर दार्शनिक प्रणालियो के प्र
उन्हे निरपेक्ष बना दिया तथा मूर्त भिन्नता मे निहित ता
घटक को निकाल दिया। लेकिन भिन्नता और तादात्म्य द्वद्वा
बनाती है और इस वजह से ये दोनो ही इस सहसबध के
पहलू हैं। कोनराड श्मिड्ट को एंगेल्स के पत्र में उद्धृत उद
उपयोग करते हुए कहा जा सकता है कि पुरुष और स्त्री के बी
की वास्तविकता का निहितार्थ उनका वास्तविक तादात्म्य है
चद्रमा से मेढ के वृक्ष की भिन्नता सुस्पष्ट और बहुविध होने के
अर्थहीन कथन प्रतीत होती है, क्योकि यह उनमें किसी ठोस
को नही दर्शाती। इसका अर्थ यह है कि शब्द "मुकाबला
त्मक भौतिकवाद मे नही निकाला जा सकता। इसके
बात इसे द्वद्वात्मक ढग से समझने तथा इसकी अद्वद्वात्मक
नामजूर करने की है, जो प्राय पूर्णत नकारात्मक है। मूलत
निषेध और अमूर्त निषेध के बीच भिन्नता की अधिक मामा
की ठोस अभिव्यक्ति है।

पूर्व-मार्क्सवादी दर्शन मे गैर-दार्शनिक और दार्शनिक का

अपनी अतिरंजना के बावजूद निश्चित ऐतिहासिक सीमाओ मे उचित था। लेकिन १६वी सदी मे यह कालदोष बन चुका था। एक ओर, दर्शन ने महसूस किया कि अब यह सामाजिक उथल-पुथलों का निष्क्रिय प्रेक्षक बिल्कुल नही रह सकता। दूसरी ओर, महान वैज्ञानिक खोजो ने प्रामाणिक ढग से सिद्ध कर दिया कि दर्शन के लिए गैर-दार्शनिक अध्ययन बडे महत्वपूर्ण हैं। दार्शनिक बुद्धि ने महसूस करना शुरु किया कि यह शुद्ध, परम तथा आत्ममूल्याकनकारी चिंतन के रूप मे असगत इद्रियानुभविक यथार्थ से ऊपर नहीं है। हर ग़ैर-दार्शनिक चीज़ से दर्शन की स्वतत्रता का भ्रम टूट गया। युवा मार्क्स ने अपनी प्रारभिक कृतियो मे लिखा, "दार्शनिक खुबियो की भाति ज़मीन से नही निकलते, वे अपने समय, अपनी जाति की उपज होते हैं, जिनका अतिसूक्ष्म, मूल्यवान और अदृश्य अमृत दर्शन के विचारो में सकेंद्रित होता है। वही भावना, जो मजदूरो के हाथो से रेलवे का निर्माण करती है, दार्शनिको के मस्तिष्को मे दार्शनिक प्रणालियो का निर्माण करती है" (1,*1*,195)।

अत गैर-दार्शनिक यथार्थ के प्रति दार्शनिक उपेक्षा का विरोध करते हुए मार्क्सवाद गैर-दार्शनिक सिद्धात तथा उन सभी चीज़ो के विरुद्ध व्यावहारिक राजनीतिक सघर्ष के साथ दर्शन की एकता के जरिये इसके रचनात्मक विकास की ऐतिहासिक सभावनाओ को प्रकट करता है, जिनकी दर्शन ने अधिक से अधिक सिर्फ कल्पनात्मक ढग मे निंदा की। मार्क्स ने व्यग्यात्मक ढग से लिखा "अब तक दार्शनिको के पास अपनी मेज़ो मे सभी पहेलियो का हल था और बुद्धिहीन दुनिया को केवल अपना मुह भर खोलना था ताकि पूर्ण ज्ञान के भुने हुए तीतरो को गडप सके" (*1,3,142*)। मार्क्स मानवजाति की वास्तविक समस्याओ के प्रति अपने आप मे बद और आत्म-सतुष्ट दर्शन के कल्पनात्मक दृष्टिकोण की निंदा करते हैं। वह मानवजाति के भविष्य के बारे मे काल्पनिक विचारणा से इन्कार करते हैं तथा पूजीवादी यथार्थ की अपनी आलोचना का उपयोग नियमसगत ऐतिहासिक विकास के अनुसार भविष्य के मार्ग की खोज के लिए करते है। मार्क्स यथार्थ की अपनी आलोचना को यथार्थ से स्वतत्र शक्ति के रूप मे नही मानते। उल्टे, वह इस आलोचना को बुर्जुआ समाज मे सर्वहारा के उभरते मुक्ति-सघर्ष से

जोड़ते हैं। इस पक्षधरता की स्थिति के वैज्ञानिक महत्व को परिभाषित करते हुए मार्क्स कहते हैं "हम संसार के सामने मताग्रहियों की तरह कोई बना-बनाया नया सिद्धांत नहीं रखते : ये रहा सत्य, बस इसके सामने नतमस्तक हो जाइये। हम स्वयं संसार के ही सिद्धांतों के आधार पर नये सिद्धांतों को विकसित करते हैं" (1,3,144)।

मार्क्स के ये सिद्धांत फायरबाख पर उनकी अंतिम स्थापना के सही अर्थ को अधिक स्पष्ट बना देते हैं : दार्शनिकों ने केवल दुनिया का विभिन्न रूपों में स्पष्ट करने की कोशिश की, जब कि कार्य इसे बदलना है। इस स्थापना की नाना गैर-मार्क्सवादी व्याख्याओं का विरोध करने के लिए निम्नलिखित बात पर जोर देना आवश्यक है : मार्क्स संसार की दार्शनिक व्याख्या की आवश्यकता को अस्वीकार नहीं करते। वह दर्शन के कार्य को केवल अस्तित्वमान चीजों की व्याख्या तक सीमित करने के विरोधी हैं, क्योंकि ऐसा आत्म-प्रतिबद्ध दर्शन को यथार्थ के आमूल रूपांतरण के लिए संघर्ष के मुकाबले में रखता है। अतः इस स्थापना का सही अर्थ एक निरपेक्ष आदेश है कि दर्शन को दुनिया के क्रांतिकारी रूपांतरण की आवश्यकता की सैद्धांतिक पुष्टि का आधार बनाया जाये।

परम्परागत दर्शनों के मार्क्सवादी निषेध का दूसरा मौलिक पहलू, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है : दर्शन को यथार्थ के गैर-दार्शनिक अध्ययन के मुकाबले में रखने की अस्वीकृति है। विज्ञान के इतिहास से स्पष्ट है कि ऐसा अध्ययन हमेशा अपूर्ण ही बना रहता है, इसके परिणाम यथार्थ को सिर्फ मोटे तौर पर ही प्रकट करते हैं। इस बीच में पूर्व-मार्क्सवादी दर्शन ने अपना लक्ष्य सज्ञान के अनुवर्ती विकास से स्वतंत्र अंतिम ज्ञान की प्रणाली के निर्माण में देखा। यह पूर्णतः साफ है कि दर्शन ने प्राकृतिक विज्ञानों और इतिहास के विरोधी निरपेक्ष ज्ञान के इस आदर्श को, चाहे यह कितना ही विरोधाभासी क्यों न हो, स्वयं विज्ञान से लिया : केवल सामान्य विज्ञान से नहीं, बल्कि उसके इतिहास-निर्धारित रूप में। डेढ़ हजार से अधिक सालों की अवधि में न केवल दार्शनिक बल्कि गैर-दार्शनिक वैज्ञानिक भी यूक्लिड की ज्यामिति को सर्वथा पूर्ण, अनुभव से सर्वथा स्वतंत्र तथा और आगे विकास की आवश्यकता से सर्वथा रहित स्वयंसिद्धियों की प्रणाली के

ठोस परिभाषा की ओर अग्रसर होना है और इस तरह प्रवर्गीय परिभाषाओं की विकासमान प्रणाली बनाना है। हेगेल के अनुसार, "वह सही रूप, जिसमें सत्य अस्तित्वमान है, केवल उसकी वैज्ञानिक प्रणाली ही हो सकता है" *(64,2,6)*। इस प्रकार, हेगेल दार्शनिक प्रणाली की एक नयी अवधारणा पर पहुंचते हैं ; वह इस अवधारणा की उन विशिष्टताओं से इन्कार करते हैं, जिन्हें उनके पूर्ववर्तियों ने सबटक अंगों के रूप में स्वीकार किया था।

हेगेल इस धारणा पर भी काबू पा लेने का प्रयास करते हैं, जिसके अनुसार दार्शनिक प्रणाली एक प्रारंभिक अभ्युपगम से निगमित की जाती है। हेगेल के 'तर्कशास्त्र' में प्रवर्गों की प्रणाली मात्र निगमन का परिणाम नहीं है, बल्कि निगमन को विकास की वस्तुगत प्रक्रिया के पुनरुत्पादन की विधि के रूप में देखा जाता है, जिसकी व्याख्या तात्विक प्रत्यय के आत्म-विकास के रूप में की जाती है, जो विश्वात्मा बन जाता है। अतः हेगेल के अनुसार, एक दार्शनिक प्रणाली का अंतिम परिणाम इसका आरंभ है, पर जिसने अपना विकास, फैलाव और कार्यान्वयन पूरा कर लिया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सभी पूर्ववर्ती दर्शनों को ऐतिहासिक रूप में साकार हो रहे सच्चे दर्शन की प्रणाली के चरणों के रूप में माना जाना चाहिए। हेगेल के शब्दों में, "अतः दर्शन विकासमान प्रणाली है और वैसे ही दर्शन का इतिहास भी" *(64,13,42)*। विकासमान प्रणाली के रूप में दर्शन (और दर्शन के इतिहास) की यह अवधारणा दार्शनिक ज्ञान के विकास में हेगेल का असाधारण योगदान है।

तो भी, विकासमान प्रणाली की अवधारणा को अपने दर्शन पर लागू करने से इन्कार करते हुए हेगेल उस परंपरा से अपना नाता नहीं तोड़ते, जिसकी उन्होंने ठीक ही आलोचना की थी। हेगेल ने यह दावा करके कि उनका ऐतिहासिक युग मानवजाति के दार्शनिक विकास में अंतिम अवस्था है, अपने सिद्धांतों के साथ इस अंतर्विरोध को ही उचित ठहराया। हेगेल के प्रत्ययवाद ने उनकी द्वंद्वात्मक विधि और अधिभूतवादी प्रणाली के बीच अंतर्विरोध को पूर्वनिर्धारित किया, जिसका परिणाम दर्शन के विकास की सीमित अन्तिमदर्शी व्याख्या था। हेगेल के अनुसार दर्शन दिव्य परम की आत्म चेतना है और इसका

और व्यवस्थापन से स्थानांतरित नहीं किया जा सकता। यह प्रस्थापना कि संसार एक एकीभूत अखंड समष्टि, एक प्रणाली है, मात्र एक वक्तव्य नहीं है, बल्कि यह संसार के गुणात्मक रूप से विभिन्न अंशों के सज्ञान पर आधारित दार्शनिक सामान्यीकरण है। यह सामान्यीकरण केवल तभी सफल होता है, जब यह नूतन ज्ञान का खंडन न करे।

एक प्रणाली के रूप में संसार की अवधारणा विकसित होती, बदलती रहती है, उसमें संशोधन होते रहते हैं, इसमें कोई जड़सूत्रवादी सिद्धांत नहीं निहित होते। दूसरे शब्दों में, एक एकीभूत प्रणाली के रूप में संसार को स्वीकार करने का अर्थ इस तथ्य को स्वीकार करना है कि विश्व-प्रणाली का सज्ञान कभी पूर्ण नहीं होता। यह सज्ञान की अपूर्णता परिमाणात्मक और गुणात्मक दोनों होती है, क्योंकि यह अलग-अलग अंशों पर भी लागू होती है। वस्तुतः इसी वजह से न केवल अधिभूतवाद और प्राकृतिक दर्शन में, बल्कि प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों में भी प्राप्त (ऐतिहासिक रूप से सीमित) ज्ञान को अंतिम सत्यों की एक पूरी प्रणाली के रूप में प्रस्तुत करने के सभी प्रयास असफल हैं। उल्लेखनीय है कि १८वीं सदी में ही प्रगतिशील वैज्ञानिकों ने अपनी समकालीन दार्शनिक प्रणालियों के निरपेक्ष स्वरूप के मुकाबले में सुव्यवस्थित प्रायोगिक अध्ययन को रखा था। मसलन १८वीं सदी के फ्रांसीसी भौतिकवादियों के असाधारण समर्थक द' अलाम्बेर की राय में एक भौतिकविज्ञानी को "प्रणाली की आत्मा" (l'ésprit de systéme) को आत्मसात् करना चाहिए, लेकिन उसे ऐसी दार्शनिक प्रणालियों का निर्माण करने के लोभ में नहीं पड़ना चाहिए, जो तथ्यों को नजरअंदाज करती है, जो उनसे मेल नहीं खाती और ऐसे निष्कर्षों पर ले जाती है, जो तथ्यों के सैद्धांतिक विश्लेषण के परिणाम कदापि नहीं होते। लावोइज़िए प्राकृतिक विज्ञानों में सुव्यवस्थित प्रणाली के महत्व के प्रति पूर्णतः सचेत थे और वह खुद तत्वों की प्रणाली पर काम कर रहे थे। तो भी, उन्होंने दावा किया कि "प्रणाली की आत्मा" भौतिक विज्ञानों के लिए खतरनाक है, क्योंकि यह अध्ययन के विषयों पर रोशनी डालने के बजाय उसे धुंधला बनाती है (54,708)।

परस्पर-संबद्ध दार्शनिक उसूलों की किसी प्रणाली की जड़सूत्रवादी निरपेक्षता का निषेध दार्शनिक ज्ञान की सुव्यवस्थित एकता की

सभावना और आवश्यकता को सदेहास्पद नही बनाता। दार्शनिक प्रणालिया असाधारण दार्शनिको के दावो से नही पैदा होती। वे सज्ञान की प्रक्रिया का अनिवार्य परिणाम होती हैं। किसी भी सामान्य ज्ञान की भाति दार्शनिक ज्ञान कम से कम अपने विकास के स्तर द्वारा सीमित होता है। लेकिन यह सीमितता बाद के विकास द्वारा समाप्त हो जाती है, जो बेशक स्वय भी अपनी सीमितता से मुक्त नही होता। एगेल्स के अनुसार, दार्शनिक प्रणालिया "मानव-आत्मा की अनश्वर इच्छा– सभी अतर्विरोधो पर काबू पाने की इच्छा–से उत्पन्न होती हैं" (3,*III*,342)। पर सभी अतर्विरोधो को हल करना वैसे ही असभव है, जैसे कि असख्य की गिनती। फिर भी, यह चीज दार्शनिक ज्ञान के प्रणालीगत विकास को सीमाबद्ध नही करती। ज्यो ही यह नियम स्वीकार कर लिया जाता है, त्यो ही शब्द के पुराने परपरागत अर्थ मे दर्शन का अत हो जाता है। हेगेल की प्रणाली चाहे अचेत ढग से ही सही, उस मार्ग को इगित करती है, जो एगेल्स के शब्दो मे, "प्रणालियो की भूलभुलैया से ससार के वास्तविक सकारात्मक ज्ञान" का (3,*III*,342) मार्ग है।

इस तरह, एगेल्स दार्शनिक (और वैज्ञानिक) प्रणाली की अधिभूतवादी अवधारणा के मुकाबले प्रणाली के रूप मे सज्ञान की अवधारणा को रखते है। इसका आशय प्राप्त ज्ञान के मात्र बुद्धिसगत क्रमबद्ध वर्गीकरण से नही है, बल्कि प्रकृतिवैज्ञानिक तथा दार्शनिक सज्ञान दोनो ही के सभी विषयो मे अन्तर्निहित प्रणालीबद्धता के सज्ञान मे भी है। स्पष्टतया सुव्यवस्थित सज्ञान और एक प्रणाली का निर्माण (न केवल दर्शन मे, बल्कि किसी विशिष्ट विज्ञान मे भी) मूलत भिन्न चीजे हैं। लेकिन यदि सज्ञान का विषय गुणात्मक रूप मे निश्चित प्रणाली है, तो अध्ययन का उद्देश्य इस प्रणाली का सज्ञान हो जाता है। इस स्थिति मे ज्ञान की प्रणाली का विकास परिघटनाओ की निश्चित प्रणाली का प्रगतिशील सज्ञान है। ज्ञान की यह प्रणाली शब्द के आधुनिक अर्थ मे विज्ञान का पर्याय है।

हेगेल के अनुसार, विज्ञान सूचना-सग्रह नही है। उनकी अवधारणा के लिए वैज्ञानिकता, सत्य और प्रणालीबद्धता एक ही प्रवर्ग की धारणाए थी। उन्होने लिखा· "प्रणाली से रहित तत्त्व-निरूपण मे कोई भी

वैज्ञानिकता नहीं हो सकती है (64.6,22) । अत , यहां सवालस्व
"बुद्धि-प्रेम" के मुकाबले में विज्ञान के रूप में दर्शन की हेगेलीय मान्य
द्वंद्वात्मक रूप से समझी गयी दार्शनिक प्रणाली की अवधारणा से इन
जाती है। यह दार्शनिक प्रणाली , जैसा कि ऊपर उल्लेख किया ज
चुका है दार्शनिक ज्ञान की विकासमान प्रणाली है।

हेगेल के अनुसार सही दार्शनिक प्रणाली की दूसरी मूल विशेष
उसके संघटक सिद्धांतों की एकता है। यह एकता वहीं तक संभव है, जह
तक विशिष्ट, पृथक् सिद्धांत निरपेक्ष न माने जायें तथा इस वजह
से वे एक दूसरे के मुकाबले में रखे न जा सकें। स्पष्टतः निम्नलिखित
स्थापना से उनका यही आशय है "अन्य सिद्धांतों से भिन्न एक मौलिक
सिद्धांत पर आधारित दर्शन को गलत ढंग से एक प्रणाली के रू
मे समझा जाता है, वास्तव में, सच्चे दर्शन का सिद्धांत यह है कि
यह अपने में सभी विशिष्ट सिद्धांतों को शामिल करता है" (64.6,
22-23)। इसके कुछ आलोचकों के दावे के विपरीत यह स्थापना दार्श-
निक सारसंग्रहवाद को उचित नहीं ठहराती। इसका इशारा उस सार्विक
सिद्धांत की दृष्टि से सभी विशिष्ट सिद्धांतों के द्वंद्वात्मक निषेध की
ओर है, जिसे हेगेल ने अपनी एकत्ववादी प्रणाली का मुख्य प्रत्ययवादी
सिद्धांत माना। एक प्रत्ययवादी प्रणाली पर काम करते हुए हेगेल सि
करते हैं कि विभिन्न प्रत्ययवादी सिद्धांतों का बेमेलपन विशिष्ट, पृथक्
प्रत्ययवादी सिद्धांतों का निरपेक्ष सिद्धांतों के रूप में विवेचन से उत्पन्न
होता है। हेगेल ने इस विश्वास से प्रत्ययवादी सिद्धांतों को सम्मेलि
करने की कोशिश की कि उनके विशिष्ट सिद्धांतों का द्वंद्वात्मक निषे
उन्हें सही दार्शनिक प्रणाली के सामंजस्यपूर्ण तत्वों में बदल देता है

हेगेल ने प्रत्ययवादी दर्शन के इतिहास का सार प्रस्तुत किया
लेकिन अपनी प्रत्ययवादी अंतर्वस्तु की वजह से उनकी प्रणाली विका
की द्वंद्वात्मक अवधारणा का खंडन करती है। "परम प्रत्यय" मा
करता है कि दार्शनिक विकास अंतिम रूप से पूर्ण हो। सभी द्वंद्वात्म
ज्ञानों के बावजूद सत्ता और चिंतन के तादात्म्य का सिद्धांत सत्ता के
सत्तामीमांसीय ढंग से विवेचित चिंतन में बदल देता है और इस तर
चिंतन के ज्ञानमीमांसीय सिद्धांत को बहिष्कृत कर देता है। ज्ञान सत्
से तद्रूप प्रतीत होता है; ज्ञान की प्रणाली की व्याख्या सत्ता की ए

हुए लिखा: "अपरिमित उतना ही ज्ञेय है जितना कि अज्ञेय" (9, 235)। क्या इसका अर्थ यह है कि दर्शन के भाग्य मे सत्य के मार्ग पर आधी दूरी ही तय करना बदा है? जैसा कि विदित है, निकोलाई हार्तमान्न की "नयी सत्तामीमासा" के समर्थक तथा कई अन्य बुर्जुआ दार्शनिक ऐसा ही निष्कर्ष निकालते हैं। लेकिन एगेल्स के उपर्युक्त उद्धरण का अर्थ मूलत भिन्न है। पहले, यह अपरिमित की असीमता की ओर इशारा करता है अर्थात् इसमे अज्ञात रहनेवाली हर चीज भी अपरिमित है। दूसरे, एगेल्स परिमित और अपरिमित दोनो ही के सज्ञान को एक मूलत एकीभूत प्रक्रिया के रूप मे देखते हैं। उनके अनुसार, " हर वास्तविक, सर्वांगपूर्ण ज्ञान केवल विचार मे वैयक्तिक चीज को वैयक्तिकता से विशिष्टता और विशिष्टता से सार्विकता मे उठाने मे, अपरिमित को परिमित मे, नित्य को अनित्य मे खोजने तथा स्थापित करने मे निहित है" (9,234) ।

विशेष, अनित्य और परिमित के सज्ञान तथा सार्विक, नित्य और अपरिमित के सज्ञान के बीच एकता एक ओर, प्रत्येक विशेष विज्ञान मे व दूसरी ओर दर्शन मे पायी जा सकती है, क्योकि दर्शन ज्ञान के सैद्धातिक एकीकरण का अत्यत सामान्य रूप, सज्ञान के इतिहास का विशिष्ट मूल्याकन है। यह ज्ञान की वैज्ञानिक-दार्शनिक प्रणाली की ऐतिहासिक सीमाए निर्धारित करता है। चूकि नये वैज्ञानिक आकडो तथा नये ऐतिहासिक अनुभव के सामान्यीकरण के जरिये इन सीमाओ का बोध होता है तथा उन्हे पार किया जाता है, इसलिए दर्शन विकसित होता और ज्ञान के नये, उच्चतर स्तर पर उठता है। इस अग्रगामी विकास का आत्मसतोष से कोई वास्ता नही है, दर्शन हमेशा अपने मार्ग पर आगे बढता है।

अत मार्क्सवादी दर्शन निरपेक्ष ज्ञान को अस्वीकार करता है, पर यह निरपेक्ष ज्ञान तथा निरपेक्ष सत्य यानी मूर्त ज्ञान के बीच भेद करता है, जिसका विषय न केवल विशेष बल्कि सार्विक भी हो सकता है। मूर्त विभिन्न परिभाषाओं की एकता है। निरपेक्ष सत्य मूर्त सत्य अथवा सापेक्ष सत्यो की एकता है। लेनिन के शब्दो मे, "विज्ञान के विकास मे प्रत्येक कदम निरपेक्ष सत्य की राशि मे नये कण बढाता है, लेकिन प्रत्येक वैज्ञानिक प्रस्थापना की सत्यता की सीमाए सापेक्ष

ानी है, जो ज्ञान के विकास के साथ कभी विस्तारित, कभी संकुचित
ाती है (10,*14*,135)।

सापेक्ष सत्य वस्तुगत है, अतः कुछ हद तक यह निरपेक्ष सत्य
ी है। वस्तुतः इसी वजह से, सभी भ्रांतियों के बावजूद सज्ञान का
तिहास निरपेक्ष का सज्ञान भी है। लेकिन एंगेल्स के अनुसार, "निरपेक्ष
सज्ञान करनेवाली चिंतन की अपरिमितता परिमित मानव-मस्तिष्कों
अपरिमित संख्या से बनी है, जो इस अपरिमित सज्ञान पर साथ-
थ और सिलसिलेवार ढंग से काम करते हैं, व्यावहारिक और सैद्धा-
क गलतियां करते हैं, असफल, एकांगी तथा गलत प्रस्थापनाओं
आगे बढ़ते हैं, गलत, कष्टपूर्ण और अनिश्चित मार्गों का अनुसरण
ते है तथा अक्सर सही हल से जा टकराने के बावजूद उसे नहीं पाते"
234)। फिर भी, किसी ज्ञान के सापेक्ष, अंतर्विरोधी और
र्ण स्वरूप के बावजूद निरपेक्ष का सज्ञान एक वास्तविक प्रक्रिया
एंगेल्स जोर देते हैं, "प्रकृति का हर सही ज्ञान शाश्वत, अपरिमित
ज्ञान है और इस वजह से यह मूलतः निरपेक्ष है" (9,234)।

विश्व-दृष्टिकोण की वैज्ञानिक-दार्शनिक प्रणाली के रूप में दर्शन
विकसित करते हुए मार्क्सवाद वैज्ञानिक ज्ञान की प्रणाली में दर्शन
स्थान में गुणात्मक परिवर्तन को स्वीकार करता है। इस संबंध में,
आ दार्शनिक यह दावा करते हुए दर्शन के भाग्य पर आंसू बहाते
कि इसकी दशा लगातार खराब होती जा रही है। लेकिन वास्तव
ी प्रत्ययवादी दर्शन की दशा बिगड़ती जा रही है। जहां तक मार्क्स-
दर्शन का सवाल है, यह विकसित वैज्ञानिक ज्ञान की प्रणाली
ढ़ती भूमिका अदा कर रहा है और यह समान विचारों वाले
निकों के संयुक्त अनुसंधान कार्य पर भरोसा करता है। दर्शन में
निक सहयोग के रूप आधुनिक विज्ञान में अनुसंधान के रूपों से
तन मिलते-जुलते हैं। ऐसा दर्शन एक खुली प्रणाली है – स्वभावतः
वास्तविक न कि तथाकथित दार्शनिक उपलब्धियों के लिए खुली।
विश्व-दृष्टिकोण तथा अध्ययन-विधि के दार्शनिक सामान्यीकरण
ों के अनवरत साझे कोष में वैज्ञानिक ज्ञान के एकीकरण को
ित करते है। दर्शन प्राकृतिक तथा सामाजिक विज्ञानों की उप
यों को आत्मसात् करता है। विशेष विज्ञान दार्शनिक विकास के

परिणामों को आत्मसात् करते है। दार्शनिक समस्याए बुनियादी वैज्ञानिक अनुसंधान के प्राय हर क्षेत्र मे उठती हैं। दर्शन और विशेष विज्ञानों की सीमाओ पर विशिष्ट वैज्ञानिक तथा दार्शनिक और विश्व-दृष्टिकोण सबधी गुणात्मक रूप मे नयी समस्याए पैदा हो रही है। वैज्ञानिक दर्शन न केवल अपनी अतर्वस्तु मे, बल्कि कार्य-विधि मे भी सामाजिक चेतना बनता है। क्या इसका अर्थ यह नही है कि भविष्य विज्ञान के रूप मे, विज्ञान तथा विश्व-दृष्टिकोण के बारे मे ज्ञान की एक विकासमान प्रणाली के रूप मे दर्शन की और बडी मान्यता का आश्वासन देता है?

दर्शन और सामान्य चेतना

दर्शन की परम्परागत सदियों पुरानी अवधारणा दार्शनिक चिंतन को "अचिंतनशील" सामान्य चेतना से भिन्न मानती है। सामान्य चेतना अज्ञानी लोगों सहित सबमें विद्यमान बतायी जाती है। स्वतः तया सामान्य चेतना तथा इसके आधार दैनंदिन अनुभव के प्रति आलोचनात्मक रुख आवश्यक और उचित है। लेकिन दर्शन का इतिहास सिद्ध करता है कि सामान्य चेतना और दैनंदिन अनुभव की परम्परागत दार्शनिक आलोचना सामान्यतया दैनंदिन सामाजिक जीवन की इन परिघटनाओं के साथ दर्शन (और विज्ञान) के आवश्यक सहज संबंध को समझने में असमर्थ है। "दर्शन और दैनंदिन अनुभव" के सहसंबंध को केवल विलोमों की एकता के रूप में ही सही ढंग से समझा जा सकता है, जिनमें अंतर्विरोध ही नहीं तादात्म्य के अंश भी निहित होते हैं।

परिकल्पनात्मक-प्रत्ययवादी दर्शन द्वारा संसार की भौतिकवादी समझ के बारे में फैसला आम तौर से निम्नलिखित है : भौतिकवाद दर्शन नहीं, बल्कि सामान्य चेतना है, जो बौद्धिक सभ्यता से रहित अपने पूर्वाधारों के प्रति अनालोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाता है और इंद्रिय-अनुभूतियों तथा उनकी सत्यता में अपने विश्वास के आलोचनात्मक विश्लेषण की आवश्यकता पर तनिक भी संदेह नहीं करता। चूंकि सामान्य चेतना परिकल्पनात्मक मिथक नहीं, बल्कि वास्तव में अस्तित्वमान चीज है, हमें वस्तुगत संसार के प्रतिबिंबन के इस रूप के प्रति भौतिकवाद तथा प्रत्ययवाद के सही रुख की जांच करनी चाहिए। सामान्य चेतना का अध्ययन समाजविज्ञान, इतिहास, सामाजिक मनोविज्ञान, नृजातिविज्ञान और दूसरे विज्ञान कर सकते हैं। पर यहां हम समस्या के ज्ञानमीमांसीय और ऐतिहासिक-दार्शनिक पहलुओं पर विचार-विमर्श करेंगे।

ऐतिहासिक भौतिकवाद सामाजिक तथा वैयक्तिक चेतना के बीच भेद करता है। बेशक, वैयक्तिक चेतना भी सामाजिक है। लेकिन कला, नैतिकता, धर्म तथा सामाजिक चेतना के अन्य रूपो के विपरीत यह व्यक्तियों की प्रत्यक्ष चेतना है। एंगेल्स के अनुसार, चिंतन "विगत, वर्तमान और भविष्य काल के अरबो मनुष्यो के केवल वैयक्तिक चिंतन के रूप मे ही" (8,105) पाया जाता है। यही बात सामान्य चेतना पर भी लागू होती है सामाजिक चेतना का यह रूप मनुष्यो के उद्देश्यपूर्ण और योजनाबद्ध सज्ञानात्मक कार्यकलाप पर सीधे नही निर्भर करता। सामान्य चेतना (तथा उसके आधार दैनदिन अनुभव) का विकास प्राय एक स्वतस्फूर्त प्रक्रिया है और इसके तत्वो मे अनैच्छिक स्मृति शामिल है। दैनदिन अनुभव का एक बडा हिस्सा अलक्षित रूप मे प्राप्त होता है, सिर्फ इस वजह से कि मनुष्य रहता, दूसरे लोगो के सपर्क मे जीता है, अपने वातावरण का बोध, निजी और सामाजिक जीवन की घटनाओ की अनुभूति प्राप्त करता है, जिसके दौरान वह इस बात पर ध्यान नही देता कि किस चीज ने उसकी चेतना पर अपनी छाप छोडी है तथा उसके निजी अनुभव का अग बन गयी है।

सामान्य चेतना बहुस्तरीय, जटिल और अतर्विरोधी सत्व है, जो ऐसी बहुविध अनुभूतियो, मनोभावो और धारणाओ के समुच्चय से बनता है, जो मनुष्यो के जीवन की अपेक्षाकृत निरतर और सुपरिचित परिस्थितियो के प्रभावातर्गत उत्पन्न होती हैं तथा सतत पुनरुत्पादित होती हैं। ऐतिहासिक रूप से विकसित हो रहा दैनदिन अनुभव तथा इसकी सहवर्ती सामान्य चेतना जीवन की इन विविध परिस्थितियो तथा उनमे होनेवाले ऐतिहासिक परिवर्तन और विकास के अनुरूप होते है। यह अनुभव सामान्य चेतना के जरिये समझा जाता है तथा सज्ञान और व्यावहारिक कार्यकलापो मे लागू किया जाता है। सामान्य चेतना की धारणाओं के साथ हमारा सर्वत्र सामना होता है। यह सबसे पहले इद्रियानुभविक धारणाए हैं, जो अज्ञात सापेक्ष सत्यों और अज्ञात भ्रमो तथा भ्रातियो से बनती है पानी १००° से० तापमान पर खौलने लगता है, सोना जग नही खाता, सूर्योदय सुबह को और सूर्यास्त शाम को होता है, बचत बैको मे जमा पैसा ब्याज देता है। युग-युगो के दौरान परिष्कृत सूक्तियां सामान्य चेतना की उत्कृष्ट अभिव्यक्तिया है उनमे

लोक-बुद्धिमत्ता, दलित तथा उत्पीड़ित लोगों की वर्गीय सहज[illegible]
लोगों की आशाएं और आशंकाएं भरी होती हैं।

मार्क्स ने अपने आर्थिक तथा ऐतिहासिक अध्ययनों में दि[illegible]
कि सतही राजनीतिक अर्थशास्त्र बुर्जुआ वर्ग की उन सामान्य धारण[illegible]
को दर्ज करता और सैद्धांतिक रूप से पुष्ट करता है, जिनके अनु[illegible]
भूमि किराया पैदा करती है, पूंजी – मुनाफा और श्रम – वेतन मजदू[illegible]
मार्क्स ने इन धारणाओं के अवैज्ञानिक सार को प्रकट किया, जि[illegible]
सतही राजनीतिक अर्थशास्त्र ने ऊंचा उठाकर सैद्धांतिक जड़सूत्र [illegible]
दिया और सिद्ध किया कि केवल जीवित श्रम ही मूल्य, बेशी मू[illegible]
तथा इसके रूपांतर पैदा करता है। इसके साथ ही, उन्होंने यह [illegible]
स्पष्ट किया कि सतही राजनीतिक अर्थशास्त्रियों का गलत फार्मू[illegible]
निश्चित यथार्थ को प्रकट करता है, क्योंकि पूंजी का मालिक वास्त[illegible]
में मुनाफा पाता है, भूस्वामी किराया पाता है और श्रमिक अपने श्र[illegible]
की मजदूरी पाता है। इस सूरत में सामान्य बुर्जुआ चेतना पूंजीवादी
उत्पादन संबंधों को सतही रूप में प्रकट करती है। यह सर्वसाधारण [illegible]
उत्पादित बेशी मूल्य के पूंजीपतियों के विभिन्न समूहों के बीच पु[illegible]
र्वितरण की विशिष्ट पूंजीवादी विधियों को प्रकट करता है।

मार्क्स ने दिखाया कि टुटपुंजिया-बुर्जुआ विचारधारा सैद्धांतिक
रूप से टुटपुंजिया बुर्जुआ वर्ग की दैनंदिन धारणाओं का सार पेश करती
है [illegible] अपने सैद्धांतिक रूप के बावजूद यह वर्ग पूर्वाग्रहों से ऊपर
नहीं उठता। हालांकि इसके सिद्धांतकारों की शिक्षा और वैयक्तिक
स्थिति टुटपुंजिया बुर्जुआ वर्ग से काफी भिन्न हो सकती है, फिर भी
वे इसी वर्ग के प्रतिनिधि प्रतीत होते हैं, क्योंकि "उनके दिमाग उस
[illegible] जिसे टुटपुंजिया बुर्जुआ वर्ग [illegible]
[illegible] सैद्धांतिक रूप से वे उन्हीं समस्याओं
[illegible] भौतिक हित और सामाजिक स्थिति
[illegible] में करती है" (1, II, 130-131)।
[illegible] सैद्धांतिक समाजवादी विचार
[illegible] टुटपुंजियावादी चेतना पर [illegible]
[illegible]
[illegible] की आवश्यकता को [illegible]

गत धार्मिक विचारों के साथ टकराती है, जो मनुष्य की चेतना में न केवल विरोधी सामाजिक संबंधों, बल्कि पालन-पोषण और शिक्षा के जरिये भी अंकित होते है। यह विभाजन ईश्वर को मानतेवाले व्यक्ति को वस्तुओं तथा स्वयं अपने जीवन को दो बिल्कुल विरोधी, मूलतः एक दूसरे का अपवर्जन करनेवाले दृष्टिकोणों से आकने के लिए विवश करता है। स्वभावतया वह न तो अपनी धार्मिकता और अधार्मिकता के बीच तालमेल बिठाना स्वीकार कर पाता है, न ही अपने उन संदेहो को दूर कर पाता है, जिनकी गहरी, सामाजिक जड़ें उसकी समझ में नही आती।

अतः सामान्य चेतना को सिर्फ इसके वास्तविक आधार दैनंदिन अनुभव तक ही सीमित नही किया जा सकता। यह वास्तविक इहलोक और अनस्तित्वमान परलोक दोनों के अभिमुख है। इसलिए सामान्य चेतना तथा सहजबुद्धि को गड्डमड्ड करना गलत है, हालांकि इसमें संदेह नही कि सहजबुद्धि सामान्य चेतना की अनिवार्य, जीवन रूप में महत्व-पूर्ण अंतर्वस्तु है।

चूंकि सामान्य चेतना निजरूप बनी रहती है यानी संसार की वैज्ञानिक व्याख्या तक ऊपर नही उठती, इसलिए यह अपनी अंतर्वस्तु का आलोचनात्मक रूप से विश्लेषण करने मे असमर्थ है–इसमें वास्तविक और अविवेकपूर्ण विचार टकराते, एक दूसरे में व्याप्त होते और धुल-मिल जाते हैं। अविवेकपूर्ण विचार न केवल धार्मिक, बल्कि अवैज्ञानिक और विज्ञान-विरोधी भी हो सकते हैं। यही वजह है कि विवेकपूर्ण सहजबुद्धि अक्सर वास्तविक विवेक से बहुत दूर होती है।

'दर्शन के इतिहास पर व्याख्यान' मे हेगेल दीतिस सिदेमान्न के इस दावे ('परिकल्पनात्मक दर्शन की आत्मा' मे) का व्यंग्यात्मक ढंग से उल्लेख करते हैं कि शोपी सहजबुद्धि के मनुष्य से बहुत आगे जाता है। इस संबंध मे हेगेल जोर देते है कि प्रत्येक दार्शनिक मनुष्य की "सहजबुद्धि से आगे जाता है, क्योंकि जिस चीज को आम तौर से सहजबुद्धि कहा जाता है, वह दर्शन नही है और अक्सर दर्शन से बहुत कम विवेकपूर्ण होती है। सहजबुद्धि में समकालीन चिंतन का रूप, सूक्तियां और पूर्वाग्रह शामिल है... और यह अपने समय की उन बौद्धिक परिभाषाओं से अनभिज्ञ रहती है, जो इसे निदेशित करती

है" (64,*14*,36)। लेनिन 'दर्शन के इतिहास पर व्याख्यान' सबधी अपनी टिप्पणियो मे हेगेल के इस उद्धरण का हवाला देते है और इसके आगे यह लिखते है - "सहजबुद्धि — समकालीन पूर्वग्रह" (10,*38*, 273)। इस सूत्र को हेगेल की प्रस्थापना के सार तथा इसकी सापेक्ष सत्यता की स्वीकृति के रूप मे देखा जाना चाहिए न कि सहजबुद्धि के लेनिन के मूल्याकन के रूप मे। लेनिन की अनेक टिप्पणियो से साफ है कि उन्होंने सामान्य चेतना के एकतरफा मूल्याकनो को दृढतापूर्वक अस्वीकार किया। मसलन, इस बात का जिक्र करते हुए कि "सहज-बुद्धि" भौतिकविज्ञान मे नवीनतम उपलब्धियो को अजूबा मानती है (10,*14*,261), लेनिन दैनदिन अनुभव पर आधारित विचारो से बुद्धिसगत अतर्वस्तु को हटाने के हेगेल के प्रयासो की निदा करते हैं, जो न केवल इन विचारो को जन्म देता है, बल्कि उन्हे दिन-प्रतिदिन जाचता, सुधारता और प्रमाणित भी करता है। जब हेगेल घोषणा करते हैं कि "अनुभूत सत्ता" की सत्यता की एपिक्यूरस की स्वीकृति "सामान्य सहजबुद्धि के दृष्टिकोण से ऊपर नही उठती," तो लेनिन जोर देते हैं कि यह आलोचनात्मक टिप्पणी भौतिकवाद के सार को विकृत करती है "सहजबुद्धि के साथ असहमति प्रत्ययवादी की दूषित सनक है" (10,*38*,291)।

वैज्ञानिक, दार्शनिक और सामान्य विचारो के बीच भेद करने की आवश्यकता प्राचीन काल मे ही महसूस कर ली गयी थी डेमोक्रिटस ने माग की कि जो सत्य है तथा जो सिर्फ मतो मे अस्तित्वमान है, उनके बीच भेद *किया जाना* चाहिए। फ्रांसिस बेकन के व्यामोहो के सिद्धात मे भी सामान्य चेतना और, जो कम महत्वपूर्ण नही है, सामान्य भाषा की आलोचना है। लेकिन उनकी आलोचना सामान्य चेतना के सज्ञानात्मक मूल्य का निषेध नही, बल्कि इसे परिष्कृत बनाने, इसके विचारो को सशोधित करने, इसमे विद्यमान सत्य को ध्यान मे रखने तथा आगे बढने की कोशिश है। भौतिकवादी परपरा को रचनात्मक ढग से विकसित करते हुए द्वद्वात्मक भौतिकवाद ने सिद्ध किया कि सैद्धातिक ज्ञान और प्रत्यक्ष इद्रियगत अनुभूतियो के बीच अतर्विरोध इद्रियगत अनुभूतियो के महत्व को जरा भी कम नही करता। फलस्वरूप, यह अमूर्त विचारो के इद्रियगत उद्गमो के बारे मे सवेदनवादी स्थापना

का खंडन नहीं करता। सामान्यतः बौद्धिक तथा इंद्रियगत के बीच का द्वंद्वात्मक अन्तर्विरोध सामान्य चेतना के लिए अबोधगम्य है, क्योंकि यह केवल उसी चीज की अपनी मान्यता पर दृढ़ रहता है, जिसकी इंद्रियों द्वारा पुष्टि की जा सके। इसी वजह से सहजबुद्धि के विचार और मानक, जो यथार्थता के निश्चित पहलुओं को कमोबेश पर्याप्त रूप में प्रतिबिंबित करते हैं, वैज्ञानिक अध्ययन का मार्गदर्शन नहीं कर सकते। वैज्ञानिक अध्ययन का क्षेत्र असीम रूप से बड़ा और उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण है, जिसका सामान्य चेतना अध्ययन करती है और यह अनिवार्यतः इसकी क्षमता को सीमित करता है। वैज्ञानिक धारणाओं और सहजबुद्धि के बीच टकराव वैज्ञानिक धारणाओं का खंडन नहीं करता। केवल विज्ञान या व्यवहार ही उनका खंडन या पुष्टि कर सकते हैं। एंगेल्स ने लिखा "विवेकपूर्ण सहजबुद्धि रोजमर्रा के साधारण जीवन के सीमित क्षेत्र के भीतर तो अवश्य आदर की पात्र है, किन्तु जब वह वहां से बाहर निकलकर अनुसंधान के व्यापक क्षेत्र में पैर रखती है, तो बस उसी क्षण से चमत्कारपूर्ण घटनाएं घटने लगती हैं" (९,31)।

यह सर्वविदित है कि कैसे सामान्य सहजबुद्धि ने सूर्यकेन्द्रीय प्रणाली, अयूक्लिडीय ज्यामिति तथा सापेक्षता-सिद्धांत के विरुद्ध संघर्ष किया। लेकिन सामान्य चेतना ने ही नहीं, बल्कि विज्ञान जगत में कोपर्निकस के दकियानूसी समकालीनों ने भी सूर्य के चारों ओर पृथ्वी की परिक्रमाओं या लोबाचेव्स्की के ज्यामितीय प्रमेयों और आइंस्टीन के सिद्धान्तों को, जैसा कि तब वे विरोधाभासी प्रतीत होते थे, मानने से इन्कार कर दिया। दकियानूसी वैज्ञानिक सहजबुद्धि से प्रेरित होकर किसी ने दावा किया कि "यह बिल्कुल असम्भव है क्योंकि यह हो नहीं सकता"।

[illegible] सामान्य चेतना और वैज्ञानिक चेतना के बीच के अन्तर को [illegible] हुए हमें सामान्य चेतना की विशिष्टता को नजरअंदाज नहीं करना चाहिए। यह न केवल मनुष्य के दैनिक कार्यकलाप के भीतर सामान्य [illegible] [illegible] काम और [illegible] उत्पादन कार्यों में ज्ञान [illegible] [illegible] [illegible] है, यह अनेक वैज्ञानिक सिद्धान्तों के लिए भी [illegible] प्रस्तुत करता है, जिसके कि लिए [illegible] वैज्ञानिक [illegible]

और अनघ्य है। सामान्य चेतना का यह नकारात्मक मूल्यांकन हेगे
के दर्शन के तर्कबुद्धिवादी-प्रत्ययवादी स्वरूप से उत्पन्न हुआ, जिस
दावा किया कि इंद्रियों के जरिये अनुभूत बाह्य जगत् मात्र एक आभा
(भले ही वस्तुगत) है और कि यह केवल सामान्य चेतना का क्ष
क्षेत्र है। हेगेल ने दावा किया कि दर्शन सामान्य चेतना से इस अर्थ
में भिन्न है कि यह उस चीज़ को सिर्फ़ एक आभास के रूप में देखत
है, जिसे सामान्य चेतना अस्तित्वमान सत्ता के रूप में पेश करती है।

सामान्य चेतना का ठोस ऐतिहासिक विश्लेषण एक ऐसे निष्कर्ष
पर ले जाता है, जो हेगेल के दर्शन से उसकी ऐतिहासिकता के बावजू
बिल्कुल पराया था· सामान्य चेतना की अधिभूतवादी विशेषता
उसी युग की उपज है, जिसने विज्ञान में अधिभूतवादी चिंतन को ज
दिया।* सामान्य तथा असामान्य (वैज्ञानिक, दार्शनिक) चेतना
बीच पूर्ण विरोध नहीं है। सामान्य चेतना का अलग-थलग ढंग से अस्ति
नहीं है और वर्तमान समय में यह उतनी सामान्य नहीं है, जित
कि यह १०० साल पहले थी। संक्षेप में, यह विकसित होती है
लेकिन यह लुप्त नहीं होती, यह अधिक बौद्धिक बन जाती है, क्यों
इसपर संस्कृति तथा शिक्षा का प्रभाव पड़ता है और यह वैज्ञानि
विचारों से प्रेरित होती है। लेकिन फिर भी, यह सामान्य तथा साधारण
बनी रहती है। यही बात साधारण, दैनंदिन अनुभव पर भी ल
होती है, जो विज्ञान के विशेष अनुभव की तुलना में सीमित होत
है। सामान्य चेतना अनुभव और ज्ञान प्राप्त करती है, वैज्ञानिक विचारों
और धारणाओं को आत्मसात् करती है, पर यह उनके सत्यतात्मक
मूल्य को आंकने में स्वतंत्र नहीं है। लोग प्राप्त ज्ञान का उपयोग

---

* एंगेल्स ने सामान्य बुर्जुआ सहजबुद्धि की अधिभूतवादी सीमाओं
को इंगित किया· "बेशक साधारण बुर्जुआ मस्तिष्क का मरियल घोड़ा
सारतत्व को आभास से और कारण को कार्य से अलग करनेवाले
गड्ढे के सामने किंकर्तव्यविमूढ़ होकर लड़खड़ाने लगता है, परंतु
अगर किसी का इरादा अमूर्त तर्क की ऊबड़-खाबड़ भूमि पर दौड़ते
हुए जाने का हो तो उसे मरियल घोड़े की सवारी नहीं करनी चाहिए"
(6.223)।

सकती, क्योकि इस सूरत मे किसी भी गति का कालसापेक्ष आरभ नही होता। अत किसी ऐसी चालक चीज का अवश्य अस्तित्व होना चाहिए, जो स्वय गतिहीन होते हुए गति प्रदान करती है अर्थात प्रथम कारण।

थोमस एक्विनस तथा उनके मध्यकालीन अनुयायियो ने सहजबुद्धि के रहस्यमयीकरण के जरिये इस मानव-योग्यता से अपील का समर्थन एक निर्विवाद चीज के रूप मे किया, जो, उन्होंने दावा किया, सभी मनुष्यो के लिए बिल्कुल एक-जैसी होती है, चाहे उनके जीवन की परिस्थितिया कैसी भी हो और प्राप्त ज्ञान कुछ भी हो, यानी यह सहजात, मानव-आत्मा को ऊपर से मिली एक चीज़ है। मिसाल के लिए, १६वी सदी मे प्रकाशित थोमसवादी 'दार्शनिक विज्ञानो का विश्वकोश' ने दावा किया कि सहजबुद्धि "सभी लोगो और सभी युगो मे बिल्कुल एक-जैसी ही होती है, यह न आगे बढती है, न पीछे हटती है। यह, अगर ऐसा कह सके तो, अपनी आद्य स्थिति (l'état brut) मे बुद्धि है, चिंतन से रहित, विज्ञान से रहित बुद्धि" (75,971)। स्पष्टत चितन या शिक्षा से अदूषित ऐसी l'état brut बुद्धि सहज ही स्वीकार कर लेती है कि ईश्वर का अस्तित्व तर्कसगत ढग से प्रमाण्य है। इससे यह भी साफ है कि क्यो आधुनिक थोमसवादी दैनदिन अनुभव (मानो यह मानव-प्रकृति की अपरिवर्तनीयता से उत्पन्न होता हो) की अपरिवर्तनीयता के बारे मे अपने मध्यकालीन पूर्ववर्तियो के विचारो से पूरी सहमति प्रकट करते हैं। इस दृष्टिकोण से, दर्शन केवल तभी अपनी धारणा से मेल खाता है (यानी प्रामाणिक दार्शनिक ज्ञान के रूप मे काम करता है), जब यह मात्र उस दैनदिन अनुभव से जुड़ा हुआ हो, जिसकी अतर्वस्तु की यह व्याख्या करता है। इस सूरत मे, दर्शन विज्ञान से स्वतत्र है, जो न तो दर्शन के मूलतत्वो का खडन, न ही पुष्टि कर सकता है, क्योकि विज्ञान विशेष यानी वैज्ञानिक अनुभव का अध्ययन करता है।

नव-थोमसवाद के अनुसार, सभी दार्शनिक समकालीन होते हैं, क्योकि वे सभी उसी, मानो हमेशा अपरिवर्तनीय और एक-जैसे दैनदिन अनुभव का अध्ययन करते हैं। इस अनुभव मे न पुष्टि, न खडन होता है, यह न सही है, न गलत, बल्कि यथार्थता तथा अपने निजी

यथार्थता की स्वीकृति को इद्रियो द्वारा प्रस्तुत प्रमाणो पर आधारित नही किया जा सकता, क्योकि ये प्रमाण केवल वही तक मूल्यवान है, जहा तक उनमे विश्वास किया जाता है। सहजबुद्धि विश्वास की वह मूल योग्यता है, जो इद्रिय-अनुभूति तथा चितन से पहले होती है तथा बाह्य जगत् और ईश्वर दोनो की स्वीकृति पर ले जाती है। इस दृष्टिकोण से, ईश्वर मे अविश्वास सहजबुद्धि के वैसे ही विपरीत है, जैसे कि इद्रियो द्वारा अनुभूत वस्तुओ की वास्तविकता पर अविश्वास करना। अत रीड के अनुसार, धार्मिक विश्वास की अस्वीकृति का अर्थ बाह्य जगत् की यथार्थता की अस्वीकृति के समान है।

अत भौतिकवाद तथा प्रत्ययवाद दोनो ही ने अक्सर सहजबुद्धि का प्रतिनिधित्व करने का दावा किया। और हालाकि अपने मूलभूत अतर्विरोधो की वजह से सामान्य चेतना स्पष्टत विपरीत दर्शनो का पोषण करती है फिर भी कहा जाना चाहिए कि इस चेतना मे प्रतिबिंबित दैनदिन अनुभव – सपूर्ण मानवजाति का अनुभव, जो सामाजिक व्यवहार *द्वारा समृद्ध बनता और पुष्ट होता है – प्रत्ययवाद का खडन* करता तथा भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण के एक प्रस्थान-बिंदु का काम करता है। लेनिन ने दैनदिन चेतना और दर्शन के बीच सबध के प्रश्न के इस बहुत महत्वपूर्ण पहलू पर बार-बार जोर दिया। उन्होंने उन प्रत्ययवादियो की आलोचना की, जिन्होंने सामान्य चेतना के "भोले-भाले यथार्थ" का उपयोग अपनी भौतिकवाद-विरोधी अवधारणाओ को पुष्ट करने के लिए किया। उनमे से एक आत्मगतवादी प्रत्ययवादी दार्शनिक जार्ज बर्कले थे, जिन्होंने कहा "मैं सहजबुद्धि की सफाई पेश करने का प्रयास करता हू" (37,102)। आत्मगतवादी-प्रत्ययवादी प्रणाली के ढाचे मे पहली नजर मे बिलकुल विरोधाभासपूर्ण लगने वाला यह दावा स्पष्ट हो जाता है, यदि हम यह याद करे कि बर्कले ने दैनदिन अनुभव पर *आधारित इद्रियानुभववाद की व्याख्या प्रत्ययवादी ढग* से की। वर्तमान समय मे, प्रत्ययवादी इद्रियानुभववाद अक्सर सामान्य सहजबुद्धि के प्रति अपनी निष्ठा की घोषणा करता है। उदाहरण के लिए, अपनी आत्मगतवादी-अज्ञेयवादी ज्ञानमीमासा की पुष्टि करते हुए बार्न पोप्पेर घोषणा करते हैं "मैं हमेशा ही सहजबुद्धि का दार्शनिक और सहजबुद्धि का यथार्थवादी था मैं दर्शन मे किसी भी प्रत्ययवाद,

प्रत्यक्षवाद या तटस्थवाद का विरोधी था" (90,322-23)।
लाक्षणिक है कि आधुनिक बुर्जुआ प्रत्ययवादी दार्शनिक प्र
छद्मनिषेध को दैनंदिन अनुभव के साथ सहमति के रूप मे
हैं। यह इस बात का अप्रत्यक्ष प्रमाण है कि दैनंदिन अनुभ
अंतर्वस्तु भौतिकवाद के पक्ष मे है। चार्ल्स पियर्स पर अ
मे सोवियत दार्शनिक यू० क० मेल्विल जोर देते हैं कि अ
वहारिकतावाद के संस्थापक ने अपने सिद्धांत का वर्णन "आ
सहजबुद्धि" के दर्शन के रूप मे किया। इस दृष्टिकोण मे
ऐसे विचारो तथा विश्वासो का समुच्चय है, जो "पी
हस्तांतरित मानव-अनुभव के परिणाम होते हैं" (29,38
लेनिन ने आत्मगतवादी-प्रत्ययवादी इंद्रियानुभववाद को
रहित सामान्य चेतना के दृष्टिकोण के रूप मे चित्रि
माखवादी प्रयासो की आलोचना की, जो कथित रूप मे केवल
और उनके समुच्चयो को ही जानती है और किसी ऐसी
को स्वीकार करने से इन्कार करती है, जिसकी अनुभूति
सकती। लेनिन ने लिखा: "'भोले-भाले यथार्थवाद'
जिसकी मानो इस दर्शन द्वारा रक्षा की जाती है, सबसे
का हेत्वाभास है। किसी भी ऐसे स्वस्थ व्यक्ति का
यथार्थवाद', जो पागलखाने का निवासी या प्रत्ययवादी
शिष्य नहीं रहा है, इस विचार मे है कि चीजें, वाता
हमारी अनुभूति मे, हमारी चेतना से, हमारे अहम् से और
मनुष्य से स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं भौतिकवाद मानवजा
भाले' विश्वास को सचेत ढंग से सज्ञान के अपने सिद्धांत
बनाता है" (10.14,69-70)।*

यहा तक कि अपने अविकसित रूप मे भी भौतिकवाद भोले-भाले यथार्थवाद से काफी आगे जाता है और दैनंदिन चेतना के पूर्वाग्रहो तथा इंद्रियानुभविक अंतर्वस्तु का आलोचनात्मक ढग से विश्लेषण करता है। अपने अधिक विकसित आधुनिक रूप में भौतिकवाद वस्तुगत यथार्थता के सक्रिय प्रतिबिंबन-सज्ञान, प्रतिबिंबन-अध्ययन के द्वंद्ववाद की जाच करता है, इंद्रिय-अनुभूति द्वारा बाह्य जगत् के प्रत्यक्ष प्रतिबिंबन के बारे मे, विषय के साथ उसके प्रतिबिंबित रूप के तादात्म्य के बारे मे भोले-भाले विचार को सशोधित करता है। यह दृष्टिकोण भोले-भाले यथार्थवाद का द्वंद्वात्मक निषेध है, पर इसमे निहित सत्य को बनाये रखते हुए तथा विकसित करते हुए ही। स्पष्ट है कि भौतिकवादी और खास तौर से द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी दर्शन के सिद्धात केवल सामान्य चेतना और इसके लिए लाक्षणिक इंद्रियानुभविक विचारो की सीमाओ से आगे ही नही जाते, *बल्कि इंद्रियानुभविक विचारो का खंडन भी करते है।* सामान्य चेतना, जहा तक यह सगत वैज्ञानिक अवधारणाओ से प्रभावित न हो, *भूतद्रव्य की स्वगति, परस्पर-निर्धारक तथा परस्पर-अपवर्जक* विलोमों, आदि को समझने मे असमर्थ है। और यह सामान्य चेतना के अधिभूतवादी (जैसा कि हेगेल ने दावा किया) स्वरूप का नही, बल्कि इस चीज का परिणाम है कि द्वंद्वात्मक चिंतन की अंतर्वस्तु इतनी विविध है कि वह व्यक्तियो के सीमित दैनंदिन अनुभव के ढाचे मे नही आ सकती।

आधुनिक प्रत्यक्षवाद, जो मार्क्सवाद मे गणितीय और तार्किक प्रस्थापनाओ के इंद्रियानुभविक मूल की अपनी अस्वीकृति मे भिन्न है, "भोले-भाले यथार्थवाद" के साथ एकजुट नही होता, बल्कि उल्टे, इसे ससार के एक अवैज्ञानिक अवबोधन के रूप मे अस्वीकार करता है। सहजबुद्धि के स्वतःस्फूर्त भौतिकवादी विचारो पर काबू पाने का प्रयास करते हुए, नव-प्रत्यक्षवादी प्राय सदा इसपर धर्मशास्त्रीय पूर्वाग्रह का आरोप लगाते है। वे सिद्धात रूप मे तर्कबुद्धि और पूर्वाग्रह के बीच भेद करने, सामान्य चेतना के अंतर्विरोधो का विश्लेषण करने से इन्कार करते हैं। उदाहरणार्थ फिलिप फ्रांक भौतिकवाद तथा प्रत्ययवाद के बीच भेद करनेवाले दार्शनिक शब्दो को दार्शनिक शब्दकोश मे इस वजह से निकाल देने का सुझाव देते है कि वे जिन धारणाओ को

सूचित करते हैं, वे ऐतिहासिक रूप से सामान्य चेतना के दिमाग मे जड जमायी होती हैं। 'विज्ञान का दर्शन' मे वह लिखते हैं: "'भूतद्रव्य', 'चेतना', 'कार्य-कारण सबध' जैसी अभिव्यक्तिया आम तौर सहजबुद्धि के शब्द हैं और इनका यथातथ्य वैज्ञानिक वाद-विवाद मे कोई स्थान नही है" (55,45-46)। अपनी इस पुस्तक मे दूसरे स्थान पर वह लिखते हैं: "विज्ञान के दर्शन मे मुख्य समस्या इस प्रश्न के बारे मे है कि हम सहजबुद्धि के वक्तव्यो से सामान्य वैज्ञानिक सिद्धातो पर कैसे पहुचे" (55,2)। यह प्रस्थापना एक महत्वपूर्ण ज्ञानमीमासीय समस्या को सही ढग से पेश करती है, जिसे नव-प्रत्यक्षवाद हल करने मे असमर्थ है, क्योकि यह विज्ञान और दैनदिन अनुभव को पूरी तरह से विरोधी स्थितियो मे रखता है। नव-प्रत्यक्षवाद के अनुसार, चूकि भूतद्रव्य, चेतना तथा नियतत्ववाद के अस्तित्व को स्वीकार करता है, इसलिए यह सामान्य चेतना और इसकी भाषा के स्तर पर बना रहता है। यह दावा विज्ञान की उपलब्धियो को असगत ढग से पेश करता है, जिसने भूतद्रव्य के अमूर्त रूपो की खोज की है, मानसिक कार्यकलापो के आतरिक शरीरक्रियावैज्ञानिक क्रियाविधि को प्रकट किया है तथा नियतत्ववाद की यत्रवादी धारणाओ को त्याग दिया है। लेकिन इन खोजो तथा सबद्ध वैज्ञानिक निष्कर्षो का अर्थ यह नही है कि "भूतद्रव्य" की धारणा के साथ काम करनेवाला वैज्ञानिक सहजबुद्धि के दृष्टिकोण से ऊपर नही उठता।

युग-युगों पुराने प्रश्नों के साथ सभी पूर्ववर्ती दर्शनों को अस्वीकार करती है। इन प्रश्नों को ऐसे असत्यापनीय और अप्रमाण्य विचारों के अव्यवस्थित ढेर के रूप में पेश किया जाता है, जो सामान्य चेतना से ऊपर उठने में असमर्थ है तथा ऐसे प्रश्नों की भोले-भाले ढंग से जांच करते हैं जिनके उत्तर नहीं दिये जा सकते, क्योंकि वे वास्तविक अंतर्वस्तु से रहित काल्पनिक प्रश्न हैं। वस्तुत यही अर्थ विर्तगेन्स्टेइन के इस दावे का है कि जिस चीज पर बात नहीं की जा सकती उसके बारे में चुप ही रहना चाहिए।* इसका अर्थ यह है कि उचित (शब्द के "आधुनिक" यानी नव-प्रत्यक्षवादी अर्थ में) दार्शनिक शिक्षा से रहित लोग ही इस बात पर तर्क-वितर्क करते हैं कि संसार परिमित है या अपरिमित, ज्ञेय है या अज्ञेय, आदि। लेकिन दार्शनिक (नव-प्रत्यक्षवादी) चुप ही रहता है इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया जा सकता क्योंकि ये छद्म प्रश्न हैं। पर युग-युगों पुरानी दार्शनिक चेतना को सामान्य चेतना के रूप में पेश करते हुए नव-प्रत्यक्षवादी इस चीज को ध्यान में नहीं रखते कि तथाकथित अधिभूतवाद – यानी दर्शन की वास्तविक समस्याओं – का उनका परित्याग सामान्य सहजबुद्धि की स्थिति से मिलता-जुलता है, जो दार्शनिक प्रश्नों से मुह फेर लेती है और उनपर विचार-विमर्श को गंभीर लोगों के लिए सारहीन बुद्धिविलासिता मानती है।

सामान्य चेतना रमणीय, शात और सभवत निश्चित प्रतीत होती है, बशर्ते कि उसपर ज्ञानमीमासीय दृष्टिकोण से देखा जाये यानी इंद्रियानुभविक आत्म-चेतना, बाह्य वातावरण की समझ के रूप में, बुद्धिसगत ढंग से तर्क करते हुए कि अहम् अहम् है, अत अहम् बादल, चट्टान, गधा, आदि नहीं है। लेकिन अगर दूसरे दृष्टिकोण से, वस्तुत दैनंदिन अनुभवों – यानी सभी खुशियों, दुखों, आशाओं और निराशाओं

---

* विर्तगेन्स्टेइन यहा स्पष्टत नीत्से के इस दृष्टिकोण को दुहराते हैं "कुछ परिस्थितियों में, जैसा कि सूक्ति इशारा करती है, केवल तभी दार्शनिक बना रहा जा सकता है, यदि चुप्पी साधे रखी जाये" *(89,2,14)*। यह प्रत्यक्षवादी विज्ञानवाद द्वारा अतर्कबुद्धिवादी स्थापनाओं पर अपना सिद्धात गढने का एकमात्र मामला नहीं है।

जिनसे सामान्य जीवन बनता है – वे समुच्चय के रूप में देखा जाये, तो सामान्य चेतना निरन्तर अशान्त रहती है। उसकी तुलना में वैज्ञानिक और दार्शनिक चेतना प्राचीन यूनानी चिंतकों की पूर्ण विरक्ति जैसी किसी चीज की भांति है। सामान्य चेतना के इस पहलू को, जो विज्ञान से अनुभवो मे संबंधित उन दार्शनिक सिद्धान्तो का विषय था, जिन्हे भौतिकवादियो तथा प्रत्ययवादियो दोनो ही ने प्रतिपादित किया, अब अस्तित्ववाद ने अपने में लगभग पूरी तरह मिला लिया है। अस्तित्ववाद अपने ही ढंग से तथाकथित वास्तविक विज्ञानो और दर्शन के बीच अन्तर्विरोध को पुनरुज्जीवित करता है और उन विज्ञानो को व्यावहारिक, उपयोगी, सिर्फ लाभदायक चीजो के बारे मे जाननेवाले विज्ञानो के रूप मे और इसीलिए अस्तित्वमान सत्ता की गहरी जांच करने में असमर्थ मानता है, जो सामान्य चेतना से ऊपर नहीं उठते।

अस्तित्ववाद चिंता, भय, दुनिया-में-अस्तित्व, स्वतन्त्रता, अन्य के रूप मे परिभाषित मनुष्य के अस्तित्व के व्याख्यात्मक विवरण के साथ वस्तुगत यथार्थता के प्राकृतिक वैज्ञानिक वर्णनो का विरोध करता है। वस्तुत ये मनोभाव ही हैं, जो व्यक्तियों के सहज अस्तित्व को भरते है। अस्तित्ववाद इन मनोभावो की व्याख्या हुस्सेर्ल की फिनोमेनोलॉजी के रूप में करता है, उन्हे इंद्रियानुभविक मूल से पृथक् करता है और अस्तित्वपरक यानी मनुष्य के स्वार्थ मे प्रागनुभविक रूप मे निहित घोषित करता है। इस संबंध में, हाइडेगर और मार्त्त किर्केगार का अनुसरण करते हुए बाह्य इंद्रियानुभविक कारणो द्वारा उत्पन्न तथा "अस्तित्व" के लिए मानो महत्वहीन भय (Furcht – जर्मन; la peur – फ्रांसीसी) और स्वयं "अस्तित्व" द्वारा उत्पन्न और अवर्णनीय संत्रास (Angst – जर्मन, l'angoisse – फ्रांसीसी) के बीच विभाजक-रेखा खींचते है। अस्तित्ववादी अस्तित्वपरक चेतना को इसके दैनंदिन पहलू से, कूपमंडूकीय अनुभववाद से परिभूत मानता है, क्योंकि यह निश्चित, वास्तविक खतरे का नहीं, बल्कि खतरनाक, भंगुर अस्थिर के रूप में अनुभूत स्वयं अस्तित्व का भय अनुभव करती है, दूसरे शब्दों में, क्योंकि अस्तित्व स्वयं में मरणशील है।

अस्तित्ववादी मृत्यु के "थोथे" (साधारण) भय – पूर्णत वास्तविक

सभी आलोचनाओं के बावजूद, अस्तित्ववाद उन सब चीज़ों में कम ही दिलचस्पी लेता है, जो सामान्य चेतना और सामान्य (तथा नकारात्मक ढंग से विवेचित) मनोभावों की सीमाओं से परे हैं, जिनकी यह इतनी कठोरतापूर्वक आलोचना करता है। यह सामान्य जीवन, विशेष रूप से लोगों के सामाजिक संसर्ग में कुछ भी उल्लेखनीय नहीं देखता, क्योंकि अस्तित्व की इसकी मानवद्वेषी व्याख्या में कार्य, प्रेम और ज्ञान जैसी चीज़ों का कोई स्थान नहीं है।* अस्तित्ववादी दर्शन मनुष्य को दैनंदिन जीवन से ऊपर उठानेवाली "अनिवार्य" संकटापन्न परिस्थितियों का अपना सिद्धांत भी आसन्न मृत्यु, अमोचनीय पाप, आदि के बारे में सामान्य विचारों से निगमित करता है। यह विरोधाभासपूर्ण है कि हर सामान्य चीज़ का अडिग ढंग से विरोध करने का दावा करनेवाला दर्शन अपनी अत्यंत व्यक्तिवादी सीमाओं की वजह से दैनंदिन बुर्जुआ चर्चा की दलदल से अपने को निकालने में असमर्थ है।

अस्तित्ववाद के विपरीत, मार्क्सवादी दर्शन महज अस्तित्व और संबद्ध सामान्य धारणाओं और मनोभावों का ऐतिहासिक रूप से निश्चित सामाजिक परिघटनाओं के रूप में आलोचनात्मक ढंग से विश्लेषण करता है, जो इतिहास के दौरान अपरिवर्तित नहीं बनी रहतीं, बल्कि समाज के कम्युनिस्ट रूपांतरण की प्रक्रिया में परिवर्तित होती हैं।

मध्यकालीन विनाशवादियों ने दावा किया कि सहजबुद्धि कुछ मूलभूत सिद्धांतों की सत्यता के प्रति समय और स्थान से स्वतंत्र और सर्व

---

* यहां हम अस्तित्ववाद के "आशावादी" रूप (अब्बान्यानो, बोल्नोव, आदि) का उल्लेख नहीं करते, जो "सकारात्मक" अस्तित्ववाद के लिए अभिलाक्षणिक सकारात्मक मनोभावों (पारिवारिक जीवन, उत्सवों, प्रथाओं, आदि के सुख) की निराशावादी व्याख्या पर काबू पाने का असफलतापूर्वक प्रयास करता है, क्योंकि जीवन की वस्तुतः सकारात्मक, महत्वपूर्ण और सच्ची अन्तर्वस्तु आम तौर पर अस्तित्ववादी दृष्टिकोण के साथ मेल नहीं खाती। सोवियत दार्शनिक अ० म० कोरोमार्गोव ने अस्तित्ववाद की इस नयी किस्म का ठोस आलोचनात्मक विश्लेषण किया है।

लोगों में एक-सी चेतना है ; लेकिन आज यह सिद्ध करने की जरूरत नहीं रह गयी है कि सहजबुद्धि तथा समग्र रूप में सामान्य चेतना सामाजिक वातावरण को प्रतिबिंबित करती है और इसके साथ परिवर्तित होती जाती है।

वास्तव में, सामाजिक सहजबुद्धि और विज्ञान तथा दर्शन (भौतिकवादी दर्शन सहित) की दृष्टि से, उदाहरणार्थ १८वीं सदी और १९वीं सदी के प्रारभ में यह विचार कि पदार्थ के एक घन सेंटीमीटर में ऊर्जा की विशाल मात्रा निहित होती है न केवल हास्यास्पद बल्कि अत्यत रहस्यमय भी था तथा अवास्तविक और वास्तव में अस्तित्वमान या सभव के बीच कोई भेद नहीं करता था।

वर्तमान समय में, विज्ञान और दर्शन "असभव" की धारणा की व्याख्या बहुत सतर्कतापूर्वक करते हैं। जहा तक सामान्य चेतना का सबध है, यह मानव-बुद्धि के चमत्कारों की आदी हो चुकी है और वैज्ञानिक तथा टेक्नोलाजिकल सिद्धियों से चकित नहीं होती। हालांकि अभी भी इसने अपना चमत्कार-बोध नहीं खोया है फिर भी यह दृढतापूर्वक विश्वास करती है कि कम से कम विज्ञान और टेक्नोलाजी के क्षेत्र में चमत्कार नहीं होते।

सामान्य धार्मिक चेतना भी, वहा जहा यह कायम है बदल गयी है। मुश्किल से ही कोई विश्वास करता है कि ईश्वर ने छ दिनो में दुनिया की सृष्टि की, क्योंकि यदि अधिक नहीं तो इसी को सभी लोग जानते हैं कि पृथ्वी के अस्तित्व में आने और अपनी धुरी पर घूमने के फलस्वरूप ही रात और दिन बने। न० बेर्दायेव की वास्तविक निराशा समझ में आती है, जिन्होंने कहा कि ईसाइयो सहित अधिकाश लोग भौतिकवादी हो गये हैं, क्योंकि वे आत्मा की शक्ति में नहीं, बल्कि केवल भौतिक शक्ति – सैनिक और आर्थिक शक्ति – में विश्वास करते हैं। प्रोटेस्टैट चर्च ने इस स्थिति को ध्यान में रख लिया है और यह अपने अनुयायियो से सभी जडसूत्रो को स्वीकार करने की माग नहीं करता केवल ईश्वर और उनके पुत्र ईसा मसीह में विश्वास करना ही काफी है।

अपनी कृति 'इगलैड मे मजदूर वर्ग की स्थिति' मे एगेल्स ने औद्योगिक क्राति की पूर्ववेला मे ब्रिटिश मजदूरो के जीवन और आत्मिक

विकास का वर्णन निम्नलिखित ढंग से किया, "वे विरले ही पढ़ते थे और इससे भी विरले लिखते थे, नियमित रूप से चर्च जाते थे, राजनीति पर बात नहीं करते थे, षड्यंत्र नहीं करते थे, चिंतन नहीं करते थे, व्यायामों में आनंद लेते थे, बाइबिल-पाठ को तन्मयता से सुनते थे तथा अपनी अविवादास्पद विनम्रता में 'श्रेष्ठ वर्गों' के साथ बड़े ही अनुकूल ढंग से व्यवहार करते थे.. वे अपने शांत, मौन जीवन में अपने को सुखी महसूस करते थे और यदि औद्योगिक क्रांति न हुई होती, तो वे इस तरह के जीवन से कभी नहीं निकल पाते जो रोमांटिक और सुखद होते हुए भी मनुष्योचित नहीं था" (1,4,309)। यहां मजदूर वर्ग और संपूर्ण मेहनतकशों में उन विशाल परिवर्तनों का वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है, जो अनुवर्ती ऐतिहासिक विकास द्वारा लाये गये, जिसके परिणामस्वरूप पहले सोवियत संघ में और फिर बहुत-से दूसरे देशों में नयी सामाजिक प्रणाली की स्थापना हुई। समाजवाद की विजय ने सामान्य चेतना को मौलिक ढंग से बदल दिया। पूंजीवादी देशों में भी जन-चेतना में बड़ा परिवर्तन आया है। प्रसिद्ध कैथोलिक दार्शनिक जैक मैरिटेन ने लिखा, "अब कोई भी पूंजीवाद के लिए मरना नहीं चाहता – न एशिया में, न अमरीका में और न ही यूरोप में" (84,124)। मार्क्सवाद के एक विरोधी द्वारा यह स्वीकृति दिखाती है कि शोषित वर्गों में यह चेतना अधिकाधिक बढ़ती जा रही है कि केवल पूंजीवाद का उन्मूलन ही उनकी सामाजिक मुक्ति ला सकता है।

हम यहां सामान्य चेतना पर सामाजिक-आर्थिक, वैज्ञानिक और टेक्नोलाजिकल प्रभाव का विश्लेषण करने का इरादा नहीं रखते। हम सिर्फ इस ऐतिहासिक प्रक्रिया के मुख्य पहलुओं का ही उल्लेख करेंगे सामान्य चेतना में अविवेकपूर्ण और अन्य निराधार विश्वासों का उन्मूलन हो रहा है, तथा सामान्य चेतना और वैज्ञानिक चेतना एक दूसरे के निकट आ रही हैं, पर उनके बीच मूल अंतर समाप्त नहीं हुआ है। सामान्य चेतना अधिकाधिक तर्कसंगत, नैतिक, विवेकी, अपने में अधिकाधिक सौंदर्यबोध का तकाजा करनेवाली, आत्म-निर्भर, आलोचनात्मक बन जाती है। यह अब अपने को केवल विद्यमान परिस्थितियों के अनुरूप ही नहीं बनाती, बल्कि मनुष्य के रचनात्मक कार्यकलापों

में अधिकाधिक सक्रिय भूमिका अदा करती है। यह सब दर्शन तथा सामान्य चेतना और दैनंदिन अनुभव के बीच संबंधों में मौलिक परिवर्तन लाता है। दैनंदिन अनुभव सामाजिक व्यवहार का अभिन्न अंग है जो ज्ञान के सभी रूपों का आधार है।

२

द्वंद्वात्मक भौतिकवा

द्वंद्वात्मक प्रत्यय

इसे प्रत्यक्षतः उत्पन्न, निर्देशित और प्रेरित किया। यह उन सब के खिलाफ संघर्ष था, जो अनालोचनात्मक ढंग से तथ्य रूप में मान लिया गया था यानी जड़सूत्रवादी चिंतन के खिलाफ, जिसने अपने तर्कों, धारणाओं और पूर्वाधारों का विश्लेषण, जांच और पुष्टि करने की आवश्यकता की उपेक्षा की।*

तर्कबुद्धिवादियों की भांति कांट ने जड़सूत्रवाद की आलोचना को दर्शन का महत्त्वपूर्ण कार्यभार माना। उनके शब्दों में, "हमारा युग सचमुच आलोचना का युग है, जिसके सामने हर चीज़ नतमस्तक होनी चाहिए। धर्म अपनी पवित्रता की वजह से और कानून अपनी महानता की वजह से इस आलोचना के क्षेत्र से बाहर रहना चाहते हैं। लेकिन इस सूरत में वे ठीक ही संदेह पैदा करते हैं और वह सच्चा आदर खो देते हैं, जिसे बुद्धि केवल उसी चीज़ के प्रति प्रकट करती है, जो इसकी स्वतंत्र और खुली कसौटी पर खरी उतर सके" (73,3,7)। सुसंगत और व्यापक आलोचनात्मक विश्लेषण की अपनी मांग करते में कांट १७वीं सदी के तर्कबुद्धिवादियों से बहुत आगे गये, क्योंकि उन्होंने स्वयं बुद्धि के आलोचनात्मक विश्लेषण की आवश्यकता पर भी जोर दिया।

तर्कबुद्धिवादियों ने सामाजिक संस्थाओं को बुद्धिसंगत मानव स्वभाव, सार्विक बुद्धि की मांगों के अनुसार परिवर्तित करने के कार्यभार के रूप में बुर्जुआ रूपांतरणों की आवश्यकता का दावा किया। बुद्धि के आदर्शों के कार्यान्वयन के साथ बुर्जुआ रूपांतरणों का यह एकीकरण बुद्धि की तर्कबुद्धिवादी धारणा का अनालोचनात्मक पहलू था, जिसे समझने, मूल्यांकन करने, निर्णय करने और मानकों को निर्धारित करने की निरपेक्ष और स्वायत्त क्षमता के रूप में, इंद्रिय-अनुभूति तथा

---

*इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि केवल तर्कबुद्धिवाद ही नहीं, बल्कि दार्शनिक इंद्रियानुभववाद सहित १७वीं सदी के प्रगतिशील बुर्जुआ वर्ग की सभी विचारधाराएं बुद्धिपथ से ओतप्रोत थीं। लॉक ने लिखा, "बुद्धि हर चीज़ में हमारा अंतिम निर्णायक और मार्गदर्शक होनी चाहिए" (78,295)। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि विवेच्य तर्कबुद्धिवादी और इंद्रियानुभववादी धारणाएं एक-सी थीं।

सामाजिक परिस्थितियो दोनो ही से स्वतत्र क्षमता के रूप मे चित्रित किया गया। तर्कबुद्धिवादियो के विचार मे, बुद्धि कभी गलती नही करती। देकार्त के अनुसार, गलती की जड इच्छा मे है, जो इच्छा-जनित विश्वास को सत्य मान लेती है। स्पिनोजा और लीबनिज़ ने गलती का कारण इद्रिय-अनुभूतियो मे खोजा, जो उनकी राय मे, स्वभावत भ्रामक स्वरूप की होती हैं और गलत निष्कर्षो पर ले जाती हैं यदि वे विश्लेषण के आधार के रूप मे ली जाती हैं।

तर्कबुद्धिवादियो ने **शुद्ध बुद्धि** यानी इद्रिय-अनुभूतियो से स्वतत्र और, उनके विचार मे, इद्रियगत तथ्यो की अनिवार्य सीमाओ पर काबू पाने में समर्थ चितन की धारणा विकसित की। इद्रियगत तथ्यो के महत्व को स्पष्टत कम करके आका गया। काट ने शुद्ध बुद्धि की धारणा को स्वीकार करते हुए इसकी तर्कबुद्धिवादी व्याख्या को अस्वीकार किया। उनके विचार मे, बुद्धि द्वारा अनुभव से परे ज्ञान का दावा मनुष्य की मूल सैद्धातिक गलतियो मे से एक है। काट ने गलतियो के कारणो के तर्कबुद्धिवादी सिद्धात का फिर से विश्लेषण किया और सिद्ध किया कि इद्रिय-अनुभूतिया, अनुभाव हमे धोखा नही दे सकते, क्योकि वे निर्णय नही हैं। विवेक और बुद्धि ही गलती के दोषी है और इस वजह से नही कि वे अनुभव से आगे बढते हैं, बल्कि इस वजह से कि वे अनुभव से स्वतत्र निष्कर्ष निकालने की कोशिश करते हैं और इस तरह अपने को एकमात्र आधार से वचित कर लेते हैं।

बुद्धि का तर्कबुद्धिवादी पथ (और इसके सहवर्ती के रूप मे शुद्ध चितन की धारणा) ज्ञान के गणितीय रूप की एकागी (और अक्सर प्रत्ययवादी निष्कर्षों पर ले जानेवाली) व्याख्या थी, जिसे तर्कबुद्धि-वादियो ने स्वयसिद्धियो से निश्चित स्थापनाओ के शुद्धत तार्किक निगमन पर आधारित प्रागनुभविक माना। तर्कबुद्धिवादियो को यह पक्का विश्वास था कि दर्शन को निष्कर्षों की गणितीय प्रणाली के रूप मे निर्मित किया जा सकता है, कि यह दार्शनिक तर्क-वितर्कों को समाप्त कर देगा और अध्ययन के सभी क्षेत्रो मे निरपेक्ष को समझना सभव बना देगा। केवल मूलभूत दार्शनिक स्वयसिद्धियो और तदनुसार उनकी परिभाषाओ को निर्धारित करना ही आवश्यक है। स्पिनोज़ा ने अपने 'नीतिशास्त्र' मे यही प्रयास किया।

तर्कबुद्धिवादियों के विपरीत कांट ने सिद्ध किया कि दर्शन में न गणितीय स्वयंसिद्धियां, न ही परिभाषाएं संभव हैं। उनके विचार में दर्शन में "एक भी ऐसी मूलप्रस्थापना नहीं मिल सकती, जो स्वयंसिद्ध कहलाने के उपयुक्त हो" *(73,3,496-97)*। गणित के विपरीत, दार्शनिक परिभाषाएं अकाट्य रूप से प्रामाणिक नहीं होतीं, बल्कि वे पूर्व उपलब्ध धारणाओं का प्रतिपादन हैं, जबकि गणितीय परिभाषाएं धारणाओं के निरूपण द्वारा मूर्त रूप पाती हैं। अतः "दर्शन में सुस्पष्ट निश्चितता के रूप में परिभाषा को काम शुरू करने के बजाय इसे पूरा करना चाहिए। इसके विपरीत, गणित में हम परिभाषा के पहले कोई धारणा नहीं रखते, क्योंकि केवल परिभाषा ही धारणा प्रदान करती है, अतः गणित को हमेशा परिभाषाओं के साथ शुरू करना चाहिए और वह शुरू कर सकता है" *(73,3,495-96)*

स्वयंसिद्धियों को स्वतःप्रमाणित सत्यों के रूप में देखते हुए तर्कबुद्धिवादियों ने निष्कर्ष निकाला कि बौद्धिक (अर्थात इंद्रियगत अनुभव से स्वतंत्र) अंतःप्रज्ञ सत्य संपूर्ण दार्शनिक विज्ञान के दृढ़ आधार के तौर पर काम करते हुए दर्शन का प्रस्थान-बिंदु हो सकते हैं और होने चाहिए। बौद्धिक अंतःप्रज्ञा का सिद्धांत तर्कबुद्धिवाद की एक मुख्य प्रस्थापना है।* उसपर वह तर्कबुद्धिवादी विश्वास आधारित है कि अनुभव की सीमाओं का अतिक्रमण किया जा सकता है। तर्कबुद्धिवादियों के विचार में, गणित ने इस समस्या को पहले ही हल कर दिया है, अब दर्शन की बारी है।

कांट ने बौद्धिक अंतःप्रज्ञा के तर्कबुद्धिवादी सिद्धांत से इनकार किया और उसके मुकाबले में 'स्वयंस्पष्ट' गणितीय प्रस्थापनाओं की नई

---

*फिर भी, हमें ध्यान में रखना चाहिए कि लॉक तथा कुछ दूसरे इंद्रियानुभववादी दार्शनिकों ने बौद्धिक अंतःप्रज्ञा को ज्ञान का निश्चायक स्रोत माना। लेकिन तर्कबुद्धिवादियों के विपरीत इंद्रियानुभववादी दार्शनिक ने बौद्धिक अंतःप्रज्ञा की धारणा को ज्ञान के अनुभवमूलक सिद्धांत में [illegible] और दावा किया कि सारा मानव ज्ञान, यहां तक कि [illegible] से [illegible] अमूर्त (गणितीय सहित) ज्ञान भी, इंद्रियानुभव से प्राप्त किया जा सकता है।

बनाते है। अतः कार्टेशियन इस तथ्य को समझकर (जिसके कि कांट के अनुसार, कोई भी विज्ञान सभव नहीं है) अनिवार्य रूप से सार्विक और आवश्यक सत्यों की सभावना को स्पष्ट करता है। फिर भी, न तो कांट, न ही ह्यूम ने सार्विक और आवश्यक को इनके स्वतंत्र यथार्थता के क्षेत्र में रखा।

१७वी सदी के तर्कबुद्धिवादी विचार सक्रमणात्मक ऐतिहासिक युग की दार्शनिक अभिव्यक्ति होने के कारण द्वयर्थक तथा समझौतेवादी थे। बुर्जुआ वर्ग समझौते की सहायता से सामती समाज की परिस्थितियो मे आर्थिक रूप से प्रमुख वर्ग बन गया। और जब कि इस युग के बुर्जुआ दर्शन ने पाडित्यवाद और कुछ हद तक धर्मशास्त्र का भी विरोध किया, इसने सामतवाद की प्रमुख विचारधारा – धर्म – के साथ समझौते को श्रेयस्कर समझा। १७वी सदी के तर्कबुद्धिवादियो द्वारा निर्मित दार्शनिक प्रणालियो की यही विचारधारात्मक प्रवृत्तिया थीं। देकार्त के दर्शन मे इस समझौते ने भौतिकी और अधिभौतिकी के बीच द्वैतवादी विरोध का रूप ग्रहण किया। यदि देकार्त की भौतिकी (प्रकृति का दर्शन) ने इद्रियो द्वारा अनुभूत की जा सकनेवाली विद्यमान वस्तुओं का अध्ययन किया, तो अधिभौतिकी ने अतीद्रिय के सज्ञान का दावा किया। लेकिन चूकि अनुभव ने ऐसी अधियथार्थता की स्वीकृति के लिए कोई अवसर नही दिया, इसलिए देकार्त ने अन्तर्जात विचारों और अन्तर्जात ज्ञान से सपन्न मानव-बुद्धि की विद्यमानता को मान्यता दी, जिनका उपयोग, उनकी राय मे, अधिभौतिक यथार्थता की सर्व विशेषताओ का तार्किक ढग से निगमन करना सभव बनाता है।

अधिभूतवाद की सपूर्ण अन्तर्वस्तु को धर्मशास्त्रीय (या धर्मशास्त्र से सबद्ध) प्रश्नो की तर्कबुद्धिवादी व्याख्या तक सीमित करना समस्या का अतिसरलीकरण करना होगा। गणित और प्राकृतिक विज्ञानों की समस्याओ की दार्शनिक व्याख्या करने मे देकार्त व लीबनिड्स की अधिभूतवादी प्रणालियों ने काफी योग दिया। स्पिनोज़ा का अधिभूतवादी विचारों की भौतिकवादी प्रणाली था, भले ही यह सर्वेश्वरवादी भावना मे, ईश्वर को प्रकृति से अनन्य मानते हुए पेश किया गया हो। अतः मार्क्स और एगेल्स द्वारा १७वी सदी के अधिभूतवाद की सकारात्मक, सांसारिक अन्तर्वस्तु का मूल्याकन समझ मे आनेवाली बात है। स्पिनो-

की ऐसी महत्वपूर्ण और स्थायी विशेषता है कि दर्शन को आत्मिक और बौद्धिक जीवन के इस रूप का किसी अनिवार्य न कि सायोगिक चीज के रूप मे अध्ययन करना चाहिए। सकल्प स्वातन्त्र्य की समस्या के बारे मे भी यही बात और सभवत और बड़ी सीमा तक सही है, जो कई सदियो तक दर्शन के मार्ग मे रोडा बनी रही। अगर मनुष्य के पास सकल्प की स्वतत्रता नही है, तो क्या उसके पास सकल्प जैसी कोई चीज है भी? अगर वह अपने कार्यकलापों पर नियत्रण नही कर सकता, तो वह जानवर से कैसे भिन्न है? अगर उसके पास चयन की स्वतत्रता नही है और अपने कार्यकलापों पर नियत्रण नही कर सकता, तो वह उनके लिए जिम्मेदार भी नही है। लेकिन इस सूरत मे न जिम्मेदारी, न नैतिक मानक, न ही नैतिक व्यवहार है, क्योंकि मनुष्य का सचेत जीवन अपने कार्यकलापो पर नियत्रण करने की व्यक्ति की क्षमता की पूर्वकल्पना करता है, चाहे यह सीमित रूप मे ही क्यों न हो। लेकिन नैतिकता और आम तौर से मानव-जीवन का अस्तित्व दिखाते है कि मनुष्य कम से कम "व्यावहारिक" (सापेक्ष) स्वतत्रता से सपन्न है। इस तथ्य का क्या स्वरूप है और यह किन शर्तों पर सभव है?

सत्ता की समस्या – सभी अधिभूतवादी प्रणालियो की मुख्य समस्या – इसके साथ ही सभी अस्तित्वमान चीजो के सार की समस्या और समग्र रूप मे ससार की एकता की समस्या भी है। दर्शन अपने को सिर्फ खनिजो, धातुओ, नदियो, पर्वतो, पेड-पौधो, जानवरो, आदि के अस्तित्व के वर्णन तक ही सीमित नही कर सकता। इसमे इन सभी बहुविध परिघटनाओं के आधार, उनकी कुछ साझी अन्तर्वस्तु, उनके परस्पर सबध और अन्योन्याश्रय को प्रकट करने की अपेक्षा की जाती है। क्या सभी अस्तित्वमान चीजो के आद्य तत्व हैं, क्या ससार एक समष्टि के रूप मे अस्तित्व रखता है या यह केवल एक सकल्पित सत्य, वास्तविक आधार से रहित अमूर्त है? क्या ससार का आरभ देश और काल सापेक्ष है या यह दोनो ही आयामो मे अपरिमित है? क्या ससार सरल या जटिल तत्वो से बना है? क्या वस्तुओ का कार्य कारण सबध निरपेक्ष है या क्या इस सबध से मुक्त चीजे है? ये तथा दूसरे ऐसे

न केवल अधिभूतवादी प्रणालियां, बल्कि सामान्यत दर्शन की

दोष को प्रमाणित करना है। अतः कांट अपना मुख्य उद्देश्य अधिभूतवाद का मौलिक सुधार करने और इसे एक विज्ञान में परिवर्तित करने में देखते हैं। पर यह नये, इंद्रियातीत अधिभूतवाद के निर्माण के कार्यभार को सभी पूर्ववर्ती अधिभूतवादी प्रणालियों की पूर्ण अस्वीकृति समझते हैं। इसलिए उनका यह वक्तव्य समझ में आनेवाली चीज है: "आ-लोचना ('शुद्ध बुद्धि की आलोचना' – लेखक) में मैं जिस चीज पर काम कर रहा हूं वह अधिभूतवाद नहीं, बल्कि एक बिल्कुल नया विज्ञान है, जिसे अब तक किसी ने भी निर्मित करने का प्रयास नहीं किया है: यह वस्तुतः प्रागनुभविक ढंग से तर्क-वितर्क करनेवाली बुद्धि की आलोचना है" (72,228)। इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि कांट ने 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना' को इंद्रियातीत अधिभूत-वाद की पुष्टि और इसकी प्रस्तावना के रूप में माना।

विज्ञान कांट के लिए सही ज्ञान का मानक है। इसी के अनुसार कांट द्विविकल्प का प्रतिपादन करते हैं: या तो अधिभूतवाद विज्ञान बन जाता है (बेशक sui generis विज्ञान) या इसे अपना अस्तित्व रखने का कोई अधिकार नहीं है। कांट का दर्शन सिद्ध करता है कि परंपरागत अधिभूतवाद विज्ञान नहीं बन सकता क्योंकि इसकी प्रस्थापना सैद्धांतिक रूप से अप्रमाण्य और प्रायोगिक रूप से असत्यापनीय हैं। एक मूलतः नयी अधिभूतवादी प्रणाली का निर्माण करने का कार्यभार पेश करते हुए कांट वैज्ञानिक दर्शन की आवश्यकता सिद्ध करते हैं। विधि से सम्बन्धित यह दृष्टिकोण दर्शन को वैज्ञानिक-दार्शनिक विश्व-दृष्टिकोण में परिवर्तित करने की कठिनाइयों की गहन समझ द्वा-तर्कबुद्धिवादी स्थिति से मूलतः भिन्न है।

१७वीं सदी के तर्कबुद्धिवादियों ने निरपेक्ष ज्ञान की प्रणाली बना-की कोशिश की और इसके निर्माण की पूर्ववर्ती प्रयासों की असफल-को अलग-अलग दार्शनिकों की गलतियों में देखा। कांट इन भ्रमों सहमत नहीं हैं, वह अधिभूतवाद और विज्ञान के बीच संघर्ष से पूर्ण सचेत हैं और इससे निकलने का मार्ग खोजते हैं। फलस्वरूप वह निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आधारभूत अधिभूतवादी विचारों की व्या-वास्तव में अस्तित्वमान इंद्रियातीत सत्वों की धारणाओं के रूप में न-बल्कि चेतना के तथ्यों, शुद्ध बुद्धि के विचारों के रूप में की ज-

कि जो तार्किक रूप से आवश्यक है, वह इसी वजह से भौतिक
से भी आवश्यक है। तर्कबुद्धिवादियों ने लगभग निम्नलिखित रूप
तर्क किया· यदि कोई निश्चित तार्किक निष्कर्ष तार्किक नियमो
अनुसार पाया गया है (यानी यदि कोई तार्किक गलती नही की ग
है), तो इस निष्कर्ष की अंतर्वस्तु को वस्तुगत यथार्थता के रूप
माना जाना चाहिए, भले ही अनुभव इसे पुष्ट न करे। इस स्थाप
का अर्थ आसानी से समझ मे आ जाता है, यदि हम यह ध्यान में
कि अक्सर तार्किक निष्कर्ष, निगमन खोज मे परिवर्तित हो जाते
ऐसे अज्ञात भौतिक तथ्यो को प्रमाणित करते हैं, जिनका अस्ति
लबी अवधि मे प्रेक्षण अथवा प्रयोग से नही पुष्ट हुआ था। लेकि
मुख्य बात यह है कि तार्किक विवेचन ऐसे तथ्यो को नही प्रकट क
सकता, जो तार्किक निष्कर्ष की आधारस्वरूप प्रस्थापनाओ मे विद्यम
नही होते। परतु १७वी सदी के तर्कबुद्धिवादियों ने परिकल्पनात्म
पूर्वाधारो से इंद्रियातीत सत्त्वो के अस्तित्व को निगमित करने की कोशि
की। निगमन-क्षमता की इस निरपेक्ष व्याख्या को अस्वीकार कर
हुए कांट ने सिद्ध किया कि तार्किक पूर्वाधार अपने परिणाम से इ
ढग से जुड़ा हुआ है कि परिणाम को उससे तार्किक ढग से, तादात्म
के नियम के अनुसार देखा जा सकता है। दूसरे शब्दों मे
तार्किक परिणाम केवल इस वजह से संगत होता है कि वह मूल
अपने पूर्वाधार से अभिन्न होता है, वह पूर्वाधार के तार्किक विभाज
मे स्पष्ट हो जाता है परिणाम इसका अंग प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ
"जटिलता" "विभाज्यता" का पूर्वाधार है, यह चीज तब स्पष्
हो जाती है, जब हम जटिलता की धारणा का विभाजन करते है
वास्तविक पूर्वाधार एक बिल्कुल दूसरी बात है यहा परिणाम पूर्वाधार
का अंग या विशिष्टता नही है। अत एक वास्तविक पूर्वाधार का विश्ले-
षण इसके सभव परिणाम को नही प्रकट करता, यह वस्तुत केवल
इसी परिणाम की अनिवार्यता को नही इंगित करता। मिसाल के लिए,
जिस कारण से वर्षा होती है, वह वास्तविक न कि तार्किक पूर्वाधार है,
क्योंकि वर्षा के लिए कोई तार्किक कारण नही है।

कांट के अनुसार, वास्तविक पूर्वाधार इंद्रियानुभविक रूप से प्रमा-
णित तथ्यों के बीच संबंधों को प्रकट तो करता है, पर यह अनुभव की

सीमाओं में आगे बढ़ने की संभावना को अस्वीकार करता है। इसी बीच, तर्कबुद्धिवादियों ने वास्तविक और तार्किक पूर्वाधारों के बीच भेद करने के बजाय उनका एकीकरण करके निष्कर्ष निकाला कि उन्होंने अनुभवेतर और अलौकिक के क्षेत्र में रास्ता बना लिया है। कांट ने विश्वासोत्पादक ढंग से इन भ्रमों को प्रकट किया, जिनसे तर्कबुद्धिवादी अधिभूतवाद की मूल गलतियां जुड़ी हुई हैं।

प्रागनुभविक या अनुभवेतर ज्ञान की धारणा १७वीं सदी की अधिभूतवादी प्रणालियों का केंद्र-बिंदु थी। उदाहरणार्थ, लीबनिज़ ने दावा किया कि तथ्यपरक सत्यों के अलावा ऐसे बुद्धिपरक सत्य भी होते हैं जिन पर बुद्धि बिना अनुभव और इंद्रियगत तथ्यों की सहायता के पहुंचती है। तर्कशास्त्र के सिद्धांतों, ज्यामिति की स्वयंसिद्धियों और निष्कर्षों को निर्विवाद प्रागनुभविक सत्यों के रूप में माना गया, जिनकी मुख्य विशेषता उनकी सुस्पष्ट सार्विकता और आवश्यकता है। सार्विक और आवश्यक के रूप में प्रागनुभविक की परिभाषा का मतलब यह है कि प्रागनुभविक की समस्या गहन रूप से अर्थपूर्ण है यह सैद्धांतिक वैज्ञानिक ज्ञान की निश्चित वास्तविक विशेषताओं को प्रकट करती है, विशेष रूप से गणित की विशेषताओं को, जिसकी प्रस्थापनाएं प्रायोगिक आंकड़ों से अपेक्षाकृत स्वतंत्र होती हैं। १७वीं सदी के लिए विशिष्ट गणित और तर्कशास्त्र के विकास के उस स्तर पर इंद्रियानुभविक तथ्यों से तार्किक और गणितीय प्रस्थापनाओं तक का मार्ग अब भी पूर्णतः अनन्वेषित था। तर्कबुद्धिवादियों का विश्वास था कि तार्किक तथा गणितीय नियम अनुभव से बिल्कुल स्वतंत्र होते हैं। उन्होंने अनुभव को मात्र वैयक्तिक इंद्रिय-अनुभूतियों के एक समुच्चय के रूप में माना। स्वभावतः अनुभव की यह सीमित समझदारी तार्किक तथा गणितीय नियमों की सार्विकता और आवश्यकता को स्पष्ट करने में असमर्थ रही। तर्कबुद्धिवादियों ने हमेशा इस प्रश्न का उत्तर उसी ढंग से दिया तार्किक और गणितीय प्रस्थापनाएं वस्तुतः इस वजह से सार्विक तथा आवश्यक हैं कि वे अनुभव से पूर्णतः स्वतंत्र हैं, क्योंकि वे प्रागनुभविक हैं।

उस समय सैद्धांतिक प्रस्थापनाओं के विशिष्ट लक्षणों के रूप में सार्विकता और आवश्यकता की धारणाओं को अब भी विशिष्ट वैज्ञानिक

विश्लेषण के अंतर्गत नही लाया जा सका। न तो तर्कशास्त्र, न ही गणित के पास ऐसे आकडे थे, जो इस चीज की पुष्टि कर सकें कि उनकी प्रस्थापनाओ की सार्विकता तथा आवश्यकता निरपेक्ष कदापि नही है, कि वे पहले, प्राप्त ज्ञान के स्तर और दूसरे, उनके सैद्धातिक पूर्वाधार द्वारा सीमित है। यह सब अयूक्लिडीय ज्यामिति, सापेक्षता-सिद्धात और क्वांटम भौतिकी के निर्माण के बाद जाकर ही सुस्पष्ट हुआ।

उपर्युक्त वर्णन से यह पूर्णत साफ हो जाता है कि क्यो काट ने प्रागनुभविक की तर्कबुद्धिवादी धारणा को अस्वीकार नही किया, बल्कि उसे मात्र संशोधित किया। तर्कबुद्धिवादियो (और उस काल के सभी दार्शनिको और प्राकृतिक वैज्ञानिको) की भांति वह सार्विक और आवश्यक सैद्धातिक प्रस्थापनाओ के वस्तुगत आविर्भाव और ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया को स्पष्ट नही कर सके। *विज्ञान तथा दर्शन के विकास के उस* स्तर पर सैद्धातिक चिंतन के ऐसे प्रवर्गों की सार्विकता और आवश्यकता को स्पष्ट करना और भी कठिन था, जैसे कि देश, काल, कार्य-कारण संबंध। किसी ने भी – कम से कम प्राकृतिक विज्ञानियो ने – यह संदेह नही किया कि सभी प्राकृतिक परिघटनाओं का अस्तित्व देश और काल में है, कि उनके निश्चित कारण हैं, आदि। लेकिन क्या यह सिद्ध किया जा सकता था कि ये प्रवर्ग वास्तव मे सार्विक और आवश्यक है? यही कारण था कि काट ने शुद्ध (प्रागनुभविक) तथा इंद्रियानुभविक ज्ञान के बीच भेद करने में तर्कबुद्धिवादियों का अनुसरण किया और दावा किया कि तर्कशास्त्र तथा गणित प्रागनुभविक विज्ञान है, जब कि *सर्वव्यापी प्रागनुभविक मूलभूत सिद्धांतों को अनुभव से निर्गमित ज्ञान के साथ समन्वित करती है।*

कांट की प्रागनुभविक की धारणा तर्कबुद्धिवादी धारणा से कैसे भिन्न है? पहली नजर में प्रतीत हो सकता है कि १७वीं सदी के अधिभूतवादियों के साथ इस मुद्दे पर काट का विवाद न्यूनतम रूप में व्यक्त है क्योंकि उन्होंने स्वयं प्रागनुभविक दृष्टिकोण का समर्थन किया। लेकिन वास्तव में, काट की प्रागनुभविक की समझ तर्कबुद्धिवादियों की समझ से मूलतः भिन्न है। *तर्कबुद्धिवादियों ने संसार के प्रागनुभविक ज्ञान को स्वीकार किया।* वस्तुतः यह माना जा सकता है कि उन्होंने अनुभव पर आधारित ज्ञान के अलावा ज्ञान के किसी अन्य मार्ग के अस्ति-

है, इंद्रियानुभूति को कारणता के प्रवर्गीय संबंध में जोड़ना है। काट अनुभव के निर्णयों और प्रत्यक्ष अनुभूति के निर्णयों के बीच भेद करते हैं. ठीक-ठीक कहें तो प्रत्यक्ष अनुभूति के निर्णय मात्र ज्ञान, कम से कम परिघटनाओं के बीच संबंधों का ज्ञान, प्रदान नहीं करते। फलत. प्रवर्ग इंद्रियानुभविक ज्ञान के आवश्यक पूर्वाधार हैं, जो सैद्धांतिक ज्ञान की भांति ही बुद्धिगत है। काट के भ्रम का कारण यही है: प्रवर्ग अनुभव के पहले आते हैं। असल बात यह है कि काट (तथा उनके समकालीन सभी चिंतक और वैज्ञानिक) अभी भी अनुभव के ऐतिहासिक विकास के बारे में कल्पना नहीं करते, जिसके दौरान प्रवर्ग निर्मित और विकसित होते हैं। उस युग के लिए अनिवार्य इस गलती को इस प्रश्न की समझ में काट के ऐतिहासिक योगदान को धुंधला नहीं करना चाहिए· उन्होंने प्रायोगिक ज्ञान की अंतर्वस्तु के साथ चिंतन के प्रवर्गीय उपकरण की एकता को प्रकट किया। इस वजह से काट "शुद्ध" (प्रागनुभविक) ज्ञान को इंद्रियानुभविक ज्ञान के मुकाबले में रखने तक ही सीमित नहीं रहते, जैसा कि उनके पूर्ववर्तियों ने किया। वह सिद्ध करते हैं कि चूंकि सैद्धांतिक प्राकृतिक विज्ञान की प्रस्थापनाएं सार्विक और आवश्यक हैं, इसलिए वे शुद्ध प्रागनुभविक नहीं, बल्कि प्रागनुभविक तथा इंद्रियानुभविक हैं – रूप में प्रागनुभविक और अंतर्वस्तु में इंद्रियानुभविक।

प्रागनुभविक (अर्थात् मूलतः सैद्धांतिक) तथा इंद्रियानुभविक ज्ञान की एकता का तर्कबुद्धिवादी निषेध इस निष्कर्ष पर ले गया कि प्रागनुभविक सूत्र (निर्णय, निष्कर्ष) शुद्धतः विश्लेषणात्मक हैं यानी कोई नया ज्ञान नहीं देते, बल्कि मात्र उस चीज़ को प्रकट करते हैं, जो प्रस्थापना के विषय में पहले ही निहित है। इस तरह, गणितीय ज्ञान की संपूर्ण संपदा को गणित के तार्किक पूर्वाधारों में पूर्वनिर्मित और पूर्वनिर्धारित किसी चीज़ में बदल दिया गया। यह स्थिति गणित, यांत्रिकी तथा सामान्यतः सैद्धांतिक प्राकृतिक विज्ञानों के विकास के साथ टकराव में आये बिना नहीं रह सकी।

प्रागनुभविक तथा इंद्रियानुभविक की एकता के सिद्धांत ने काट को इस तर्कबुद्धिवादी जड़सूत्र का खंडन करने में भी समर्थ बनाया। विश्लेषणात्मक निर्णयों के अस्तित्व को अस्वीकार किये बिना ही, काट

प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक निर्णयो की खोज को अपनी महानतम उपल
ब्धि मानते है। उनके विचार मे, ऐसे निर्णयो का स्थान गणित तथ
यांत्रिकी मे है, क्योकि वे इद्रियगत प्रेक्षणो की विशेष किस्म से आ
बढते हैं, जिन्हें उन्होंने प्रागनुभविक प्रेक्षणो के रूप मे परिभाषित किया
वे दूसरे विज्ञानो मे भी सभव हैं, क्योकि विज्ञान प्रागनुभविक को इद्रिय
गत तथ्यो के अनुरूप बना देते हैं। प्रागनुभविक सश्लेषणात्मक निर्णय
का महत्व यह है कि वे ज्ञान की वास्तविक वृद्धि मे सहायता कर
हैं। काट के पूर्ववर्तियो की राय मे, केवल इद्रियानुभविक निर्णय ह
सश्लेषणात्मक स्वरूप के होते हैं, क्योकि वे नव-प्रेक्षित आकडो को द
करते हैं। इस दृष्टिकोण ने सैद्धातिक प्राकृतिक विज्ञानो के विकास
सभावनाओ को अत्यत सीमित कर दिया। काट ने विश्लेषणात्मक औ
सश्लेषणात्मक निर्णयो के इस द्वद्ववाद-विरोधी मुकाबले को समाप्त क
दिया। उनका नया दृष्टिकोण स्पष्टत सैद्धातिक प्राकृतिक विज्ञानो
विकास के लिए असाधारण रूप से महत्वपूर्ण है।

यह समझना आसान है कि प्रागनुभविक सश्लेषणात्मक निर्णय
का काट का सिद्धात उन सैद्धातिक प्राकृतिक विज्ञानो की सभावना तथ
आवश्यकता को दार्शनिक ढग से पुष्ट करने का एक प्रयास था, जिनक
काट के समय मे अब भी व्यावहारिक रूप से कोई अस्तित्व नही था
लेकिन गणितीय भौतिकविज्ञान का अस्तित्व था और इसने काट को सैद्धा
तिक ज्ञान के ज्ञानमीमासीय पूर्वाधारो के बारे मे अधिक सामान्य प्रश
उठाने के लिए प्रेरित किया। सैद्धातिक ज्ञान स्वभावत प्राप्त अनुभ
की सीमाओ का अतिक्रमण करता है। वस्तुत इसी वजह से यह सैद्धाति
न कि इद्रियानुभविक ज्ञान है। लेकिन काट की प्रणाली मे सैद्धातिक
जिसे वह प्रागनुभविक मानते हैं, किसी भी सभव अनुभव से स्वत
है, क्योकि यह प्रागनुभविक इद्रियगत प्रेक्षण पर आधारित होता है
प्रेक्षण के इस विशिष्ट रूप की कल्पना यानी देश और काल के प्रागनु
भविक स्वरूप की धारणा काट को तर्कबुद्धिवादियो से पृथक् कर देत
है। यह विभेद काट के प्रागनुभविक दृष्टिकोण के अतर्विरोधो को प्रक
करता है। एक ओर, वह दावा करते हैं कि प्रागनुभविक मात्र ज्ञा
का एक रूप है। दूसरी ओर, वह प्रागनुभविक सश्लेषणात्मक निर्णय
के अस्तित्व की कल्पना करते हुए कुछ हद तक प्रागनुभविक अतर्वस

प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक निर्णयो की खोज को अपनी महानतम उपल
ब्धि मानते हैं। उनके विचार मे, ऐसे निर्णयो का स्थान गणित तथ
यान्त्रिकी मे है, क्योकि वे इद्रियगत प्रेक्षणो की विशेष किस्म से आग
बढ़ते है, जिन्हे उन्होंने प्रागनुभविक प्रेक्षणो के रूप मे परिभाषित किया
वे दूसरे विज्ञानो मे भी सभव हैं, क्योकि विज्ञान प्रागनुभविक को इद्रिय
गत तथ्यो के अनुरूप बना देते हैं। प्रागनुभविक सश्लेषणात्मक निर्णय
का महत्व यह है कि वे ज्ञान की वास्तविक वृद्धि मे सहायता करत
हैं। काट के पूर्ववर्तियो की राय मे, केवल इद्रियानुभविक निर्णय ह
सश्लेषणात्मक स्वरूप के होते है, क्योकि वे नव-प्रेक्षित आकडो को दज
करते हैं। इस दृष्टिकोण ने सैद्धातिक प्राकृतिक विज्ञानो के विकास म
सभावनाओ को अत्यत सीमित कर दिया। काट ने विश्लेषणात्मक औ
सश्लेषणात्मक निर्णयो के इस द्वद्ववाद-विरोधी मुकाबले को समाप्त क
दिया। उनका नया दृष्टिकोण स्पष्टत सैद्धातिक प्राकृतिक विज्ञानो वं
विकास के लिए असाधारण रूप मे महत्वपूर्ण है।

यह समझना आसान है कि प्रागनुभविक सश्लेषणात्मक निर्णय
का काट का सिद्धात उन सैद्धातिक प्राकृतिक विज्ञानो की सभावना तथ
आवश्यकता को दार्शनिक ढग से पुष्ट करने का एक प्रयास था, जिनक
काट के समय मे अब भी व्यावहारिक रूप से कोई अस्तित्व नही था
लेकिन गणितीय भौतिकविज्ञान का अस्तित्व था और इसने काट को सैद्धा
तिक ज्ञान के ज्ञानमीमासीय पूर्वाधारो के बारे मे अधिक सामान्य प्रश्न
उठाने के लिए प्रेरित किया। सैद्धातिक ज्ञान स्वभावत प्राप्त अनुभ
की सीमाओ का अतिक्रमण करता है। वस्तुत इसी वजह से यह सैद्धातिव
न कि इद्रियानुभविक ज्ञान है। लेकिन काट की प्रणाली मे सैद्धातिक
जिसे वह प्रागनुभविक मानते हैं, किसी भी सभव अनुभव से स्वतः
है, क्योकि यह प्रागनुभविक इद्रियगत प्रेक्षण पर आधारित होता है
प्रेक्षण के इस विशिष्ट रूप की कल्पना यानी देश और काल के प्रागनु
भविक स्वरूप की धारणा काट को तर्कबुद्धिवादियो से पृथक् कर देत
है। यह विभेद काट के प्रागनुभविक दृष्टिकोण के अतर्विरोधो को प्रकट
करता है। एक ओर, वह दावा करते हैं कि प्रागनुभविक मात्र ज्ञान
का एक रूप है। दूसरी ओर, वह प्रागनुभविक सश्लेषणात्मक निर्णय
के अस्तित्व की कल्पना करते हुए कुछ हद तक प्रागनुभविक अतर्वस्

के अस्तित्व को भी स्वीकार करते हैं। इस प्रकार, सैद्धांतिक ज्ञान
रूप और अन्तर्वस्तु के बीच अंतर्विरोध अनसुलझा ही रहता है। फिर
समस्या को उस ऐतिहासिक युग के लिए यथासंभव व्यापक ढंग से
किया गया है।

निष्कर्षस्वरूप हम कह सकते हैं कि कांट १७वीं सदी के त
द्धिवादी अधिभूतवाद की इतनी अर्थपूर्ण और गहन आलोचना के अ
लानेवाले पहले दार्शनिक थे। वह १८वीं सदी के एकमात्र ऐसे
थे, जिन्होंने दार्शनिक तर्कबुद्धिवाद के अधिक मूल्यवान विचारों
दिखाया और उन्हें विकसित किया। यह सही है कि वह तर्कबु
अधिभूतवाद पर काबू पाने में असमर्थ रहे, क्योंकि उन्होंने इसकी अ
ना प्रत्ययवादी और अज्ञेयवादी ढंग से की। लेकिन यह विश्वास
कि उस समय हर मूल्यवान चीज़ को बनाये रखते हुए और आ
करते हुए अधिभूतवाद पर निश्चित रूप से काबू पाया जा सक
दर्शन के विकास के प्रति ऐतिहासिक दृष्टिकोण की आवश्यक
उपेक्षा करना है। जैसा कि मार्क्स और एंगेल्स ने कहा, क्ला
जर्मन दर्शन ने १७वीं सदी के तर्कबुद्धिवादी अधिभूतवाद को पु
किया (1.4.125)। अधिभूतवादी प्रणालियों का यह पुनर्जीवन
नहीं था, क्योंकि इसमें १७वीं सदी में अधिभूतवादी प्रणालियों
धारण निर्माताओं – देकार्त, स्पिनोज़ा, लीबनिज़ – द्वारा प्रस्तुत
परंपरा का प्रभावी तथा सुव्यवस्थित विकास जुड़ा हुआ था।
कि कांट ने अधिभूतवादी प्रणालियों की अपनी आलोचना
इंद्रियातीत तर्कशास्त्र और खास तौर से इंद्रियातीत द्वंद्ववाद
में विकसित किया, द्वंद्वात्मक चिंतन प्रणाली के विकास के लि
दार्शनिक विरासत के महान महत्त्व को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित

काट का " निजरूप-वस्तुओं " और परासत्ताओं का सिद्धांत

"वस्तु-निजरूप" की *धारणा* काट के दर्शन की एक महत्वपूर्ण धारणा है। सज्ञान से स्वतत्र "निजरूप-वस्तुओ के वस्तुगत अस्तित्व की मान्यता दार्शनिक भौतिकवाद से अविच्छेद्य है। लेकिन काट के दर्शन के विपरीत, भौतिकवाद सैद्धातिक तौर पर "निजरूप-वस्तुओ" *के सज्ञान की सभावना और "हमारे निमित्त वस्तुओ" मे उनके अनिवार्य* रूपातरण को सिद्ध करता है। लेनिन ने कुछ छद्म-मार्क्सवादियो की आलोचना की, जिन्होने यह सिद्ध करने की कोशिश की "कि भौतिकवादी मार्क्स तथा एगेल्स ने निजरूप-वस्तुओ" (अर्थात् हमारी सवेदनाओ, *अनुभूतियो आदि से परे वस्तुओ*) *के अस्तित्व तथा उनके सज्ञान* की सभावना से इन्कार किया और कि उन्होने आभास तथा वस्तु-निजरूप के बीच मूलभूत सीमा को स्वीकार किया" (10,*14*,117-18)।

काट की "वस्तु-निजरूप" की धारणा घोर अतर्विरोधी है। इद्रियगत *अनुभव के स्रोत के रूप मे "वस्तु-निजरूप" को स्वीकार करते हुए* तथा यह भी मानते हुए कि यह एक परिघटना हो सकता है – और परिघटनाए ज्ञेय है – काट "निजरूप-वस्तुओ" की परम अज्ञेयता पर जोर देते हैं और यहा तक कि उन्हे इद्रियातीत भी समझते हैं। इस सबध मे, *अनिवार्यत. यह प्रश्न उठता है क्या काट "निजरूप-वस्तुओ"* को परासत्ताए (noumena) यानी अलौकिक, परलौकिक सत्ताए मानते है? इस प्रश्न के सकारात्मक उत्तर का, जो अनिवार्य प्रतीत होता है, अर्थ है भौतिकवादी प्रवृत्ति को अस्वीकार करना, जो हमारी अनुभूतियो को पैदा करनेवाली "निजरूप-वस्तुओ" की धारणा से जुड़ी हुई है। लेकिन तब "निजरूप-वस्तुए" परासत्ताओ से कैसे भिन्न है? अफसोस की बात है कि मार्क्सवादी दर्शन ने इस प्रश्न का विशिष्ट *अध्ययन नही पेश किया है, हालाकि यह काट के दर्शन की सही समझ* के लिए अत्यत महत्वपूर्ण है।

कांट के पहले आलोचकों में से एक फ्रेडरिक जैकोबी ने निम्नलिखित अवलोकन पेश किया, जो बाद में सुप्रसिद्ध हो गया. "वस्तु-निजरूप" एक ऐसी धारणा है, जिसके बिना कांट की प्रणाली में प्रवेश नहीं किया जा सकता, लेकिन जिसके साथ वहां रहा भी नहीं जा सकता कांट की "वस्तु-निजरूप" की धारणा के विप्रतिषेध की ओर इशारा करते हुए, जैकोबी ने इसमें तार्किक रूप से असमन्वित दावों के अलावा और कुछ नहीं देखा। उन्होंने कांट के दर्शन के मुकाबले में अधिभौतिक यथार्थता की एकमात्र प्रमाण्य समझ के रूप में विश्वास का अंतःप्रज्ञावादी सिद्धांत पेश किया, यानी उन्होंने उन सभी चीजों की पुष्टि की, जिनका कांट की 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना' ने खंडन किया।

कांट के "वस्तु-निजरूप" के सिद्धांत का अंतर्विरोधी स्रोत भौतिकवाद को प्रत्ययवादी के साथ समन्वित करने के प्रयास में निहित है। जैकोबी की भूल यह थी कि उन्होंने उन अंतर्विरोधों का नकारात्मक ढंग से मूल्यांकन किया, जिनका उन्होंने पता लगाया था। लेकिन ये अंतर्विरोध बहुत अर्थपूर्ण है और यह भी कहा जा सकता है कि वे परोक्ष रूप से समस्या के प्रति गहन दृष्टि का संकेत देते है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद असाधारण दार्शनिक सिद्धांतों के अंतर्विरोधों के ठोस मूल्यांकन की आवश्यकता को पुष्ट करता है। समस्याओं के प्रति सीमित और एकतरफा दृष्टिकोण पर काबू पाने के प्रयास में निहित सारगर्भित अंतर्विरोध केवल दोष नहीं, बल्कि निश्चित अर्थ में इन सिद्धांतों के गुण भी हैं। स्मरणीय है कि मार्क्स ने डेविड रिकार्डो के मूल्य-सिद्धांत के अंतर्विरोधों को एक अत्यंत जटिल आर्थिक समस्या के प्रति सही दृष्टिकोण की पूर्वापेक्षा के रूप में माना। कांट के "वस्तु-निजरूप" के सिद्धांत और रिकार्डो के मूल्य-सिद्धांत के बीच सादृश्य (स्पष्टतः केवल ज्ञानमीमांसीय और विधि से संबंधित पहलुओं में) उचित और फलप्रद है, क्योंकि हम जर्मन दार्शनिक की न केवल महान भ्रांतियों, बल्कि वस्तुगत रूप में अस्तित्वमान अंतर्विरोधों के बारे में भी कह रहे है।

कांट पर उनके असंगत दृष्टिकोण के लिए, किसी चीज को गलत समझने या नजरअंदाज करने के लिए, उनके अनुयायियों की दृष्टि में सुस्पष्ट अंतर्विरोधों के लिए आरोप लगाना गलत होगा। दार्शनिक सिद्धांत के विश्लेषण की ऐसी विधि दर्शन विरोधी होगी। यदि कांट ने "वस्तु-

की व्याख्या मात्र पूर्ण रूप से इन्द्रियातीत या केवल एक ज्ञान-
परिघटना के रूप में की होती, तो वह बिल्कुल गुणात्म
न तब वह महान चिन्तक नहीं हुए होते।
नन ने काट के दर्शन की आलोचना में सही भौतिकवादी रुख-
र काबू पाने की आवश्यकता की समस्या के प्रति एक गहन
न प्रदर्शित किया। काट के दर्शन की वैज्ञानिक आलोचना केवल
सम्प्रत्ययों को अस्वीकार ही नहीं करती बल्कि उन्हें ठीक भी
है। इस संबंध में लेनिन ने लिखा, "मार्क्सवादियों ने (२०वीं
शुरू में) काटवादियों और ह्यूमवादियों की हेगेल की अपेक्षा
ाख (और बुखनर) के ढंग से आलोचना की" (10.38.179)।
न-विधि की दृष्टि से बड़े महत्त्व का यह प्रेक्षण काट के सिद्धांत
र्तियों की विविध वास्तविक अन्तर्वस्तु का अध्ययन करने की
यकता की ओर इंगित करता है ताकि उन्हें सही वैज्ञानिक ढंग से
किया जा सके।
विदित है कि अपनी 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना' लिखने से पूर्व
ने एक मूलतः भौतिकवादी ब्रह्माण्डोत्पत्ति सिद्धांत की रचना की
जिसमें क्लासिकीय यांत्रिकी के नियमों के पूर्णतः अनुरूप खगोल-
ान द्वारा स्थापित तथ्यों को स्पष्ट किया और सौर-प्रणाली की
र्तमान संरचना, उत्पत्ति तथा विकास की एक वैज्ञानिक (अपने
य के लिए) व्याख्या पेश की। अपने अन्वेषण के सिद्धांतों को स्पष्ट
ते हुए काट ने लिखा "यहां कुछ अर्थ में और बिना किसी
के कहा जा सकता है मुझे भूतद्रव्य दीजिये और इससे मैं एक
नेया बना दूंगा अर्थात् मुझे भूतद्रव्य दीजिये और मैं आपको दिखा
गा कि इससे दुनिया कैसे निकलनी चाहिए।" उन्होंने कुछ पंक्तियों में
गे लिखा लेकिन क्या तब "ऐसी ही सफलता पर डींग मारी जा
कती है, जब हम नगण्य पौधों या कीड़ों का अध्ययन कर रहे हों?
या यह कहा जा सकता है मुझे भूतद्रव्य दीजिये और मैं आपको
देखा दूंगा कि इल्ली की सृष्टि कैसे की जा सकती है?.. अतः आप
आश्चर्य में न पड़ें, यदि मैं यह कहने का साहस करूं कि यांत्रिकी
के आधार पर एक तृण या इल्ली की उत्पत्ति को समझने की अपेक्षा
सभी खगोल-पिंडों की संरचना और उनकी गतियों का कारण, संक्षेप

मेरे बाहर दूसरी चीजो की सत्ता की प्रत्यक्ष चेतना भी है"
201) । यह प्रस्थापना बाह्य जगत् पर चेतना की निर्भरता को
करती है। लेकिन बाह्य जगत् की काट की अवधारणा द्वयर्थक
कि यह "निजरूप-वस्तुओ" और परिघटनाओ दोनो ही की ओर
करती है।*

उद्धरण 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना' के दूसरे सस्करण के लिए
गये अध्याय 'प्रत्ययवाद का खडन' से लिये गये हैं। वे उन समी-
का खडन करते हैं, जिन्होने इस कृति मे आत्मगत-प्रत्ययवादी
को अकारण ही नही देखा। बर्कले के साथ अपने विवादो पर
देते हुए काट दृढ़ता से दावा करते हैं कि निश्चित ढग से सगठित
रणाओं का एक समुच्चय, जो इद्रियो द्वारा अनुभूत प्रकृति के
मे या परिघटनाओ के समार के रूप मे समझा जाता है, अनिवा-
मज्ञान से पूर्णत स्वतत्र उन "निजरूप-वस्तुओ" के ससार की
ति की पूर्वकल्पना करता है, जो परिघटनाओ के समार के मूल मे
है। इद्रियो द्वारा अनुभूत चीजो का आत्मगत स्वरूप मानव-मज्ञान
विशिष्ट क्रियाविधि मे निहित है, लेकिन इद्रिय-अनुभूतिया, जो
न की अन्तर्वस्तु हैं, अनैच्छिक होती हैं, क्योकि वे हमारी इद्रियो
"निजरूप-वस्तुओ" के प्रभाव के फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं। अत
ना का तथ्य बाह्य जगत् के अस्तित्व को सिद्ध करता है और इद्रिय-
भूतिया प्रत्यक्षत "निजरूप-वस्तुओ" के अस्तित्व को दिखाती हैं
रे कुछ हद तक न केवल इद्रियगत तथ्यों की विविधता, बल्कि उनकी
र्वस्तु की विशिष्टताओ को निर्धारित करनेवाले इद्रिय-अनुभूतियो के
रणो के रूप मे समझा जाना चाहिए।

काट के अनुसार, स्वय यह तथ्य कि परिघटनाओं का समार नि-
वाद रूप से अस्तित्वमान है, "निजरूप-वस्तुओ" का अस्तित्व सिद्ध

---

* 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना' मे एक अन्य स्थान पर काट वस्तुगत
सार्थकता, "वस्तु-निजरूप" के साथ चेतना (और आत्म-चेतना) के
बध पर जोर देते हैं "मैं मेरी इद्रियो से सबध रखनेवाली अपने बाहर
ी चीजो के अस्तित्व के प्रति उतना ही सचेत हू जितना कि काल मे
पने अस्तित्व के प्रति" (73,3,31) ।

करता है, क्योंकि स्वयं शब्द "परिघटना" में किसी दूसरी चीज, अपरिघटना के अस्तित्व का इशारा निहित है, जो इंद्रियों द्वारा अनुभूत चीजों या परिघटनाओं के केवल इंद्रियगत अगोचर आधार के रूप में ही कल्पनीय है। दूसरे शब्दों में, "परिघटनाएं हमेशा एक वस्तु-निजरूप की पूर्वकल्पना करती हैं और फलतः उस ओर इशारा करती हैं ." (73,4,109)।

इस तरह, कांट दर्शन के मुख्य प्रश्न के भौतिकवादी और प्रत्ययवादी दोनों ही समाधानों को अस्वीकार करते हैं और द्वैतवादी प्रस्थान-बिंदु की आवश्यकता पर जोर देते हैं: एक ओर, चेतना, संज्ञान का विषयी, दूसरी ओर, उससे पृथक्कृत "निजरूप-वस्तुओं" का संसार, जो न केवल संज्ञान, बल्कि संज्ञान के विषय – परिघटनाओं के संसार के मुकाबले में भी रखा जाता है। परिघटनाओं का संसार संज्ञान के कार्यकलापों से संबद्ध है। वस्तुतः आत्मगत और वस्तुगत, आत्मिक और "भौतिक", परिघटना और "वस्तु-निजरूप" के बीच द्वैतवादी मुकाबला ही कांट के अज्ञेयवाद का प्रस्थान-बिंदु है।

भौतिकवाद के विपरीत, जो आत्मिक और भौतिक के पूर्ण अंतर्विरोध को मूल दार्शनिक प्रश्न (अर्थात् आत्मिक और भौतिक के बीच संबंध के प्रश्न) के ढांचे में सीमित करता है, द्वैतवाद इस सीमा को अस्वीकार करता है और आत्मिक और भौतिक के बीच अंतर्विरोध की व्याख्या सभी दृष्टियों से निरपेक्ष के रूप में करता है। लेकिन "निजरूप-वस्तुओं" की मूल अज्ञेयता का कांट का सिद्धांत केवल आत्मिक तथा भौतिक के द्वैतवादी मुकाबले पर ही आधारित नहीं है, यह प्राकृतिक विज्ञानों में ऐतिहासिक रूप से निर्धारित परिस्थिति और कुछ संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं की सामान्य विशिष्टताओं को भी प्रतिबिंबित करता तथा उनकी आत्मगतवादी व्याख्या पेश करता है। एंगेल्स ने लिखा, कांट के समय में "प्राकृतिक वस्तुओं का ज्ञान वास्तव में इतना अल्पतम था कि वह ठीक ही उनमें से प्रत्येक के बारे में हमारी कम जानकारी के पीछे एक रहस्यमय "वस्तु निजरूप" के अस्तित्व की कल्पना कर सके" (3,3,102)। १९वीं सदी के पूर्वार्ध में भी, जैसा कि हम देख चुके हैं, रसायनविज्ञान ने जैव तत्वों को रहस्यमय "निजरूप-वस्तुएं" के तौर पर माना। जब कांट ने अपने समय

के अनेक प्रकृतिविदो के विचारो की एक दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की।

उस समय के बाद असाधारण वैज्ञानिक खोजो और उनके आधार पर मानवजाति की व्यावहारिक उपलब्धियो ने काट के तथा किसी भी दूसरे अज्ञेयवाद के पूर्वाधारो का विश्वसनीय ढग से खडन कर दिया है। लेकिन स्पष्टत सज्ञान की प्रक्रिया, असज्ञेय "निजरूप-वस्तुओ" के "हमारे निमित्त वस्तुओ" मे रूपातरण के अतर्विरोध गायब नही हो गये हैं। ये अतर्विरोध सज्ञान के विकास मे प्रत्येक ऐतिहासिक अवस्था मे पुनरुत्पादित (सामान्यत गुणात्मक तौर से नये रूप मे) होते है। "हमारे निमित्त वस्तु" तथा "वस्तु-निजरूप" के बीच अतर केवल सज्ञात और अज्ञात के बीच ज्ञानमीमासीय अतर ही नही है। लेनिन के शब्दो मे, "वस्तु-निजरूप हमारे निमित्त वस्तु से भिन्न है, क्योकि हमारे निमित्त वस्तु वस्तु-निजरूप का मात्र एक अग या मात्र एक पहलू है" (10,*14*,119) । अत ज्ञात अधिक व्यापक, अब भी अज्ञात समष्टि का एक अग है तथा कुछ हद तक उसपर निर्भर करता है।

सज्ञान की प्रत्येक नयी अवस्था उस चीज को भी प्रकट करती है जो पहले पूरी तरह अज्ञात थी – नयी अज्ञात परिघटनाए। यह भी ज्ञान की प्रगति की अभिव्यक्ति है अज्ञात वस्तुओ की कम होती हुई सख्या का विचार केवल ज्ञान के एक निश्चित दायरे मे ही सही है, इसे सपूर्ण सज्ञानात्मक प्रक्रिया पर, सभी सुलभ और सभव (लेकिन अब भी गोचर नही) वस्तुओ पर लागू नही किया जाना चाहिए। क्योकि अतिम विश्लेषण मे, सज्ञान की सम्पूर्ण प्रक्रिया का विषय उसके ऐतिहासिक विकास के सपूर्ण आयाम को देखते हुए अपरिमित है। यह सही है कि परिमित का सज्ञान करते हुए हम अपरिमित को भी मान्यता देते हैं, परतु दोनो के बीच मूल अतर बना रहता है।

मार्क्सवादी दर्शन "वस्तु-निजरूप" की ज्ञेयता मे अज्ञेयवादी अविश्वास तथा निरपेक्ष ज्ञान की प्राप्ति मे विरोधी अधिभूतवादी विश्वास के साथ लेशमात्र मेल नहीं खाता। १७वी सदी की अधिभूतवादी प्रणालियो के सस्थापको के निरपेक्ष ज्ञान प्राप्त करने की सभावना के अधिभूतवादी दृष्टिकोण को हेगेल ने पुनर्जीवित किया। धर्मशास्त्री भी हमेशा इस दृष्टिकोण की ओर आकर्षित हुए हैं, क्योकि उनकी राय मे, ईश्वरादेश में सारे सत्य, स्पष्टत परम सत्य विद्यमान हैं।

सैद्धांतिक प्राकृतिक विज्ञानों की संभावना के बारे में एक प्रश्न है। हम जानते हैं कि काट इसका स्पष्टत सकारात्मक उत्तर देते हैं।

इस बात पर ज़ोर दिया जाना चाहिए कि १७वीं सदी के अधिभूतवादी दार्शनिकों के साथ अपने सभी विवादों के बावजूद काट कुछ हद तक उनके उत्तराधिकारी भी हैं। परिकल्पनात्मक अधिभूतवाद के धर्मशास्त्रीय निहितार्थ इसकी मूलभूत अंतर्वस्तु कदापि नहीं बनाते। प्रागनुभविक चिंतन और ज्ञान के बारे में तर्कबुद्धिवादी सिद्धांत १७वीं सदी के गणित और यांत्रिकी की उपलब्धियों में, इन निगमनात्मक विज्ञानों के विकास के विशिष्ट पहलुओं में बद्धमूल हैं, जिनकी प्रस्थापनाएं अकाट्य रूप से सार्विक हैं। इस निर्विवाद (जैसा कि उस समय प्रतीत हुआ) सार्विकता का स्रोत क्या है? १७वीं सदी के तर्कबुद्धिवादियों ने गणितीय संरचनाओं के तार्किक रूप की जाच की और वे अपनी राय में इस एकमात्र संभव निष्कर्ष पर पहुंचे कि ये संरचनाएं अनुभव से स्वतंत्र हैं, प्रागनुभविक हैं। यही अधिप्रायोगिक ज्ञान की संभावना के बारे में अधिक सामान्य निष्कर्ष का भी कारण है। काट प्रागनुभविक की व्याख्या एक ऐसी चीज़ के रूप में करते हुए इस निष्कर्ष को अस्वीकार करते हैं, जो अनुभव के पहले आती है, केवल अनुभव के लिए ही प्रयोज्य है, अतः अधिप्रायोगिक रूप से अप्रयोज्य है।

काट सत्ता के अधिभूतवादी सिद्धांत को संज्ञान करनेवाले चिंतन के प्रवर्गों के बारे में, इंद्रियगत तथ्यों के प्रवर्गीय संश्लेषण के बारे में एक सिद्धांत में परिवर्तित करते हैं। अपने आत्मगत स्वरूप के बावजूद प्रवर्गों की ज्ञानमीमांसीय व्याख्या ने एक वास्तविक द्वंद्वात्मक समस्या पेश की। यह संयोग की बात नहीं है कि काट इंद्रियातीत विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण का उपयोग उस नये, अनाकारगत तर्कशास्त्र को सिद्ध करने के लिए करते हैं, जिसे वह इंद्रियातीत कहते हैं।

इंद्रियातीत द्वंद्ववाद – 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना' का एक महत्वपूर्ण भाग – अधिप्रायोगिक ज्ञान के अधिभूतवादी दावों का दोष सिद्ध करने को प्रत्यक्षत. समर्पित है। अधिभौतिकी के मौलिक विचार – मनोवैज्ञानिक, ब्रह्माडवैज्ञानिक और धर्मशास्त्रीय विचार – वस्तुगत अंतर्वस्तु से रहित हैं तथा इंद्रियातीत सत्ताओं के अस्तित्व को परोक्ष रूप से भी सिद्ध नहीं कर सकते। बुद्धि केवल बौद्धिक धारणाओं का ही अध्ययन करती है,

मे अनुभूत चीजे सश्लेषण की उपज है, जिसे बुद्धि की कल्पना की अचेतन उत्पादक शक्ति द्वारा इद्रियातीत स्कीमों और प्रवर्गों के उपयोग से पूरा किया जाता है। काट के अनुसार, "परिघटनाएं निजरूप-वस्तुए नही, बल्कि केवल हमारी धारणाओं का खेल है, जो अतिम विश्लेषण मे आतरिक अनुभूति की परिभाषाओ मे रूपातरित हो जाती है" (73,*3*,613)।

अत "वस्तु-निजरूप" की काट की धारणा की द्वयर्थकता प्रकृति की धारणा तथा सज्ञानात्मक प्रक्रिया की आत्मगतवादी विकृति की ओर ले जाती है। लेकिन इससे स्पष्टत "वस्तु-निजरूप" की नवकाटपथी अस्वीकृति को उचित नही ठहराया जा सकता है। लेनिन के शब्दो मे, "ससार-निजरूप एक ऐसा ससार है, जो बिना हमारे अस्तित्वमान है" (10,*14*,118)। लेनिन इगित करते है कि काट की गलती "वस्तु निजरूप" के अस्तित्व की स्वीकृति मे नही, बल्कि उसके इद्रियातीत, अज्ञेय स्वरूप के दावे मे है। लेनिन जोर देते है कि दैनदिन मानवीय अनुभव दिखाता है कि "वस्तु-निजरूप" ज्ञेय है, "क्योकि प्रत्येक व्यक्ति ने लाखो बार 'वस्तु-निजरूप' की परिघटना मे, 'हमारे निमित्त वस्तु' मे सरल और स्पष्ट रूपातरण का प्रेक्षण किया है। वस्तुत यही रूपातरण सज्ञान है" (10,*14*,120)।

काट के दर्शन की आत्मगत ढग से व्याख्या करनेवाले उनके अनुयायी सामान्यत "वस्तु-निजरूप" और परागमताओ को एकसमान मानते है। उदाहरणार्थ, 'दार्शनिक भाषा का शब्दकोश' मे पाल फुल्के डिफ [illegible] "दृश्यमानता—परागमता" से आगे बढते हुए दावा करते है कि "वस्तु निजरूप" "परागमता" का समानार्थक है (53,491)। यही दृष्टिकोण डी० हेन्स (94,215), बी० कुमार (57,2,231) और आर० [illegible] (47,887) का भी है। लेकिन ये सभी विद्वान अपने को काट की शब्दावली के विश्लेषण तक ही सीमित रखते है तथा "वस्तु निजरूप" तथा परागमताओ के उनके सिद्धात के सार का अध्ययन नही प्रस्तुत करते। इसके अलावा, वे काट की शब्दावली की भावकता को [illegible] है, यह अक्सर इन दो धारणाओ को बाध्यकर, "[illegible]" (Verstandeswesen) की सामान्य धारणा मे [illegible] करता है (73,3,219)।

कि 'व्यावहारिक बुद्धि की आलोचना' में प्रतिपादित काट के नैतिक सिद्धांत के लिए, जो कुछ हद तक पहली आलोचना का खडन करती है। लेकिन काट के नीतिशास्त्र का विश्लेषण इस विचार का खडन करता है (जैसा कि यह नीचे सिद्ध हो जायेगा) तथा सैद्धांतिक बुद्धि के उनके सिद्धात से निकाले गये निष्कर्षों को पुष्ट करता है। काट के नीतिशास्त्र में परासत्ताओं की परिभाषा व्यावहारिक बुद्धि के अभ्युपगम के रूप में की जाती है। इसका अर्थ यह है कि निरपेक्ष स्वतत्र सकल्प, व्यक्तिगत अनश्वरता और ईश्वर के अस्तित्व के बारे में दावा तथ्यात्मक और सैद्धांतिक रूप से निराधार है। यहा जोर दिया जाना चाहिए कि काट "निजरूप-वस्तुओं" को व्यवहारिक बुद्धि के अभ्युपगम नही मानते। नैतिक बुद्धि का उनसे कोई सबध नही है। काट दावा करते है कि चेतना केवल वहीं तक नैतिक है *जहा तक यह 'निजरूप-वस्तुओं' से प्रभावित* नही होती यानी बाह्य रूप से निर्धारित नही होती। अत सैद्धांतिक बुद्धि के *सिद्धात में अस्थायी रूप से प्रस्तुत 'निजरूप-वस्तुओं' और* परासत्ताओं के बीच भेद काट के नीतिशास्त्र मे आमूल विरोध बन जाता है। व्यावहारिक बुद्धि कतई सज्ञान नहीं करती। इसके विचार केवल नैतिक आत्मचेतना व्यक्त करते है। अत काट के विचार मे, "उन विचारों की यथार्थता की बात तो दूर हम उनकी सभावना के सज्ञान व अभिज्ञान का भी दावा नही कर सकते" (73,5,4)।

धर्मशास्त्र का विरोध करते हुए काट सिद्ध करते है कि धर्म नैतिकता का आधार नही, बल्कि नैतिकता धर्म का स्रोत है। बेशक, यह प्रत्ययवादी दृष्टिकोण है, लेकिन इसकी धर्म-विरोधी प्रवृत्ति सुस्पष्ट है। अत व्यावहारिक बुद्धि के अभ्युपगम नैतिक चेतना की पूर्वशर्ते नही बल्कि इसके आवश्यक विश्वास है, जो प्रतिफल के निरपेक्ष नियोग के बारे मे विश्वासों से मेल खाते है। लेकिन ये विश्वास वास्तविक ससार मे वास्तविक तथ्यों से मेल नहीं खाते। तो भी, नैतिक चेतना केवल वहीं तक ऐसी रहती है जहा तक इसे विश्वास होता है कि न्याय देश और काल में कोई सीमा नही जानता। काट के अनुसार "मृत्योपरात जीवन मे विश्वास न्याय द्वारा मनुष्य पर थोपे जानेवाले प्रतिफल को सिद्ध करने का पूर्वाधार नही है, उल्टे यह है कि मृत्योपरात जीवन

बुद्धिवादी लेव शेस्तोव, जो इस चीज को नही स्वीकार कर सके कि काट के लिए परासत्ताओं से भिन्न "निजरूप-वस्तुएं" वस्तुगत दर्जा रखती हैं, इसका रोषपूर्वक उल्लेख करते हैं। शेस्तोव लिखते हैं "यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है, जिसपर हम सभी लोगो ने काफी विचार नही किया है। काट बिल्कुल आरामपूर्वक, मैं तो यह भी कहूंगा कि आनदपूर्वक, अपनी बुद्धि से ईश्वर के अस्तित्व, आत्मा की अनश्वरता और स्वतत्र सकल्प की (यानी उन चीजो की, जिन्हे वह अधिभूतवाद का सारतत्व मानते है) 'अप्रमाण्यता' पर पहुचे और माना कि नैतिकता पर आधारित विश्वास उनके लिए पूर्णत काफी होगा तथा वे सरल अभ्युपगम होने के अपने उद्देश्य को भली-भाति पूरा करेंगे, परतु इस विचार से कि बाह्य चीजो की यथार्थता विश्वास पर आधारित हो सकती है, वह सचमुच भयभीत थे . ईश्वर, आत्मा की अनश्वरता तथा स्वतत्रता को विश्वास और अभ्युपगमो मे गुजारा क्यो करना चाहिए, जब कि Ding an sich को वैज्ञानिक प्रमाण मुक्तहस्त मे प्रदान किये जाते हैं" (34,221-22)। यह वाग्मितापूर्ण प्रश्न स्पष्ट बना देता है कि प्रत्ययवादियो के लिए काट का दर्शन बिल्कुल अस्वीकार्य है।

अतींद्रिय पर प्रवर्गों (और आम तौर से सभी प्रागनुभविक रूपों) की अप्रयोज्यता के बारे में स्थापना काट के सिद्धात का एक मूल तत्व है। लेकिन वह न केवल अस्तित्व और कारणता के प्रवर्गों, बल्कि ऐसी दूसरी चीजों को भी "निजरूप-वस्तुओं" पर लागू करते हैं, जिनका महत्व, उनके अनुसार, परिघटनाओं के क्षेत्र तक ही सीमित है। काट के दर्शन के सुप्रसिद्ध पश्चिम जर्मन विशेषज्ञ गोटफ्रिड मार्टिन इस बारे में लिखते हैं "यह कहा जा सकता है कि काट लगभग सभी प्रवर्गों [illegible] एकता, अनेकता, कारणता, सामान्यता, [illegible] और आवश्यकता के प्रवर्गों को वस्तु निजरूप पर लागू करते हैं" (56,227)। लेकिन यह परासत्ताओं के बारे में नहीं कहा जा सकता [illegible] प्रवर्ग लागू नहीं करते और इस तरह इंद्रियगत [illegible] का सामना करते हैं।

[illegible] जा सकता है कि "निजरूप-वस्तुओं" और परासत्ताओं [illegible] की [illegible] के लिए आवश्यक है।

पर निर्भर होते है और परिणामो के लिए उनकी जिम्मेदारी निर्धारित करते है।

तब अन्य परासत्ताओ, व्यावहारिक बुद्धि के अभ्युपगमो के बीच इद्रियातीत स्वतत्रता के विचार का क्या स्थान है? जैसा कि विदित है, धर्मशास्त्र दावा करता है कि परम स्वतत्र सकल्प वस्तुओ की स्वाभाविक व्यवस्था से मेल नही खाता यानी यह प्रत्यक्ष दिव्य पूर्वनिर्धारण का मामला है। यहा भी काट वस्तुत धर्मशास्त्र-विरोधी स्थिति रखते है यह दावा करते है कि ईश्वर और व्यक्तिगत अनश्वरता की धारणाए स्वतत्रता की धारणा से पैदा होती है। यहा काट किसी भी दूसरे प्रश्न से अधिक दृढ है "चूकि स्वतत्रता की धारणा की यथार्थता व्यावहारिक बुद्धि के एक निश्चित अकाट्य नियम द्वारा सिद्ध हो जाती है इसलिए यह धारणा शुद्ध, यहा तक कि परिकल्पनात्मक बुद्धि की प्रणाली के सपूर्ण भवन की भी आधारशिला (Schlusstein) है और सभी अन्य धारणाए (ईश्वर और अनश्वरता के बारे मे), जो मात्र विचार होते हुए इस प्रणाली पर आधारित नही होती, इसमे तथा इसके साथ जुड जाती है तथा इसकी वजह से वे दृढता और वस्तुगत यथार्थता प्राप्त कर लेती है अर्थात उनकी सभावना इस चीज से सिद्ध होती है कि स्वतत्रता वास्तविक है क्योकि यह विचार स्वय नैतिक नियम मे व्यक्त होता है। लेकिन स्वतत्रता परिकल्पनात्मक बुद्धि का एकमात्र विचार है जिसकी सभावना को चाहे हम नही समझते पर a priori जानते है, क्योकि यह उस नैतिक नियम की एक शर्त है, जो हमे ज्ञात है। लेकिन ईश्वर और अनश्वरता की धारणाए नैतिक नियम की शर्ते नही, बल्कि इस नियम द्वारा निर्धारित सकल्प के आवश्यक विषय की शर्ते है" (73,5,3-4)।

सभवत काट की कृतियो मे दूसरा उदाहरण मुश्किल मे ही मिलेगा, जिसमे काट व्यावहारिक बुद्धि के विचारो के परस्पर-सबधो की अपनी व्याख्या इतने स्पष्ट और खुले ढग से करते हो। काट की प्रणाली मे नैतिक नियम झूठ बोलने की मनाही करता है लेकिन जहा आवश्यक हो, मौन-आकृति की अनुमति देता है, जिसका काट ने अक्सर सहारा लिया, क्योकि उनके "शुद्ध बुद्धि की सीमाओ मे धर्म" की सरकारी तौर से निंदा की गयी। अत काट दावा करते है कि स्वतत्रता के

के बारे में नियार्य दड की आवश्यकता में निगमित किया जाता है (73,7,306)।

काट वस्तुत दावा करते हैं कि ममार को अन्याय से मुक्त करने की अनिवार्य असफलता नैतिक चेतना को दिव्य निर्णय को स्वीकार करने के लिए विवश करती है। और चूकि नैतिकता मूलत आतरिक नियम की अनन्य स्वीकृति है, इसलिए धर्मशास्त्रीय अभ्युपगम कर्तव्य और वास्तविकता के बीच अतर्विरोध प्रकट करते हैं। काट के नीतिशास्त्र मे ईश्वर अनिवार्यत शुद्ध व्यावहारिक बुद्धि द्वारा कल्पित एक अनत कर्तव्य है। व० फ० आस्मुस ठीक ही कहते हैं: "काट धर्म की अलौकिक अतर्वस्तु के वास्तविक सत्तामीमांसीय महत्व से पूर्णत इन्कार करते हैं ईश्वर की धारणा धारणाओ और उनके लक्षणो के सबधो में नही, बल्कि अतःकरण के गहराई मे बुराई, ममार मे विद्यमान नैतिक कलह, सामाजिक बुराई से समझौता करने की मनुष्य की अक्षमता में निहित है" (14,443)।

शुद्ध व्यावहारिक बुद्धि के अभ्युपगमो के बीच मे काट स्वतत्र सकल्प को नैतिकता की एक परम (और इस अर्थ मे प्रारभिक) शर्त के रूप में अलग करते हैं, जिसका स्वय अस्तित्व इस स्वतत्र सकल्प के अस्तित्व का प्रमाण है। लेकिन इसका सबध केवल एक प्रागनुभविक विचार के रूप में कल्पनीय परासत्ता या तथाकथित सत्तामीमांसीय, आद्य स्वतत्रता से नही, बल्कि सापेक्ष स्वतत्रता से है, जो नैतिकता की सभावना को स्पष्ट करने मे पूर्णत पर्याप्त है। काट के शब्दो मे, "स्वतत्रता व्यावहारिक अर्थ मे इंद्रिय-अनुभूति के आवेगो की वाध्यता मे सकल्प (Willkür) की स्वतत्रता है" (73,3,375)। काट की स्वतत्रता की यह परिभाषा मूलत. स्पिनोज़ा तथा अन्य पूर्वमार्क्सवादी भौतिकवादियों की परिभाषाओ से मिलती-जुलती है, जिन्होंने स्वतत्रता को अनुभावो पर बुद्धि के प्रभुत्व के रूप में समझा। और हालांकि काट की राय में, व्यावहारिक स्वतत्रता इंद्रियातीत स्वतत्रता के विचार से उत्पन्न होती है, वह इंद्रियगत आवेगो से सकल्प की सापेक्ष स्वतत्रता की व्याख्या इंद्रियानुभविक रूप से प्रमाणित तथ्य के रूप में करते हैं, जो ऐसे कार्यकलापो के लिए एक पर्याप्त आधार बनाता है, जो विरोधी

विचार (वस्तुत स्वतत्रता) को ईश्वर तथा अनश्वरता के लिए के पूर्ववर्ती और जन्मदाता के अर्थ मे लिया जाना चाहिए।

इस तरह, एक ओर, नैतिकता के अस्तित्व द्वारा प्रमाणित स्वतंत्रता का तथ्य है और दूसरी ओर, धर्मशास्त्रीय विचार, जिन्हें नैतिक रूप से मूलत स्वतन्त्र चेतना के विश्वासो के रूप मे ही समझा जा सकता है। कांट दावा करते है कि केवल व्यावहारिक बुद्धि ही "स्वतंत्रता की धारणा के जरिये ईश्वर और अनश्वरता के विचारो को वस्तुगत यथार्थता और अधिकार और, इससे भी अधिक, उनकी कल्पना करने के लिए आत्मगत आवश्यकता (शुद्ध बुद्धि की आवश्यकता) प्रदान करती है" (73,5,4-5)।

गलतफहमी से बचने के लिए तत्काल उल्लेख किया जाना चाहिए कि कांट शब्द "वस्तुगत यथार्थता" का उपयोग सज्ञान मे सत्ता की यथार्थता को निर्दिष्ट करने के लिए नही, बल्कि बुद्धि के विचारो (और सामान्यत सज्ञान के रूपो) की परिभाषा के लिए करते है जो उनके आवश्यक तार्किक महत्त्व को व्यक्त करती है। ईश्वर और अनश्वरता की धारणाओं को, जो कांट के अनुसार, ज्ञान की वस्तुएं से नही निर्गमित की जाती और जो व्यावहारिक बुद्धि के [illegible] अभ्युपगम बनाती है, नैतिक नियम के कार्यान्वयन के लिए [illegible] व्यावहारिक बुद्धि की स्वतन्त्रता के परिणाम के रूप मे उसकी अत्यन्त आवश्यकता से ही स्पष्ट किया जा सकता है। इसलिए ये विचार [illegible] नहीं है। मनुष्य ईश्वर और अनश्वरता के विचारो की रचना [illegible] रूप मे नही बल्कि अपनी आवश्यकताओं के अनुसार करता है जो [illegible] नही है। इस विचार को बाद मे फायरबाख ने [illegible] किया [illegible] जगत् के सामने अपनी लाचारी को समझते हुए [illegible] से कम से कम भ्रामक [illegible] करते हुए मनुष्य सर्वशक्तिमान के विचार का सृजन करता है। [illegible] भौतिकवादी थे, जबकि कांट "शुद्ध बुद्धि के [illegible] करता है [illegible] (73, [illegible]), इस [illegible] है [illegible] करती [illegible] की आत्म [illegible] का [illegible]

पर पहुंचे बिना नहीं रहा जा सकता कि कांट के वस्तु-निजरूप के सिद्धांत के विश्लेषण में सामान्यतः जिस असंगतता पर जोर दिया जाता है, वह समस्या के वास्तविक समाधान के लिए उद्देश्यपूर्ण खोज का विपरीत पहलू है। यह खोज उसकी बुद्धि को संतुष्ट करनेवाला आमूल समाधान प्राप्त करने के लिए प्रश्न के सरलीकरण से लेशमात्र मेल नहीं खाती। कांट के दर्शन की प्रत्ययवादी व्याख्या के विपरीत द्वंद्वात्मक भौतिकवाद कांट द्वारा पेश की गयी समस्या की उसके ऐतिहासिक विकास की समग्रता में व्याख्या और समाधान करता है।

करनेवाले विषयी से स्वतंत्र विषय कम से कम प्रत्यक्षतः उनके सैद्धांतिक विचारो को नही निर्धारित करते। सैद्धांतिक विचारो का स्वरूप न केवल ज्ञान के विषय द्वारा, बल्कि परिघटनाओ के अनुसंधान से अधिक जटिल परस्पर-संबधो – प्राकृतिक और सामाजिक, वस्तुगत और आत्मगत, शारीरिक और मानसिक – द्वारा भी प्रभावित होता है। अतः कांट की गलती परिघटनाओ और "निजरूप-वस्तुओ" के बीच भेद करने मे नही, बल्कि उन्हे एक दूसरे के मुकाबले मे रखने मे है।

"वस्तु-निजरूप" की तर्कसंगत परिभाषा देने मे असफल होने के लिए कांट को दोषी नही ठहराया जा सकता। उनके सामने से ऐसी परिभाषा उस समस्या से पलायन होती, जिसे कांट ने पेश करके उसकी सभी जटिलताओ को हल करने की कोशिश की। "वस्तु-निजरूप" की औपचारिक रूप से व्याख्या करने के सारे प्रयास निरर्थक है। वास्तविक असीमित रूप से विविध वस्तुओ की परिभाषा सिर्फ वही तक अर्थपूर्ण है जहा तक यह उनकी अनेकानेक अमूर्त, और इसलिए एकतरफा परिभाषाओ को एकीकृत करती है। लेकिन वस्तुगत रूप से अस्तित्वमान चीजो की इस विविधता को कैसे परिभाषित किया जाए, जो एक बड़ी (संभवतः अत्यधिक) हद तक अब भी ज्ञान का विषय नही है?

इस प्रकार, कांट की "वस्तु-निजरूप" की धारणा का विश्लेषण उसके द्वारा प्रस्तुत समस्या के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करता है। हम इस एक धारणा के रूप मे "वस्तु-निजरूप" के विरोधाभास का ही नही, बल्कि स्वयं ज्ञान की प्रक्रिया के अंतर्विरोधो का भी जिक्र करना चाहिए [illegible] किन्तु कुछ हद तक कांट प्रकट करते है। इसके अलावा इस प्रकार स्वयं वस्तुगत यथार्थता के अंतर्विरोधो का भी उल्लेख करना चाहिए। उदाहरणार्थ, सामान्य और सारतत्व, सारभूत और परिघटनात्मक के बीच [illegible] और [illegible] के [illegible] है। और जब कांट "वस्तु-निजरूप" के विभिन्न अर्थो के बीच [illegible] इस बात से है कि यह [illegible] है। [illegible] हुए हम लिखते

के रूपो का भी अध्ययन करता है। "इस मामले मे, एक ऐसा तर्कशास्त्र होना चाहिए, जो अपने को सज्ञान की किसी भी अतर्वस्तु से पृथक् न करता हो" (73,3,83) । परिघटनाओ के जगत् की आत्मगतवादी व्याख्या के बावजूद यह स्पष्टत एक नये, द्वद्वात्मक तर्कशास्त्र की आवश्यकता को स्वीकार करता है। इस तर्कशास्त्र को विषयो के बारे मे हमारे ज्ञान के स्रोत का पता लगाना चाहिए, क्योकि यह ज्ञान सार्विक और आवश्यक या (जो काट की दृष्टि मे एक ही बात है) वस्तुगत स्वरूप का है।

इद्रियातीत तर्कशास्त्र चितन के प्रागनुभविक रूपो और इन्हे इद्रियगत तथ्यो पर लागू करने के बारे मे सिद्धात है। ये प्रागनुभविक रूप सज्ञान के प्रवर्गीय रूपो की सार्विकता तथा आवश्यकता की प्रत्ययवादी और अज्ञेयवादी ढग से की गयी व्याख्या हैं। अत इद्रियातीत तर्कशास्त्र कुछ हद तक द्वद्वात्मक तर्कशास्त्र की समस्याओ की पूर्वकल्पना करता है। हम "कुछ हद तक" कहते है, क्योकि काट **प्रवर्गों के विकास** को जाच से बाहर कर देते हैं क्योकि वह उन्हे चितन तथा सामान्यत अनुभव के अपरिवर्तनीय सरचनात्मक रूपो के तौर पर मानते है। परतु द्वद्वात्मक तर्कशास्त्र (और आम तौर से द्वद्ववाद) चितन मे निहित सार्विकता के रूपो के विकास की जाच करता है। इस प्रकार, काट, जिन्होने द्वद्ववाद के इतिहास मे असाधारण भूमिका अदा की और जो द्वद्वात्मक प्रत्ययवाद के प्रवर्तक बन गये, सही अर्थ मे द्वद्वात्मक प्रत्ययवादी नही थे।

काट के एक सीधे अनुयायी जोहान गोत्तलिब फिख्ते द्वद्वात्मक प्रत्ययवाद के पहले प्रतिनिधि थे। जैसा कि मार्क्स इगित करते है, प्रत्ययवादी ढग से प्रतिपादित स्पिनोजा के मूलतत्व के साथ परम विषयी की फिख्ते की धारणा हेगेल के दर्शन का अग बनी। हेगेल की यह स्थापना कि मूलतत्व को विषयी भी समझा जाना चाहिए (कि यह एक **विकासमान मूलतत्व** के रूप मे विषयी बन जाता है), फिख्ते के दर्शन मे अप्रत्यक्ष रूप से पहले ही विद्यमान है।

द्वद्वात्मक प्रत्ययवादी फिख्ते अपने द्वद्ववादी पूर्ववर्तियो से मूलत भिन्न हैं। दर्शन के इतिहास मे पहली बार उन्होने अनुसधान की एक विधि, विकास के सिद्धात, वैज्ञानिक ज्ञान के प्रवर्गों की प्रणाली और

जोहान गोत्तलिब फ़िख़्ते का द्वंद्वात्मक प्रत्यय

द्वद्ववाद के सिद्धांत और द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र के आविर्भाव के बहुत पहले ही द्वद्ववाद अस्तित्व मे आ चुका था। लेकिन सैद्धांतिक रूप से प्रमाणित प्रस्थापनाओ की एक प्रणाली के रूप मे विकास का सिद्धांत, जो सज्ञान का एक सिद्धांत तथा चिंतन की अधिभूतवादी प्रणाली के साथ सुविचारित ढग से विरोध दर्शानेवाली एक विधि भी है, द्वद्ववाद केवल क्लासिकीय जर्मन दर्शन मे ही प्रकट होता है। देकार्त, स्पिनोज़ा, लीबनिज, दिदेरो और रूसो तक मे, जो मेधावी द्वद्वात्मक अतर्दृष्टि से सपन्न थे, हमे द्वद्ववाद का सिद्धांत नही मिलता।

इमैनुएल कांट ने सैद्धांतिक सज्ञान के उच्चतम स्तर पर अतर्विरोधो की अनिवार्यता के बारे मे एक सिद्धांत तैयार किया। कांट का इंद्रियातीत द्वद्ववाद शुद्ध बुद्धि की अपरिहार्य ग़लतियो का सिद्धांत है, जो अपनी प्रकृति के अनुसार, अनुभव तथा सहजबुद्धि की अनिवार्य सीमाओ के ऊपर उठने की कोशिश करती है। कांट के "इंद्रियातीत तर्क" का आकारगत तर्क से मुक़ाबला निस्सदेह द्वद्वात्मक तर्कशास्त्र की रचना करने की समस्या पेश करता है। कांट ने इंगित किया कि आकारगत तर्कशास्त्र अपने को सभी अतर्वस्तुओ से पृथक कर लेता है और केवल चिंतन के शुद्ध रूपो की जाच करता है। अत चिंतन के वे रूप, जो अपनी सार्विकता के अतर्गत निश्चित अतर्वस्तु से सपन्न होते है (खास तौर से, सभी प्रवर्ग ऐसे होते है), आकारगत तर्कशास्त्र से बाहर रहते है। आकारगत तर्कशास्त्र आवश्यक और सायोगिक मे, सभव और वास्तविक मे तथा अन्य प्रवर्गों यानी चिंतन के ऐसे रूपो मे दिलचस्पी नही लेता, जो चिंतन का ध्यान किये बिना सार्विकता के अस्तित्वमान रूपो को प्रतिबिबित करते है। कांट के अनुसार, तर्कशास्त्र न केवल चिंतन के अस्तित्वमान रूपो, बल्कि स्वत परिस्थापनाओ मे निहित सार्विकता

ने अस्तित्व के किसी क्षण मे उस चीज़ से भिन्न होऊ, जो मै यथा-
ा मे हू" (52,3,15) । लेकिन अगर यह बात है, तो इसका अर्थ
है कि आम तौर से कोई भी "अहम्", कोई भी व्यक्तित्व अस्तित्व
ी रखता। लेकिन इद्रियानुभविक "अहम्" यानी मानव-व्यक्ति
कृति की सर्वशक्तिमत्ता को नही चाहता है और अतएव उसके समक्ष
मस्तक नही हो सकता। यह "अहम्" इसपर थोपी गयी दासता
खिलाफ विद्रोह करता है और इस विद्रोह की शक्ति बाह्य जगत्
अपने वास्तविक सबध को समझने मे उसे मदद करती है। फिख्ते
खते हैं "मुझमे एक पूर्ण, स्वतत्र स्व-कार्य की उत्कट चाह है।
रे लिए केवल दूसरे मे, दूसरे के लिए और दूसरे के जरिये अस्तित्व
कम कोई भी चीज़ स्वीकार्य नही है। मै स्वय अपने लिए और स्वय
पने ज़रिये कुछ होना और बनना चाहता हू। ज्यो ही अपने
ो अनुभव करता हू, त्यो ही मैं इस उत्कट चाह को महसूस
रता हू, इसे मेरी आत्म-चेतना से पृथक नही किया जा सकता"
52,3,85) ।

ऐतिहासिक विकास के कारण, जिसकी अत्यत महत्वपूर्ण अतर्वस्तु
फिख्ते के अनुसार, स्व-ज्ञान है, मनुष्य महसूस करता है कि वह एक
अकेले व्यक्ति, एक इद्रियानुभविक "अहम्" के रूप मे ही अपनी
बाह्य तथा आतरिक प्रकृति का दास है, जो मानवजाति के सार्विक
'अहम्" के साथ, परम विषयी या उस अनत कार्य के साथ अपनी
एकता के प्रति अचेत है जो निषेध की परम शक्ति और रचनात्मकता
की परम शक्ति है।

फिख्ते दावा करते हैं कि आत्म-चेतना मनुष्य को छद्म आवश्यकता
का सामना करने के लिए विवश करती है। और तब यह प्रकट होता
है कि वह केवल एक इद्रियानुभविक "अहम्" के रूप मे प्रकृति की
उपज है, लेकिन परम विषयी से सबद्ध एक शुद्ध "अहम्" के रूप मे
मनुष्य प्रकृति तथा इसमे निहित आवश्यक्ता का रचनाकार है। स्वतत्रता
परम विषयी का सार है। इसका सकल्प, परम सकल्प," इस ससार के
परिणामों की शृखला की पहली कड़ी है, उस शृखला की, जो आत्माओ
के सपूर्ण अदृश्य राज्य से होकर गुज़रती है, वैसे ही, जैसे कि लौकिक
जगत् मे कार्य भूतद्रव्य की ज्ञात गति, उस भौतिक शृखला की पहली

निर्भर करते हैं। इस सूरत में, इस विश्वास का क्या आधार है कि स्वय लोग अपने इतिहास का निर्माण करते हैं?

बुर्जुआ प्रबोधन ने इस विप्रतिषेध को कभी नही सुविस्त किया। यह सही है कि कभी-कभी स्वतत्र सकल्प तथा आवश्यकता के बारे में प्रश्न के सबध में प्रबोधको ने इस अतर्विरोध को टटोला। उदाहरण के तौर पर, यद्यपि १८वी सदी के फ्रासीसी भौतिकवादियो ने आवश्यकता की भाग्यवादी व्याख्या पेश की, तथापि उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि स्वय लोग अपने इतिहास का निर्माण करते हैं। यह निष्कर्ष प्रत्यक्षत उनके अनीश्वरवादी विश्व-दृष्टिकोण से निकला था।

फिख्ते मानव-इतिहास की प्रकृतिवादी व्याख्या के अतर्विरोधों के प्रति गहन रूप से सचेत हैं। काट ने इन अतर्विरोधों को पहले ही दिखा दिया था, लेकिन उन्होंने उन्हें मूलत अलघनीय माना, क्योंकि स्वतत्रता "निजरूप-वस्तुओ" के जगत् से सबध रखती है, जब कि आवश्यकता परिघटनाओ के जगत् से। फिख्ते इस द्वैतवादी पूर्वाधार से इन्कार करते हैं और सिद्ध करते हैं कि स्वतत्रता और आवश्यकता के बीच अतर्विरोध को हल किया जा सकता है।

एक इद्रियानुभविक अभिकर्त्ता के रूप में मनुष्य प्राकृतिक नियमों के पूर्णत अधीन है। "स्वय मैं और वह सब कुछ, जिसे मैं अपना कहता हू–अलघनीय प्राकृतिक आवश्यकता की इस शृखला की एक कड़ी है" (52,3,15)। मनुष्य के मानसिक कार्यकलाप और उसकी शारीरिक सत्ता आवश्यक रूप से ऐसी शक्तियो द्वारा प्रतिबधित होते हैं, जिनपर उसका कोई नियत्रण नही होता। "वह सब कुछ, जो प्रकृति में अस्तित्व रखता है, आवश्यक रूप से वैसा ही है, जैसा कि वह अस्तित्व रखता है और यह बिल्कुल असभव है कि वह भिन्न हो" (52,3,10)। फिख्ते के अनुसार, मानव-जीवन के हर क्षण को, सब दिशाओ में हर चीज के सार्विक सबधो को पूर्वनिर्धारित करनेवाली अनत कारणता का अर्थ यह है कि एक इद्रियानुभविक जिंदगी का अस्तित्व किसी भी सायोगिक घटना पर, उदाहरणार्थ, समुद्रतट पर रेत के एक कण की स्थिति पर निर्भर करता है। अत मेरा "अहम् मेरी अपनी सृष्टि नही है।" "असभव है कि मेरे स्थान पर कोई दूसरा अस्तित्व ग्रहण करे, असभव है कि पहले ही अस्तित्व ग्रहण करके मैं

अपने अस्तित्व के किसी क्षण मे उस चीज़ से भिन्न होऊं, जो मै यथार्थता में हू" (52,3,15)। लेकिन अगर यह बात है, तो इसका अर्थ यह है कि आम तौर से कोई भी "अहम्", कोई भी व्यक्तित्व अस्तित्व नही रखता। लेकिन इद्रियानुभविक "अहम्" यानी मानव-व्यक्ति प्रकृति की सर्वशक्तिमत्ता को नही चाहता है और अतएव उसके समक्ष नतमस्तक नही हो सकता। यह "अहम्" इसपर थोपी गयी दासता के ख़िलाफ़ विद्रोह करता है और इस विद्रोह की शक्ति बाह्य जगत् से अपने वास्तविक सबध को समझने मे उसे मदद करती है। फ़िख़्ते लिखते हैं. "मुझमे एक पूर्ण, स्वतंत्र स्व-कार्य की उत्कट चाह है। मेरे लिए केवल दूसरे मे, दूसरे के लिए और दूसरे के ज़रिये अस्तित्व से कम कोई भी चीज़ स्वीकार्य नही है। मै स्वय अपने लिए और स्वय अपने ज़रिये कुछ होना और बनना चाहता हू। ज्यो ही अपने को अनुभव करता हू, त्यो ही मैं इस उत्कट चाह को महसूस करता हू, इसे मेरी आत्म-चेतना से पृथक नही किया जा सकता" (52,3,85)।

ऐतिहासिक विकास के कारण, जिसकी अत्यत महत्वपूर्ण अतर्वस्तु, फ़िख़्ते के अनुसार, स्व-ज्ञान है, मनुष्य महसूस करता है कि वह एक अकेले व्यक्ति, एक इद्रियानुभविक "अहम्" के रूप मे ही अपनी बाह्य तथा आतरिक प्रकृति का दास है, जो मानवजाति के सार्विक "अहम्" के साथ, परम विषयी या उस अनत कार्य के साथ अपनी एकता के प्रति अचेत है, जो निषेध की परम शक्ति और रचनात्मकता की परम शक्ति है।

फ़िख़्ते दावा करते हैं कि आत्म-चेतना मनुष्य को छद्म आवश्यकता का सामना करने के लिए विवश करती है। और तब यह प्रकट होता है कि वह केवल एक इद्रियानुभविक "अहम्" के रूप मे प्रकृति की उपज है, लेकिन परम विषयी से सबद्ध एक शुद्ध "अहम्" के रूप मे मनुष्य प्रकृति तथा इसमे निहित आवश्यकता का रचनाकार है। स्वतत्रता परम विषयी का सार है। इसका सकल्प, परम सकल्प," इस ससार के परिणामो की शृखला की पहली कडी है, उस शृखला की, जो आत्माओं के सपूर्ण अदृश्य राज्य से होकर गुज़रती है, वैसे ही, जैसे कि लौकिक जगत् मे कार्य भूतद्रव्य की शात गति, उस भौतिक शृखला की पहली

बड़ी है, जो अपनी परिधि में भूद्रव्य की समग्र प्रणाली को सर्जित करती है" (52,3,118)।

इसी ढंग से फिख्ते "मानव–प्रकृति" सह-संबंध की प्रकृतिवादी व्याख्या में निहित अन्तर्विरोधों को हल करते हैं। वह मूलभूत प्रकृतिवादी स्थापना को अस्वीकार करते हैं, जिसके अनुसार बाह्य प्रकृतिक वातावरण और स्वयं मानव-प्रकृति मानव-जीवन को निर्धारित करते है। फिर भी, यह सही निष्कर्ष गलत प्रत्ययवादी पूर्वाधारों से निकाला जाता है।

फिख्ते का दर्शन मानव-जीवन के वास्तविक आधार को, यानी सामाजिक उत्पादन और सामाजिक संबंधों को देखने में असमर्थ है। निस्संदेह, यह उनके बुर्जुआ परिसीमनों को व्यक्त करता है। लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि बुर्जुआ क्रांतिकारी फिख्ते एक मेधावी विचार (चाहे यह गलत प्रत्ययवादी रूप में ही क्यों न हो) पेश करते हैं, जो इतिहास के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण के एक मूलभूत सिद्धांत की पूर्वकल्पना करता है: स्वयं मानवजाति ऐसी परिस्थितियां निर्मित करती है, जो उसके इतिहास को निर्धारित करती हैं। बेशक, समस्या के प्रति यह दृष्टिकोण अब भी काफी अमूर्त है तथा यह विश्व-इतिहास की गलत और धर्मशास्त्रीय धारणा को अमान्य नहीं ठहराता। परन्तु क्लासिकीय जर्मन दर्शन के विकास के ठोस संदर्भ में इसने इतिहास की उस भौतिकवादी धारणा का मार्गदर्शन किया, जिसने वैज्ञानिक ढंग से स्पष्ट किया कि कैसे और क्यों मानवजाति अपने ऐतिहासिक नाटक की रचनाकार है।

आगे चलकर हम परम विषयी की धारणा पर लौटेंगे। लेकिन "अहम्" और "निरहम्" के द्वंद्ववाद के विश्लेषण पर मुड़ने से पहले हमें एक बार पुनः फिख्ते के उन बुर्जुआ क्रांतिकारी दृष्टिकोणों पर विचार करने के लिए रुकना चाहिए, जो उनकी द्वंद्वात्मक विश्व-धारणा से प्रत्यक्षतः जुड़े हुए हैं। सामंती विचारधारा ने सामाजिक विषमताओं की व्याख्या आद्य और निरपेक्ष के रूप में की। बुर्जुआ विचारधारा ने मानव के प्रति मानव की इस अधिभूतवादी प्रतिमुखता को मानव प्रकृति की विरोधी होने के नाते ठुकरा दिया। ऐसा करने में बुर्जुआ अपरिवर्तनीय मानव-प्रकृति की धारणा से आगे बढ़े। केवल

रूसो ही मानव-प्रकृति को प्रभावित करनेवाले समाज के इतिहास
प्रश्न पर ज़ोर देते है। फ़िख्ते बार-बार रूसो को उद्धृत करते हैं, उ
समर्थन करते है, पर वह मानव-प्रकृति को समझने में उनसे आगे
है। वह मानव-प्रकृति के सार को उसके कार्य में देखते है तथा म
की सभी गुणात्मक विशेषताओ को इस कार्य की अभिव्यक्ति मानते

फ़िख्ते इस परपरागत सामती दृष्टिकोण को मानव के अ
विचार के रूप में ठुकरा देते हैं कि मालिक हमेशा मालिक बने
है और दास हमेशा दास। रूसो के विचारो को विकसित करते
तथा मालिक और दास के बीच वैषम्य के सापेक्ष स्वरूप के बारे
हेगेल की सुप्रसिद्ध प्रस्थापना का पूर्वानुमान करते हुए फ़िख्ते प्रक
स्वतःस्पष्ट सत्य – क्या मालिक वास्तव में मालिक है? और क्या
दास बने रहते हैं? – पर सदेह व्यक्त करते हैं। वह रोषपूर्वक
है 'वे सभी लोग, जो अपने को दूसरो के मालिक मानते हैं,
दास है। अगर वे हमेशा वास्तव में दास नहीं हैं, तो उनकी आ
दासो की आत्माएं है और वे उन मालिको के सामने घृणास्पद ढ
नाक रगड़ेगे, जो अधिक मज़बूत हैं और उन्हे दास बनाते है।
वही स्वतत्र है, जो अपने इर्द-गिर्द सभी को स्वतत्र बनाना चाहता
(52,*I*,237) ।

इस प्रकार मालिको और दासो के बीच अन्तर्विरोध द्वद्वा
सिद्ध होता है। फ़्रासीसी क्राति ने सामतो को ध्वस्त कर दिया।
बुर्जुआ क्राति को आदर्श रूप में प्रस्तुत करते हैं यह उनके लिए
और अधीनता के सभी सबधो के उन्मूलन का प्रतिनिधित्व करती
यह महान लक्ष्य क्रातिकारी हिंसा को उचित ठहराता है।

अत बुर्जुआ क्राति फ़िख्ते की द्वद्वात्मक प्रेरणा का स्रोत है।
विचार मे समाज का क्रातिकारी पुनर्निर्माण, राजकीय और वि
सबधो का सचेत रूपातरण, सामती जुए का उन्मूलन, जो आम
पर उत्पीडन के उन्मूलन के समान माना जाता है, मानव तथा म
जाति के इतिहास के सार को प्रकट करते है।

फ़्रासीसी क्राति के सिद्धातकार – फ़्रासीसी प्रबोधक – अधिक
अधिभूतवादी थे न कि द्वद्ववादी। उन्होंने नूतन को पुरातन के
विरोध मे खड़ा कर दिया और इसने निस्सदेह क्रातिकारी सैद्ध

भूमिका अदा की। उन फ्रांसीसी प्रबोधकों के विपरीत फ़िख़्ते फ्रांसीसी क्रांति के समकालीन थे, उन्होंने इसकी व्याख्या अपने फ्रांसीसी पूर्ववर्तियों के विचारों के सहारे की। दूसरी ओर, फ़िख़्ते कांट के तथा सामान्यतः जर्मन द्वन्द्वात्मक परम्परा के अनुयायी थे। इस सबसे पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है कि क्यों नयी ऐतिहासिक परिस्थितियों में द्वन्द्वात्मक प्रत्ययवाद जर्मनी में बुर्जुआ क्रांति की विचारधारा बन गया।

फ़िख़्ते के अनुसार, दर्शन का ध्येय "मनुष्य को शक्ति, साहस और आत्म-विश्वास प्रदान करना है, यह दिखाता है कि वह सब और उसका समग्र भाग्य स्वयं उसपर ही निर्भर है" (52,5,345)। वस्तुतः इसी में फ़िख़्ते अपने दर्शन का अर्थ देखते हैं, जिसका वर्णन वह स्वतंत्रता की धारणा के सुसंगत विकास के रूप में करते हैं। रेनहोल्ड को अपने एक पत्र में वह घोषणा करते हैं "मेरी प्रणाली की आत्मा इस विचार में है: 'अहम्' अपने प्रति निर्विवाद रूप से सचेत है। दे [illegible] 'अहम्' के आत्मिक आत्म-अनुष्ठान के बिना न तो कोई अर्थ रखते हैं न ही कोई मूल्य" (48,1,477-78)। वह 'परम अहम्' की धारणा के विश्लेषण के जरिये इस प्रस्थापना की पुष्टि करते हैं।

'परम अहम्' की धारणा फ़िख़्ते की प्रणाली की सबसे कठिन और सबसे कम स्पष्ट धारणा है। स्वभावतः फ़िख़्ते मानव 'अहम्' से [illegible] जिसका अस्तित्व उनकी दृष्टि में, [illegible] अनुभविक रूप में [illegible] है [illegible] 'निरहम्' के रूप में पेश करते हैं। [illegible] विश्लेषण में फ़िख़्ते कांट की भांति इस बात [illegible] है, [illegible] की अनुभूति होती है। लेकिन [illegible] की [illegible] बौद्धिक अंतःप्रज्ञा पर और [illegible] अस्तित्व की [illegible]

भी प्रामाणिक होना चाहिए, और अगर दूसरा प्रामाणि
उसी तरीके से तीसरा भी प्रामाणिक होना चाहिए, आदि

लेकिन फिक्ते व्यक्ति की चेतना – वैयक्तिक चेतना क
इंद्रियानुभविक "अहम्" के रूप में विवेचित करते हैं, अ
का आधार मानने से सर्वथा दूर है। उनके अनुसार, यह
"अहम्" है, जिसका अस्तित्व बिल्कुल स्पष्ट है। यहां इ
फिक्ते जोर देते हैं, "एक बिल्कुल भिन्न 'अहम्'" से है, '
दृष्टि से ओझल रहता है जो अपने को तथ्यों के क्षेत्र
करता, बल्कि केवल आधार की ओर आरोहण के माध्यम
है" (50,35)। वह परम विषयी को इंद्रियानुभविक
मुकाबले में रखने के साथ ही इस बात पर भी जोर देते है
एक ही अखंड समष्टि बनाते हैं। यह एक अत्यंत महत्व
और विचारधारात्मक स्थापना है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ न
की रचना करता है। बेशक यह सही है कि इंद्रियानुभविक
"अहम्" की रचना केवल सीमित, अविकसित और अ
ही करता है। लेकिन परम "अहम्" अपने को परिमित
विषयियों की सक्रियता में प्रत्यक्ष करता है।

यदि बर्कले ऐसी इंद्रिय-अनुभूतियों का बोध करनेव
मानव-विषयी की जांच करने से ही संतुष्ट हैं, जिनके
इंद्रियगत ढंग से अनुभूत संसार की वस्तुएं बनाते हैं, तो फि
"अहम्" से सार्विक "अहम्", परम विषयी तक ऊपर उ
समझते हैं। केवल यह परम विषयी ही हर अस्तित्वमान
है वही वह सक्रियता है जो हर चीज को निर्मित
करती है।

इंद्रियानुभविक विषयी केवल स्वयं में ही संभाव्य रूप
परम विषयी और इंद्रियानुभविक "अहम्" के बीच अन्त
है, भले ही यह सार्विक का वैयक्तिक से, नित्य का अनि
का अतींद्रिय से, अपरिमित का परिमित से संबंध क्यों
के अनुसार, इस अन्तर्विरोध का परिसीमन (जिसे क
स्वभावतः असंभव है) यानी वैयक्तिक के सार्विक के स्तर
की प्रक्रिया उस सबका गहनतम सार है, जो संसार में घ

930

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि परम "अहम्" अपनी सारी परिकल्पनात्मक अमूर्तता के बावजूद वस्तुत अपने विगत, वर्तमान और भावी विकास के यथाक्रम मे मानवजाति के अलावा और कुछ नहीं है अर्थात् ऐसी किसी भी ऐतिहासिक सीमा से अबाधित मानवजाति, जो उसके ज्ञान के विकास, प्रकृति पर उसकी शक्ति तथा उसके सामाजिक सगठन की पूर्णता पर रोक लगा सकती हो। लेकिन मानवजाति की यह प्रत्ययवादी धारणा एक ऐसा अमूर्तीकरण है, जो एक निश्चित हद तक सामाजिक विकास के विशिष्ट स्वरूप को क्षय कर देता है, परम विषयी की धारणा को पूर्णत. समाप्त नही करता। कुल मिलाकर, परम "अहम्" परम विषयी मे रूपातरित सक्रियता है। यह, फिख्ते के अनुसार, "पूर्णत अप्रतिबधित और किसी भी उच्चतर चीज़ द्वारा अनिर्धारणीय कोई चीज़ है" (52,*I*,314) ।

फिख्ते सत्ता और मूलतत्व के प्रवर्गों को प्रारभिक धारणाओं के रूप मे स्वीकार करने से इन्कार करते हैं। उनके विचार मे, इन प्रवर्गों को ऐसे रूपो मे देखा जाना चाहिए, जिनके ज़रिये कार्य की सिद्धि होती है। वह इस सूत्र से सतुष्ट नही हैं कि कार्य सत्ता में अतर्निहित है। इस सूरत मे सक्रियता को सत्ता के एक गुण, एक योग्यता के रूप मे माना जाता है, जो स्पष्टत. अन्य गुणों से भी सपन्न होती है। लेकिन सक्रियता वह चीज़ है, जो सत्ता को सत्ता बनाती है। फिख्ते के शब्दो मे, **"वह चीज़, जिसकी सत्ता (सार) मात्र इसमें है कि वह अपने को अस्तित्वमान मान लेती है, परम विषयी के रूप मे अहम् है"** (52,*I*,291) । इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यो फिख्ते मूलतत्व की परपरागत दार्शनिक धारणा को अस्वीकार करते हैं, जिसे आम तौर से स्व-सक्रियता तथा स्वतत्रता से रहित अस्तित्वमान चीज़ों की बहुविधता के परम आधार के रूप मे समझा गया। ह सही है कि लीबनिज़ ने मूलतत्व की धारणा को बदल दिया और सकी व्याख्या भूतद्रव्य को जीवन प्रदान करनेवाली एक शक्ति के रूप की। लेकिन फिख्ते इस धारणा को भी अपर्याप्त मानते हैं, क्योंकि लीबनिज़ के विचार मे, सक्रियता नही, बल्कि चिदणु मूलतत्व है। फिख्ते के अनुसार, यदि मूलतत्व की धारणा का प्रयोग किया ही जाना , तो इसे परम विषयी मे रूपातरित कर देना चाहिए। वह लिखते

••

है "जिस हद तक 'अहम्' को सभी पदार्थों को अपनी परिधि मे शामिल करनेवाले समस्त और पूर्णत निर्धारित वृत्त के रूप मे देखा जाता है, उस हद तक यह मूलतत्व है" (52,*1*,337)। व० फ० आस्मुस ठीक ही जोर देते है कि फिख्ते का दर्शन आत्मगत प्रत्ययवाद और वस्तुगत प्रत्ययवाद को मिलाता है (13,81)। चूंकि परम "अहम्" की व्याख्या मानवजाति से भिन्न किसी चीज के रूप मे की जाती है, इसलिए यह अलौकिक तथा अतिमानवीय आद्य कारण के अस्तित्व को स्वीकार करती है यानी यह वस्तुगत प्रत्ययवाद की प्रारंभिक प्रस्थापना को स्वीकार करती है। फिख्ते जैकोबी को लिखते हैं "मेरा परम 'अहम्' बेशक व्यक्ति नही है लेकिन परम 'अहम्' से व्यक्ति को निगमित किया जाना चाहिए" (48,*1*,501)। परम विषयी और मानवजाति की धारणाओ के बीच भेद करते हुए फिख्ते सत्ता और चितन के द्वद्वात्मक तादात्म्य की हेगेल की धारणा की पूर्वकल्पना करते हैं। 'नैतिक सिद्धात की प्रणाली' (१८१२) मे उन्होंने लिखा "एक-मात्र चीज जो अस्तित्व रखती है, वह धारणा, शुद्ध आत्मिक सत्ता है। वहमत धारणा जैसी सत्ता तक ऊपर नही उठ सकता। उसके लिए धारणा केवल वस्तुगत ज्ञान की अभिव्यक्ति, वस्तुओ का प्रतिबिंबन, उनकी प्रतिकृति है विचार या शुद्ध दृष्टि (blosses Gesicht) वास्तविक और एकमात्र सही सत्ता है, जो शुद्ध चितन से प्रकट होती है" (52,*6*,31)। आगे फिख्ते जोर देते हैं "वास्तविक 'अहम्' को केवल धारणा के जीवन के रूप मे प्रकट होना चाहिए। वह 'अहम्' जिसकी आत्म-चेतना मे परम धारणा से भिन्न कोई सिद्धात होगा, सच्चा 'अहम्, नहीं, बल्कि 'अहम्' का आभास मात्र होगा" (52,*6*,37)। वस्तुत इसी तरह से फिख्ते का परम विषयी, जैसा कि मार्क्स और एंगेल्स ने इगित किया, "प्रकृति से पृथक्कृत, अधिभूतवादी ढग से रूपान्तरित आत्मा" (1,*4*,139) के अलावा और कुछ नही है। आद्य कारण की यह धारणा अनिवार्यत अस्तित्व के दिव्य आद्य कारण की ओर ले जाती है। अपनी प्रारंभिक कृतियो मे फिख्ते यह निष्कर्ष नही निकालते, लेकिन बाद की कृतियो मे वह इसके बारे मे पूरी स्पष्टता के साथ वर्णन करते है।

अत फिख्ते यह सिद्ध करने की कोशिश करते हैं कि चूंकि सक्रियता

को परम के रूप मे स्वीकार किया जाता है, इसलिए यह विषय नही, बल्कि विषयी है तथा केवल इसी अर्थ मे परम "अहम्" है। मूल दार्शनिक समस्या के प्रत्ययवादी समाधान के रूप मे मूलतत्व, विषयी और अनत स्वत्व (Jchheit) के साथ सक्रियता का यह एकीकरण प्रस्थान-बिंदु के तौर पर विषयी के साथ विषय के पूर्ण विरोध की पूर्वकल्पना करता है। फिख्ते लिखते हैं "प्रकृति और आत्मा – इन दोनो मे से एक को हटा देना चाहिए, दोनो को एकीकृत नही किया जा सकता। उनकी काल्पनिक एकता अशत पाखड और झूठ तथा अशत अनुभूति द्वारा ज़बर्दस्ती थोपी गयी असगतता है" (52,6,32) । वह प्रकृति, इद्रियो द्वारा अनुभूत वस्तुओ के जगत्, वैयक्तिक मानव "अहम्" के इसकी स्वतत्रता को अस्वीकार नही करते है। वह प्राकृतिक, भौतिक की प्रमुखता से इन्कार करते हैं।

इसके अलावा, सक्रियता को परम बनाने का अर्थ है गति तथा परिवर्तन की प्रत्ययवादी ढग से व्याख्या करना, जो "निरहम्" की सामान्य धारणा मे एकीकृत, इद्रियग्राह्य वस्तुओ मे निहित होते हैं। वस्तुओ की गति तथा परिवर्तन को सक्रियता के अन्यसक्रामित रूपो के तौर पर देखा जाता है; फलत उन्हे ऐसी सक्रियता मे परिवर्तित कर दिया जाता है, जिसे फिख्ते न केवल प्राकृतिक वस्तुओ मे निहित गति तथा परिवर्तन से पृथक् करते हैं, बल्कि उसे उनके मुकाबले मे खड़ी रखते है।*

विषयी की सक्रियता के सिद्धात ने, जिसने काट के दर्शन मे मुख्य भूमिका अदा की, फिख्ते के दर्शन मे व्यापक किंतु साथ ही आत्मगत-

---

*सोवियत दार्शनिक व० व० साजारेव कहते है "फिख्ते ने ज़ोर दिया कि विकास वस्तुत स्वय 'विषय' मे नही, बल्कि केवल सैद्धांतिक निर्माण की विधि तथा इसकी व्याख्या मे निहित है। उनका ख्याल था कि 'आत्म-विकासमान विषय' की धारणा आत्म-अतर्विरोधी और उनकी समस्त प्रणाली के लिए विनाशकारी थी। आत्म-चेतना के उनके सिद्धात ने न केवल गतिहीन 'विषय' के रूप मे प्रकृति के अधिभूतवादी दृष्टिकोण को मज़बूत किया, बल्कि इसकी पूर्वकल्पना की और वह इस पर ... भी था।" (27,33) ।

वादी-सकल्पवादी विकास पाया। "निजरूप-वस्तुओं" के अ
इन्कार करते हुए, फिख्ते केवल काट के अज्ञेयवाद, विषयी
की स्वतत्रता यानी परम "अहम्" से "निरहम्" की स्वतत्र
इन्कार नही करते। चूकि परम "अहम्" निरतर कार्य, सतत
है, इसलिए यह कोई पहले से बनी-बनायी, स्थायी और अप
चीज़ नही है। "निरहम्" से इसके सबध को परिवर्तन, वि
एक प्रक्रिया के रूप में समझा जाना चाहिए। अत "अहम्"
यथार्थता के (दूसरे शब्दो मे, "निरहम्" के) निषेध को उन
की अत क्रिया और एकता को पूर्णत ध्यान मे रखना चाहिए,
दूसरे को अपवर्जित करने के साथ-साथ एक दूसरे को समा
करती हैं।

"अहम्" और "निरहम्" के बीच सबध फिख्ते के मूल
का विषय है। पहले मूल सिद्धात के अनुसार, परम 'अहम्'
निश्चित रूप से अपनी सत्ता को सत्य मान लेता है। इसका अ
कि चेतना की सपूर्ण अतर्वस्तु "अहम्" की सक्रियता मे
handlung), "अहम्" के स्वसत्ता को सत्य मानने से नि
फिख्ते के शब्दो मे, "'अहम्' सभी यथार्थताओ का स्रोत है
इसकी सत्यता को प्रत्यक्ष रूप से और बिनाशर्त मान लि
है। यथार्थता की धारणा केवल "अहम्" के जरिये और इ
दी जाती है। लेकिन "अहम्" इस वजह से अस्तित्व रखता
अपने अस्तित्व की सत्यता को मान लेता है और इसलिए कि य
मे है। अत स्वसत्ता को सत्य मान लेना और सत्ता एक ही
पर स्वसत्ता को सत्य मानने और सक्रियता की धारणाए
ही है। तात्पर्य यह कि हर यथार्थता सक्रिय है और हर
यथार्थ है" (52, *I*, 329)।

पहला मूल सिद्धात अब भी अपने मे विषयो के जगत् को
हम्" की धारणा को शामिल नही करता। फिख्ते यहा आ
उस हर चीज को पृथक् कर देते हैं, जो "अहम्" नही है
तरह वह परम विषयी की परम स्वतत्रता, परिस्थितियो से परम
की स्वतत्रता तथा मानव इद्रियानुभविक "अहम्" की स्वय

फिख्ते विषय और विषयी की समस्या के आत्मगतवादी-प्रत्यय
समाधान की सभी कठिनाइयों को भली-भाँति जानते हैं। अपने अस्ति
को सत्य मानने के लिए "अहम्" के लिए "निरहम्" का अस्ति
आवश्यक शर्त है। अगर यही बात है, तो "अहम्" "निरहम्"
अस्तित्व को सत्य नहीं मानता बल्कि इसे अपनी सक्रियता की
शर्त के रूप में पाता है। लेकिन यह "अहम्" के स्व-अस्तित्व
सत्य मानने को संदेहास्पद बनाता है या कम से कम सीमित करता
देकार्तीय cogito ergo sum (मैं चिंतन करता हूँ इसलिए अस्ति
रखता हूँ) मूलतः असंभव है। चिंतन करने के लिए चिंतन करने
विषयी से स्वतंत्र एक विषय आवश्यक है। फिख्ते लिखते हैं "'अ
अपना बोध कभी नहीं करता और अपनी इंद्रियानुभविक परिभाष
में बोध करने के सिवाय अन्य किसी प्रकार से बोध नहीं कर सकत
ये इंद्रियानुभविक परिभाषाएं हमेशा किसी ऐसी चीज़ की पूर्वक
करती हैं जो 'अहम्' के बाहर होती है। मनुष्य की देह भी,
वह अपनी देह कहता है कुछ ऐसी चीज़ है जो "अहम्" के
है (52.I.223)। यह अभिलाक्षणिक है कि फिख्ते "अहम्" (
मामले में यह इंद्रियानुभविक विषयी है) की धारणा से उस हर
को पृथक् कर देते हैं जो दैहिक है। वह इस चीज़ से भी सहम
कि दैहिक चेतना को प्रभावित करता है और एक निश्चित हद
इसे निर्धारित भी करता है। लेकिन विषय द्वारा विषयी के इस निर
की व्याख्या विषयी द्वारा कल्पित सत्य के रूप में, विषयी के दो f
में विभाजन आत्म-नियंत्रण और आत्म-अन्यगत्वाभास के रूप में
जाती है। अतः फिख्ते के सिद्धांत के अनुसार यह स्वीकृति कि "
के बाहर कोई चीज़" अस्तित्व रखती है आत्मगतवादी प्रत्य
की सीमाओं में ही लागू होती है क्योंकि बाह्य (यह कांट में
ही मौजूद था) को विषयी के आत्म-नियंत्रण के रूप में देखा जात

आशा के अनुसार, फिख्ते प्रत्ययवादी द्वंद्ववाद का उपयोग आत
प्रत्ययवाद को पुष्ट करने के लिए करते हैं। विषयी तथा विषय के
भेद की व्याख्या ऐसे की जाती है जैसे कि यह विषयी की सक्रि
का परिणाम है, हालांकि यह सक्रियता इससे स्वतंत्र विषय के अ
के बिना असंभव है। "कोई भी भेद केवल 'अहम्' की सक्रियत

वजह से ही अस्तित्व रखता है और अन्य किसी भी कारण से नहीं। इस भेद की कल्पना आम तौर से 'अहम्' के ज़रिये ही की जाती है" (52,*I*,297)।

फिर भी, विषयी तथा विषय की समस्या के आत्मगत-प्रत्ययवादी समाधान के अपने सभी प्रयासों के बावजूद, उनके इस विश्वास के बावजूद भी कि उनकी एकता को दूसरे ढंग से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता (बेशक अगर विषय पर विषयी की निर्भरता से सहमत न हुआ जाये), फिख्ते यह स्वीकार करने के लिए विवश हैं कि उनके प्रमाणीकरण में निश्चित रूप से आवश्यक एक कड़ी का अभाव है. लेकिन उनके सिद्धान्त की सम्पूर्ण अन्तर्वस्तु इसे बहिष्कृत कर देती है। पहले उद्धृत किये जा चुके रेनहोल्ड को अपने पत्र में फिख्ते परम "अहम्" की धारणा के प्रमाणीकरण में कठिनाइयों का निम्न-लिखित ढंग से वर्णन करते हैं. "अगर 'अहम्' आदतन केवल अपने ही अस्तित्व को सत्य मानता है, तो ऐसी किसी भिन्न चीज़ के अस्तित्व को सत्य मानना कैसे सम्भव है, जो 'अहम्' का विरोध करती है?" (48,*I*,478)। इसका अर्थ यह है कि 'निरहम्' ऐसी कोई चीज़ नहीं हो सकता जो 'अहम्' के बाद प्रकट हुआ हो। लेकिन इस स्थिति में स्व-अस्तित्व को सत्य मानने की आद्य क्रिया वास्तव में आद्य नहीं है, क्योंकि अस्तित्व को सत्य मानने की क्रिया (और फलतः स्वयं विषयी का अस्तित्व) विषय के, वस्तुगत यथार्थता के, अस्तित्व की पूर्वकल्पना करती है।

अतः "निरहम्" को "अहम्" में रूपान्तरित नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह रूपान्तरण विरोधों की एकता को नष्ट कर देगा, जो आत्म-चेतना का आधार और अन्तर्वस्तु है। और फिख्ते स्वीकार करते हैं कि "अहम्" को एक मौलिक बाह्य आवेग की, आद्य प्रेरणा की आवश्यकता होती है जिसके बिना सक्रियता, स्व-अस्तित्व की मान्यता या आत्म-चेतना असम्भव है। "... हालांकि जीवन और चेतना का विधान, इसकी सम्भावना का प्रमाण बेशक 'अहम्' में निहित है, लेकिन यह अब भी किसी वास्तविक जीवन, किसी कालसापेक्ष इन्द्रियानु-भविक जीवन का स्रोत नहीं है... अगर ऐसे वास्तविक जीवन को सम्भव होना चाहिए, तो इसके लिए "अहम्" को प्रभावित करने के

वास्ते "निरहम्" की ओर से और कुछ विशेष प्रेरणाओ की आवश्यकता होती है"(52, I, 471)। स्वभावत यह तथा अन्य ऐसे ही वक्तव्य फिख्ते की प्रणाली मे अपना विकास नही पाते। वे इसके आत्मगत-प्रत्ययवादी आधार से मेल नही खाते। इन वक्तव्यो को उनके तार्किक निष्कर्ष तक जारी रखने का अर्थ है "निजरूप-वस्तुओ" की भौतिकवादी स्वीकृति के पक्ष मे या वस्तुगत प्रत्ययवाद के पक्ष मे आत्मगत प्रत्ययवाद का परित्याग करना। वस्तुगत-प्रत्ययवादी प्रवृति फिख्ते के सिद्धात मे हमेशा प्रकट होती रहती है, लेकिन यह सकल्पवादी प्रत्ययवाद द्वारा दबा दी जाती है।

इस तरह, फिख्ते के सिद्धात की पहली और दूसरी मूल स्थापनाओ का विश्लेषण दिखाता है कि वह काट के "वस्तु-निजरूप" पर पूर्णत काबू नही पा सकते, कि उनकी अपनी दार्शनिक सगतता उन्हे किसी ऐसी चीज की कल्पना करने के लिए मजबूर करती है, जो दर्शन की मुख्य समस्या के आत्मगत-प्रत्ययवादी समाधान की सीमाओ से परे है। फिख्ते का निष्कर्ष सैद्धातिक तथा व्यावहारिक बुद्धि के बीच सबध के प्रति काट के दृष्टिकोण की अगली कडी है। आद्य आवेग या ठीक-ठीक कहे तो, विषयी से स्वतत्र यथार्थता की समस्या को सैद्धांतिक दर्शन की सीमाओ के भीतर असमाधेय माना जाता है, इसे व्यावहारिक दृष्टिकोण द्वारा हल किया जाता है। लेकिन उल्लेखनीय है कि समस्या के इस प्रतिपादन मे एक बुद्धिसगत तत्व है चेतना मे स्वतत्र यथार्थता का अस्तित्व सर्वोपरि व्यावहारिक रूप से सिद्ध किया जाता है।

"अहम्" और "निरहम्", स्थापना और प्रतिस्थापना, यथार्थता और निषेध, कार्य और निष्क्रियता के बीच द्वद्वात्मक अतर्विरोध विलोमो के इस सघर्ष के नतीजे के बारे मे प्रश्न उठाता है। क्यो एक विलोम दूसरे को नष्ट नही कर देता? वे एक दूसरे को खारिज क्यो नही कर देते? क्या उनका सश्लेषण सभव है और अगर सभव है, तो यह कैसे प्राप्त किया जा सकता है? फिख्ते इन सभी प्रश्नो का उत्तर देने की कोशिश करते है और इसके जरिये न केवल तीसरे मूल सिद्धात की आवश्यकता, बल्कि सामान्यत विलोमो के परस्पर-सबधो की सैद्धातिक समझ को भी सिद्ध करते हैं।

फिख्ते के दृष्टिकोण से, विलोमो की एकता का अर्थ है एक पहलू

से गुणों का दूसरे पहलू के गुणों में परिवर्तन। यदि "अहम्" को सक्रियता के रूप में और "निरहम्" को निष्क्रियता के रूप में परिभाषित किया जाता है, तो इन विलोमों की द्वन्द्वात्मकता के परिणामस्वरूप "अहम्" अनिवार्यतः निष्क्रियता के गुण और "निरहम्" सक्रियता के गुण प्राप्त कर लेता है। "निष्क्रियता और सक्रियता इस रूप में विलोम हैं, तो भी, सक्रियता को प्रत्यक्षतः निष्क्रियता की और निष्क्रियता को सक्रियता की कल्पना करनी ही चाहिए" (52,1,347)।

विलोमों का संबंध विभिन्नता और तादात्म्य की एकता की कल्पना करता है। विभिन्नता के बिना कोई तादात्म्य नहीं है, तादात्म्य के बिना कोई विभिन्नता नहीं है। दूसरे मूल सिद्धांत से, जिसके अनुसार "अहम्" "निरहम्" के अस्तित्व की कल्पना करता है, यह निष्कर्ष निकलता है कि "'अहम्' स्वयं में निषेध की कल्पना करता है, क्योंकि यह 'निरहम्' में यथार्थता की कल्पना करता है और यह स्वयं में यथार्थता की कल्पना करता है क्योंकि यह 'निरहम्' में निषेध की कल्पना करता है। अतः यह अपने को आत्म-निर्धारक मान लेता है क्योंकि यह निर्धारण पाता है और यह अपने को निर्धारण का प्राप्तकर्ता मान लेता है, क्योंकि यह स्वयं द्वारा निर्धारित होता है" (52,1,325)।

---

*विलोमों के पारस्परिक रूपांतरण की समस्या के प्रति फिख्ते के दृष्टिकोण के असाधारण महत्व पर जोर देते हुए हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इसका प्रतिपादन आत्मगत-प्रत्ययवादी है अर्थात यह समस्या का प्रतिपादन विषयी तथा विषय के पारस्परिक निर्धारण के सिद्धांत के रूप में करता है· सक्रियता और इसके विषय को तादात्म्य के रूप में पेश किया जाता है, जो इसका निर्माण करनेवाली क्रिया की वजह से विलोमों में विभाजित हो जाता है। फिख्ते के अनुसार, "तुम अपनी बांहों में जितना भर सकते हो उससे अधिक भरने के लिए अपने आप से बाहर उछलने की कोशिश न करो, जैसे चेतना और वस्तु, वस्तु और चेतना या ठीक-ठीक कहें तो, अलग-अलग रूप में न पहली और न दूसरी ही, लेकिन वह, जो केवल बाद में दो हिस्सों में बंट जाती है, जो आवश्यक रूप से आत्मगत-वस्तुगत और वस्तुगत-आत्मगत है" (52,3,80)।

अर्थ यह है कि "अहम्" सक्रिय और निष्क्रिय साथ-साथ है।
यह बात "निरहम्" पर भी लागू होती है। विलोमों की एकता
के तादात्म्य तक पारस्परिक संक्रमण के रूप में प्रकट होती
"अहम्" न केवल "निरहम्" का विरोध करता है, बल्कि यह
अपना भी विरोध करता है"। इस संबंध में फ़िख्ते लिखते हैं
रहम्' में सक्रियता की सत्यता को माने बिना 'अहम्' स्वयं
भी निष्क्रियता के होने की बात को सत्य नहीं मान सकता लेकिन
स्वयं में कुछ निष्क्रियता होने की सत्यता को माने बिना 'निरहम्'
सी सक्रियता के होने की बात नहीं मान सकता' (52,*I*,343)।
विलोमों की द्वद्वात्मकता उनके बीच भेद को समाप्त नहीं कर देती?
"अहम्" को "निरहम्" से पृथक् करनेवाली चीज़ "निरहम्
मौजूद है तथा "निरहम्" को विशिष्टता प्रदान करनेवाली चीज़
हम्" में भी विद्यमान है, अगर विषयी में ऐसी कोई चीज़ नहीं
जो विषय में विद्यमान नहीं है तथा विषय में ऐसी कोई चीज़ नहीं है
विषयी में विद्यमान नहीं है, तो "इस स्थिति में", फ़िख्ते पूछते
, "'अहम्' तथा 'निरहम्' के बीच भेद कैसे किया जाये? क्योंकि
के बीच भेद का वह आधार समाप्त हो गया है, जिसकी वजह
'अहम्' सक्रिय और 'निरहम्' निष्क्रिय बन जाता है" (52,*I*,354)।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए—जो *आत्मगत प्रत्ययवादी* के लिए
लत असमाधेय है क्योंकि वह बाह्य जगत् को विषयी से व्युत्पन्न
किसी चीज़ के रूप में देखता है—फ़िख्ते दावा करते हैं कि समस्या
हल केवल तभी संभव है, जब परम "अहम्" ऐसे गुण से संपन्न
ो, जो "निरहम्" का गुण नहीं बन सकता। अतः इस समस्या को
हल करने के लिए हमें परम विषयी की मूल परिभाषा पर वापस
लौटना आवश्यक है, एक ऐसी परिभाषा, जिसे अपनी सहज स्पष्टता
की वजह से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होगी। फ़िख्ते के शब्दों
में, "'अहम्' की यह विशिष्टता, जिसे 'निरहम्' पर किसी भी
रूप में आरोपित नहीं किया जा सकता, निरपेक्ष रूप से स्व-अस्तित्व
को सत्य मानना और इस निरपेक्षता का निराधार रूप से सत्य माना
जाना है" (52,*I*,354-55)। दूसरे शब्दों में, "अहम्" "निरहम्"
से इस बात में भिन्न है कि इसे आद्य अस्तित्व को प्रमाणित करने की

आवश्यकता नहीं होगी। बेशक, आत्मगत प्रत्ययवाद का यह द्
पूर्वाधार विलोमों की एकता की समस्या को हल करने में मदद नहीं
करता, उल्टे प्रश्न को और धामक ही बनाता है। फिश्ते के द्
सिद्धांत के इस दोष पर हेगेल की उनके असाधारण समकालीन फ्रेडरिक
होल्डेर्लिन के २६ जनवरी, १७९५ के पत्र में सही ढंग से ध्यान दिया
गया है "उनके परम 'अहम्' (=स्पिनोज़ा के मूलतत्त्व) में सारी
यथार्थता निहित है, यह सब कुछ है और इसके बाहर कुछ नहीं है,
अत इस परम 'अहम्' के लिए कोई विषय नहीं है, अन्यथा इसमें
सारी यथार्थता नहीं निहित होगी, लेकिन विषय से रहित चेतना
अकल्पनीय है और अगर स्वयं मैं भी यह विषय हूं, तो मैं अनिवार्यतः
इसी रूप में सीमित हूं, चाहे यह केवल काल में ही क्यों न हो और
अत मैं परम नहीं हूं। इस तरह, परम 'अहम्' में चेतना अकल्पनीय
है; परम 'अहम्' के रूप में मेरे पास कोई चेतना नहीं है और जब
तक मेरे पास कोई चेतना नहीं है, वहां तक 'अहम्' (मेरे लिए)
कुछ नहीं है, इसलिए परम 'अहम्' (मेरे लिए) भी कुछ नहीं है"
(67,6,169) ।

आत्म-चेतना मानव-जीवन का प्रस्थानबिंदु नहीं है। यदि चेतना स्वीकृत सत्ता है, तो आत्म-चेतना बाह्य जगत् से और बेशक सर्वोपरि दूसरे लोगों से मनुष्य के जगत् के इस संबंध की स्वीकृति है। मार्क्स के शब्दों में, "मनुष्य चूंकि न तो हाथ में दर्पण लेकर इस दुनिया में आता है और न ही फिश्तेवादी दार्शनिक बनकर, जिसके लिए 'मैं मैं है', इसलिए मनुष्य अपने को पहले दूसरे मनुष्यों में देखकर पहचानता है। पीटर जब पहले अपने ही प्रकार के प्राणी के रूप में पॉल से अपनी तुलना कर लेता है, तभी वह अपने को मनुष्य के रूप में पहचान पाता है" *(5,1,59)* ।

फिश्ते भली-भांति समझते हैं कि स्थापना और प्रतिस्थापना के संश्लेषण की समस्या को दोनों विरोधी पहलुओं की विशिष्टताओं को जोड़नेवाली मध्यवर्ती कड़ियों की तलाश करके हल नहीं किया जा सकता। उनके विचार में, यह अंतर्विरोध को हल नहीं करता, केवल इसे भिन्न स्तर पर स्थानांतरित कर देता है। यदि दिन और रात के बीच झुटपुटे जैसी मध्यवर्ती कड़ी की भांति दो विलोमों के बीच कोई

[illegible]

ों। विरोधों की एकता इसलिए संभव है कि वे शाब्दिक
ि स्वत अर्थ में अनन्त है। फिख्ते के अनुसार मूल्य बोध
प्रकाश और अंधकार सामान्यतः एक-दूसरे के विरोध नहीं
ाय केवल मात्रा का अन्तर होता है । बिल्कुल यही चीज
' निग्रहम् ' के बीच संबंध पर भी लागू होती है
।

क्या ' अहम् ' और ' निग्रहम् ' के विराम एक-दूसरे
नहीं करते, बल्कि बढ़ाते हैं ? फिख्ते जोर देते हैं कि
ा किसी भी तार्किक विधि से हल नहीं किया जा सकता
इन विरोधों को इस या उस तर्क से मिलाने की कहीं
ि की खोज करनी ही है जो उन्हें वास्तव में मिलाती है।
के सिद्धान्त के अनुसार ' अहम् ' (यथार्थता की चरम
या ' निग्रहम् ' (निषेध की चरम पूर्णता) की एकता
परिसीमन की वजह से बनती है जिसके बल पर ' अहम् '
ा निर्धारण करता है और अतएव ' निग्रहम् ' द्वारा निर्धारित
रन्तु इसका अर्थ यह भी है कि ' निग्रहम् ' भी केवल अतएव
ों कार्य द्वारा निर्धारित होता है। अतएव तीसरा मूल सिद्धान्त
ा करते हुए फिख्ते कहते हैं : ' अहम् विभाज्य अहम्
य निग्रहम् ' के मुकाबले में रखता है यानी दोनों विरोध
क ढंग से अतएव एक-दूसरे को सीमित करते हैं।
सार पहले दो मूल सिद्धान्तों के संश्लेषण के रूप में तीसरा
ा उनके एकांगीपन को समाप्त कर देता है तथा आत्मगत
ान की निर्विवाद यथार्थता को पुष्ट करता है। उनके संबंधों
। सहसंबंध के रूप में की जाती है अर्थात् आत्मगत प्रत्ययवाद
में जो विषय पर विषयी की निर्भरता को केवल यहीं तक
रखता है, जहां तक विषय को विषयी पर निर्भर माना जाता
न तो वस्तुगत द्वारा आत्मगत को, न ही आत्मगत द्वारा
ो नष्ट किया जाना चाहिए, दोनों को साथ-साथ अस्तित्व
ना चाहिए। इसलिए उनका एकीकरण संश्लेषणात्मक ढंग से
ना चाहिए और वह भी किसी ऐसी तीसरी चीज के द्वारा

जिसमें वे निर्धार्यता के जरिये समान हैं। वे दोनों इस रूप में विष
और विषय नहीं हैं, बल्कि स्थापना और प्रतिस्थापना के जरिये म
माने हुए तथा पारस्परिक रूप में निर्धार्य आत्मगत और वस्तुगत
और चूंकि वे ऐसे हैं, इसीलिए उन्हें संश्लेषण में काम करने वा
"अहम्" की क्षमता (कल्पना-शक्ति) द्वारा एकीकृत और निर्धारि
किया जा सकता है" (52,*1*,400)।

फिक्टे के मूल सिद्धान्तों की जांच उनके द्वंद्ववाद की मुख्य विशिष्ट
ताओं को प्रकट करती है। फिक्टे के अनुसार, अन्तर्विरोध, विलोमों
का संघर्ष तथा उनका पारस्परिक परिसीमन अपनी मूल शर्तों के रू
में "अहम्" की सक्रियता की पूर्वकल्पना करते हैं। अतः फिक्टे विष
के अन्तर्निहित द्वंद्ववाद की कभी चर्चा नहीं करते हैं, हालांकि वह स्वयं
उनमें विलोमों की एकता के आधार को खोजने की माग करते हैं।
विषयी-विषय के रूप में अर्थात् पारस्परिक निर्भरता के रूप में किसी
भी यथार्थता की व्याख्या करते हुए, जिसमें प्रधानता विषयी की होती
है, फिक्टे विषयी के अस्तित्व से अलग स्वयं विषयों में अन्तर्विरोध
को देखने से दूर थे। इसके अलावा, विषयों का वर्णन नकारात्मक
रूप में यानी "निरहम्" के रूप में किया जाता है, जिसे फिर "अहम्"
की सक्रियता द्वारा मान लिया जाता है। इस तरह, नैतिक विषयी
की धारणा को पुष्ट करते हुए फिक्टे इसे विषयी पर बाह्य जगत् की
निर्भरता की स्वीकृति का पूर्वाधार मानते हैं "बाह्य जगत् हमारे
कर्तव्य को पूरा करने के लिए सामग्री है वस्तुतः यही वस्तुओं का
सच्चा सार, सभी दृष्टिगोचर चीजों का सार है (49,*5*,185)।
आत्मगत प्रत्ययवाद विलोमों की एकता और संघर्ष के प्रश्न के प्रति
स्वयं द्वंद्वात्मक दृष्टिकोण को अनिवार्यतः विकृत करता है। तो भी, विषयी-
विषय द्वंद्ववाद की फिक्टे की धारणा मानव कार्य के द्वंद्वात्मक स्वरूप
को रहस्यात्मक ढंग से प्रतिबिम्बित करती है।

आत्मगत और वस्तुगत की एकता सामाजिक सत्ता की विशिष्ट
वस्तुपरकता को प्रकट करती है जो मनुष्य, ऐतिहासिक रूप से विकसित
[illegible] सचेतन सक्रियता की उपज है, लेकिन साथ ही मानव चेतना
और संकल्प से स्वतंत्र [illegible] है। ऐतिहासिक आवश्यकता प्राकृतिक
आवश्यकता से [illegible] भिन्न होती है जो मानवीय सक्रियता का परि
...

किये बिना अस्तित्व रखती है। मानव सक्रियता के नियम इसकी अन्तर्वस्तु है—जीवित तथा वस्तुगत बनाये गये (ऐतिहासिक परिस्थितियां, पूर्वाधारो, संस्थाओ के रूप मे वस्तुगत) मानव कार्य की एकता। फिख्ते सामाजिक और प्राकृतिक के बीच भेद को निरपेक्ष मानते है, वह सामाजिक, मानवीय को तात्त्विक मे बदल देते है, जो प्रकृति का निर्धारक और जन्मदाता है।

फिख्ते का आत्मगत-प्रत्ययवादी द्वंद्ववाद वास्तविक प्रक्रिया को प्रकट करने के साथ-साथ इसे रहस्यमय भी बनाता है। वह इसकी अपरिमितता को आत्मगतवादी, सकल्पवादी विश्व-दृष्टिकोण की पुष्टि के रूप मे देखते है मानवजाति प्रकृति की स्वतःस्फूर्त शक्तियो को अपने वश मे करती है तथा उन्हें अपनी, मानव-शक्तियो मे बदल देती है। फिख्ते के शब्दो मे, "मै प्रकृति का मालिक होना चाहता हू और इसे मेरा सेवक होना चाहिए, मै अपनी शक्ति के अनुरूप इसपर अधिकार रखना चाहता हू पर इसे मेरे ऊपर कोई अधिकार नही रखना चाहिए" (52,3,28-29)।

फिख्ते ने अपनी विधि को द्वंद्वात्मक नही, प्रतिस्थापनात्मक कहा और इसके ज़रिये त्रिकात्मक सबध—स्थापना, प्रतिस्थापना, सश्लेषण—की अपनी खोज पर ज़ोर दिया। लेकिन फिख्ते के अनुसार, प्रतिस्थापना स्थापना के विकास का परिणाम नही है। प्रतिस्थापना का अस्तित्व स्थापना के अस्तित्व की पूर्वापेक्षा करता है, वैसे ही जैसे कि चुम्बक का एक ध्रुव दूसरे ध्रुव की पूर्वापेक्षा करता है। बेशक, विलोमो की सहसबधी एकता महत्वपूर्ण द्वंद्वात्मक सबध है, लेकिन फिख्ते के लिए यह एकमात्र सभव सबध है। इसलिए वह विलोमो (स्थापना और प्रतिस्थापना) के सबध की व्याख्या विकास की दृष्टि से नही करते। यहा तक कि वह सश्लेषण का वर्णन भी विकास की एक नयी अवस्था के रूप मे नही, बल्कि इगित विलोमो के मिलन-बिंदु के रूप मे, सार्विकता के एक रूप से मिलती-जुलती किसी ऐसी चीज के रूप मे करते है, जो उन्हें एकीकृत करती है। द्वंद्ववाद के एक विशेष रूप के तौर पर फिख्ते की प्रतिस्थापनात्मक विधि का वर्णन करते हुए व० फ० आस्मुस ठीक ही उल्लेख करते है कि "फिख्ते की द्वंद्वात्मक विधि दो पारस्परिक रूप मे निर्धारित तरीको—प्रतिस्थापनात्मक और सश्लेष-

णात्मक – के बीच हेर-फेर में बनती है। प्रतिस्थापनात्मक तरीका उन गुण की तलाश करता है, जिसमें तुलना की जानेवाली वस्तुएं एक-दूसरे का विरोध करती हैं। संश्लेषणात्मक तरीका विलोमों में उस गुण की खोज करता है, जिसमें वे एक-दूसरे के समान होते हैं। संश्लेषण के बिना प्रतिस्थापना असंभव है और प्रतिस्थापना के बिना संश्लेषण" *(13,96)* । फिर भी, फिख्ते के आत्मगत-प्रत्ययवादी द्वन्द्ववाद में विद्यमान अनिवार्य दोषों को इंगित करते हुए हमें उनकी सच्ची द्वन्द्वात्मक अंतर्दृष्टि का कम मूल्यांकन नहीं करना चाहिए।

उपर्युक्त वर्णन के एक पूरक के रूप में यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि तीसरा मूल सिद्धान्त प्रारंभिक आत्मगत-प्रत्ययवादी पूर्वाधार का खंडन करता है तथा पारस्परिक निर्धारण के बल पर यह सिद्ध करता है कि "अहम्" "निरहम्" का केवल अंशतः निर्धारण ही करता है। यह सही है कि आत्मगत प्रत्ययवाद की भाषा में इसका मात्र यह अर्थ है कि "अहम्" अपने स्व-अस्तित्व के सत्य की कल्पना "निरहम्" के द्वारा अपनी निर्धारित चीज़ के रूप में करता है। लेकिन मूल चीज़ ज्यों की त्यों बनी रहती है : स्पष्टतः कार्य, प्रक्रिया, सत्ता, जो "अहम्" से स्वतंत्र है, न केवल "निरहम्" में, बल्कि स्वयं "अहम्" में भी अस्तित्व रखती है। हालांकि फिख्ते के विचार में, "निरहम्" की संपूर्ण यथार्थता मात्र "अहम्" से स्थानांतरित यथार्थता "अहम्" के "अपने ही प्रकार का अन्यसंक्रामण" (Entäussern) है वह इस सत्ता को स्वीकार करने के लिए विवश है, जो परम विरती में उत्पन्न होने के बावजूद उससे स्वतंत्र है : "वस्तुओं में कोई ऐसी चीज़ होनी चाहिए, जो हमारी धारणा से स्वतंत्र है, जो उन्हें हमारी सहायता के बिना एक-दूसरे में व्याप्त होने में समर्थ बनाती है" *(52,I,370)* । लेकिन कहीं उपरोक्त कथन को "वस्तु-निजरूप" की स्वीकृति न समझ लिया जाये, इसलिए फिख्ते आगे कहते हैं : "लेकिन इस चीज़ का कारण कि हम उन्हें (वस्तुओं को – ले०) आपस में जोड़ते हैं, हममें, उदाहरणार्थ, हमारी अनुभूति में निहित होना चाहिए" *(52,I,370)* । फिख्ते के आत्मगत-प्रत्ययवादी निष्कर्षों को अलग करते हुए हमें उनकी तर्कना के बुद्धिसंगत पक्ष – आत्मगत के वस्तुगत में द्वन्द्वात्मक रूपान्तरण – पर जोर देना चाहिए। आत्मगत मानवीय सक्रियता के परिणाम एक

वस्तुगत प्रक्रिया बन जाती है, जो मनुष्य से स्वतंत्र है और उनके बाद की सक्रियता की परिस्थितियों को निर्मित और अंशतः निर्धारित करती है।

स्वभावतः फिख्ते आत्मगत के वस्तुगत में रूपांतरण यानी मानव कार्य के वस्तुगतीकरण की आत्मगतवादी व्याख्या पेश करते हैं। लेकिन यह भी सच है कि फिख्ते द्वारा अन्वेषित यह द्वंद्वात्मक प्रक्रिया सामाजिक विकास की उस समझ का पथप्रदर्शन करती है जिसमें भौतिक उत्पादन – मानवीय सक्रियता का वस्तुगतीकृत परिणाम – एक ओर, जीवित मानवीय सक्रियता है और दूसरी ओर मनुष्यों से स्वतंत्र तथा उन आधार के रूप में उनके सामाजिक संबंधों को निर्धारित करनेवाली सक्रियता है।

फिख्ते से आगे बढ़ते हुए हेगेल 'आत्मा की फिनोमेनोलॉजी' में आत्मगत के वस्तुगत में रूपांतरण की वास्तविक अंतर्वस्तु को समझने के अत्यंत समीप आ गये थे। यह श्रम के सार की उनकी उल्लेखनीय परिभाषा में स्पष्ट था जिसका मार्क्स ने उच्च मूल्यांकन किया। मार्क्स के शब्दों में हेगेल "मनुष्य के सार के रूप में श्रम को समझते हैं, मनुष्य का ऐसा सार, जो कसौटी पर खरा उतरता है" (1,3,333)।

अत: स्वयं लोग अपनी चेतना तथा संकल्प से स्वतंत्र वस्तुगत परिस्थितियों का सचमुच निर्माण करते हैं, जो प्राकृतिक पर्यावरण से भिन्न मानव अस्तित्व को निर्धारित करती हैं। बेशक फिख्ते विषयी से स्वतंत्र प्रकृति का उल्लेख तक नहीं करते, लेकिन वह प्रकृति को रूपांतरित करने और इसे मानव संकल्प के अधीन बनाने के विचार की हमेशा चर्चा करते हैं। इसी ढंग से वह "मनुष्य अपने इतिहास के निर्माता हैं" और "इतिहास मनुष्यों की चेतना या संकल्प से स्वतंत्र वस्तुगत नियमों द्वारा निर्धारित होता है" जैसी पारस्परिक रूप से प्रतीयमानतः अपवर्जक स्थापनाओं के बीच विरोध को हल करते हैं। उत्पादक शक्तियां मानवीय सक्रियता की उपज होती हैं, लेकिन चूंकि प्रत्येक नयी पीढ़ी पूर्ववर्ती पीढ़ियों द्वारा निर्मित उत्पादक शक्तियों को विरासत में पाती है, इसलिए यह उत्पादक शक्तियों अर्थात सामाजिक-ऐतिहासिक विकास की प्रेरक शक्तियों के अपने चयन में स्वतंत्र नहीं होती है।

अपनी सहज अनुध्यानात्मक प्रकृति के कारण पूर्व-मार्क्सवादी भौतिकवाद ने आत्मगत के वस्तुगत में रूपांतरण की उपेक्षा की और इस तरह विषयी की धारणा को क्षीण बनाया, जिसका वर्णन एकांगी रूप से, मुख्यतः बाह्य जगत् की वस्तुओं द्वारा प्रभावित एक विषय के रूप में किया गया। मानव इतिहास का वास्तविक आधार इस रूप में प्रकृति नहीं, बल्कि अपने संपूर्ण इतिहास में मानवजाति द्वारा भौतिक उत्पादन के जरिये निर्मित "द्वितीय प्रकृति" है। प्रसंगवश, इस धारणा को मनुष्य द्वारा रूपांतरित प्राकृतिक पर्यावरण पर ही नहीं, बल्कि स्वयं उसकी प्रकृति पर भी लागू करना चाहिए।

मार्क्स और एंगेल्स ने इस मौलिक तथ्य को न समझने के लिए फायरबाख की आलोचना की तथा इसे सामाजिक संबंधों के उनके प्रकृतिवादी और, अंतिम विश्लेषण में, प्रत्ययवादी विचारों से जोड़ा। फिख्ते के द्वंद्ववाद ने उन्हें उस चीज की व्याख्या करने में समर्थ बनाया, भले ही यह परिकल्पनात्मक, प्रत्ययवादी ढंग से निरपेक्ष रूप में क्यों न हो, जिसे फायरबाख अपनी अधिभूतवादी सीमाओं की वजह से नहीं देख पाये। यह केवल फिख्ते के दर्शन के ऐतिहासिक महत्व को ही नहीं, बल्कि उनके आत्मगत प्रत्ययवाद की ज्ञानमीमांसीय जड़ों को भी प्रकट करता है।

विषय और विषयी का वास्तविक द्वंद्ववाद अपने मौलिक, स्वाभाविक पूर्वाधार की हैसियत से मानवीय सक्रियता की पूर्ववर्ती और उससे स्वतंत्र उस यथार्थता के रूप में वस्तुगत के अस्तित्व की पूर्वापेक्षा करता है, जो लोगों द्वारा रूपांतरित की जाती है। फलस्वरूप, न केवल आत्मगत वस्तुगत का परिणाम है, बल्कि वस्तुगत भी (अपने निश्चित रूप में) विषयी द्वारा निर्मित और पुनरुत्पादित किया जाता है। एक निश्चित हद तक, फिख्ते ने सामाजिक के इस विशिष्ट स्वरूप की कल्पना प्राकृतिक प्रक्रिया से भिन्न चीज के रूप में की, लेकिन इसके साथ ही उसे तोड़ा-मरोड़ा भी, क्योंकि उन्होंने "विषयी-विषय" संबंध का विवेचन सत्तामीमांसा के एक सिद्धांत के रूप में किया।

मूल सिद्धांतों के बारे में फिख्ते की शिक्षा आकारगत तर्कशास्त्र के नियमों तथा प्रमुख दार्शनिक प्रवर्गों की प्रणालियों के निगमन का प्रस्थानबिंदु है। कांट ने इन नियमों और प्रवर्गों को मात्र चिंतन में

अस्तित्व रखनेवाले नियमो और प्रवर्गों के रूप मे स्वीकार किया, लेकिन फिख्ते इनकी व्याख्या आत्मगत और वस्तुगत के द्वद्ववाद द्वारा निर्धारित रूप मे करते हैं। जहा काट ने अपना कार्यभार प्रवर्गों की तालिका तैयार करने, उन्हे निर्णयो के प्रमुख प्रकारो के अनुसार समूहबद्ध करने तथा प्रत्येक समूह के प्रवर्गों के अत सबधो को प्रकट करने तक सीमित किया, वहा फिख्ते अगला कदम उठाते हैं। वह प्रवर्गों को सोपानक्रमिक शृखला बनानेवालो के रूप मे देखते हैं, जिसमे समन्वय और अधीनता दोनो ही स्थान रखते हैं।

दर्शन के पहले मूल सिद्धात को पुष्ट करते हुए फिख्ते इसकी तुलना तादात्म्य के आकारगत तार्किक नियम से करते हैं। क क है (या क=क) स्पष्टत तार्किक रूप से सही प्रस्थापना है, लेकिन इसका अर्थ यह नही है कि क वास्तव मे अस्तित्व रखता है। क के अस्तित्व की क्या शर्त है? आत्मगत प्रत्ययवाद के अनुसार, क की यथार्थता "अहम्" मे सत्य मानी गयी है।

फिख्ते के अनुसार, "प्रस्थापना क=क मूलत **केवल 'अहम्' के लिए** अर्थपूर्ण है, यह दार्शनिक प्रस्थापना 'अहम्' 'अहम्' है से निगमित की जाती है, अत कोई भी अतर्वस्तु, जिस पर यह लागू है, 'अहम्' मे निहित होनी चाहिए इस प्रकार, कोई भी क **'अहम्' में** सत्य माने गये अस्तित्व के अलावा और कुछ नही हो सकता और इसलिए हमारी प्रस्थापना निम्नलिखित होगी जिस चीज का अस्तित्व अहम्' मे सत्य माना गया है, वही सत्य माना गया है, अगर क के अस्तित्व को 'अहम् मे सत्य माना जाता है, तो यह अस्तित्वमान है (क्योकि यही वस्तुत वह चीज है, जो सभव, वास्तविक या आवश्यक के रूप मे सत्य माना गया है), और इस तरह यह निर्विवाद रूप मे सत्य है, अगर 'अहम्' को 'अहम्' होना चाहिए" (51,49)। निस्सदेह, कोई भी नियम ऐसे विषयो और शर्तों की पूर्वापेक्षा करता है, जो इसके अधीन होते हैं। इस मामले में फिख्ते तादात्म्य के आकारगत तार्किक सिद्धात को अधिभूतवादी रूप मे परम बनाने का विरोध करते हैं और इसकी प्रतिबधता को सिद्ध करते हैं। तादात्म्य के नियम के आधार के बारे में आत्मगत-प्रत्ययवादी विचार के सभी दोषों के बावजूद, आकारगत तार्किक नियमों और उनके वास्तविक महत्व (और सीमाओं)

कांट के विपरीत फिख्ते यह नहीं मानते कि कारण को आवश्यक रूप से परिणाम के पहले आना चाहिए। उन्होंने कारणता की धारणा को काल के निगमन से पहले निगमित किया। दूसरे प्रवर्गों की भांति यह धारणा भी उस बहुविध अन्तर्वस्तु से रहित है जिसे १८वीं सदी के अंत का प्राकृतिक विज्ञान उसे पहले ही प्रदान कर रहा था। लेकिन फिख्ते ने 'अहम्' की व्याख्या परम के रूप में करते हुए इसे प्रकृति से पृथक् कर दिया और वह प्राकृतिक विज्ञान के आंकड़ों का उचित ढंग से उपयोग नहीं कर सके हालांकि उन्होंने अपने समस्त प्राकृतिक विज्ञान सहित सभी विज्ञानों के लिए आवश्यक सामान्य तथा विशिष्ट दोनों ही मूल सिद्धांतों को प्रस्तुत करने का उद्देश्य रखा।

फिख्ते अपने को उपर्युक्त प्रवर्गों तथा आकारगत तर्कशास्त्र के नियमों को निगमित करने तक ही सीमित नहीं करते। चूंकि कांट के "वस्तु-निजरूप" के साथ फिख्ते सज्ञान के प्रस्थान बिंदु के रूप में इंद्रिय-अनुभूति के सिद्धांत से इन्कार करने के लिए विवश हैं इसलिए उनके समक्ष इंद्रिय-अनुभूति के अस्तित्व को निगमित करने का कल्पनातीत कार्य प्रस्तुत होता है। लेकिन इस सूरत में इंद्रिय-अनुभूतियां अनिवार्यतः अपना सज्ञानात्मक महत्त्व खो देती हैं। इससे फिख्ते का यह दावा स्पष्ट हो जाता है कि 'वैज्ञानिक सिद्धांत अनुभूति की पूरी-पूरी उपेक्षा करते हुए प्रागनुभविक रूप से उस चीज का निगमन करता है जिसे इसके अनुसार, वस्तुतः अनुभूति में घटित होना चाहिए अर्थात् अनुभवाधीन होना चाहिए' (52,3,34)। यहां फिख्ते कांट की तुलना में एक कदम पीछे जाते हैं और यह कांट की दक्षिण पक्ष से आलोचना करने का अनिवार्य परिणाम है। कांट दृढ़तापूर्वक जोर देते हैं कि "अनुभूति आवश्यक रूप से वह है जिसका पूर्वानुमान किसी भी रूप में नहीं किया जा सकता" (73,3,161)। फिख्ते इस संवेदनवादी प्रस्थापना को अस्वीकार करते हैं। फिख्ते ऐंद्रिकता की व्याख्या निष्क्रियता के रूप में करते हैं, जो अनुभावों के सिद्धांत की परिधि में आती है और फलतः वह व्यवहार, जिसकी वह चर्चा करते हैं, इंद्रियगत कार्य का यानी उस चीज का विरोधी है, जो यह वास्तव में है।

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के आधुनिक आलोचक अपने पूर्ववर्तियों

की एकता को विभिन्न ऐतिहासिक अवस्थाओं से गुजरने वाली एक प्रक्रिया के रूप में समझा (और बेशक यह आगे का महत्वपूर्ण कदम है) तो भी वह दावा करते हैं कि यह सिद्धांत अपने मूल संरचना में सम्पूर्ण मानव ज्ञान को पूर्ण बनाता है। इसलिए इसमें किसी भी संभव विज्ञान का विषय सम्मिलित है। प्रत्येक अध्ययन जिसे शुरू किया जाता है, प्रश्न का समाधान हमेशा के लिए कर देता है (52,3,87)। फिख्ते की कृतियों में ऐसे अधिभूतवादी वक्तव्य कम नहीं हैं, जो ऐतिहासेतर अलौकिक विषयों की धारणा से उत्पन्न होते हैं।

यह भी स्पष्ट है कि परम ज्ञान (और परम शक्ति तथा परम शुभ) की धारणा अनिवार्यतः कर्तव्य और सत्ता, अपरिमित और परिमित के बीच अधिभूतवादी भेद की ओर ले जाती है। लेनिन इस संबंध में कहते हैं: "कांट तथा फिख्ते का दृष्टिकोण (खास तौर से नैतिक दर्शन में) उद्देश्य का, आत्मगत कर्तव्य का दृष्टिकोण है" (10,38,236)। सत्ता और कर्तव्य के बीच यह अधिभूतवादी भेद, जो पहली दृष्टि में फिख्ते के मनोगतवाद से मेल नहीं खाता, फिख्ते के सिद्धांत की मूल प्रस्थापना में प्रकट होता है।

इस संबंध में हेगेल कहते हैं: "मैं अपने को परिभाषित पाता हूं और इसके साथ ही 'अहम्' स्वयं के बराबर है, यह अपरिमित यानी स्वयं के साथ अनन्य है। यह एक अन्तर्विरोध है, जिसे, सच है, फिख्ते हल करने की कोशिश करते हैं परन्तु उनके इस प्रयास के बावजूद यह मूल दोष, द्वैतवाद को अस्तित्व में छोड़ देते हैं। अंतिम चीज, जिसकी फिख्ते चर्चा करते हैं केवल कोई कर्तव्य है और यह अन्तर्विरोध को हल नहीं करता, क्योंकि जिस समय में 'अहम्' को स्पष्टतः स्वयं के साथ होना चाहिए या स्वतन्त्र होना चाहिए, उसी समय में वह, फिख्ते के अनुसार, दूसरे के साथ भी पाया जाता है (64,15,629)।

अतः फिख्ते की परम की समझ का अर्थ कर्तव्य को परम बनाना भी है, जिसकी व्याख्या ऐतिहासिक रूप से सीमित मानवजाति के लिए मूलतः अप्राप्य चीज के रूप में की जाती है। फिख्ते ने लिखा: " आदर्श वास्तविक जगत् में अप्राप्य हैं, हम केवल दावा करते हैं कि इन आदर्शों के आधार पर उन लोगों द्वारा यथार्थता का मूल्याकन और संशोधन किया जाना चाहिए, जो ऐसा करने के लिए अपने को

समर्थ महसूस करते है" (52,*1*,220)। यह प्रस्थापना जर्मन बुर्जुआ वर्ग की शक्तिहीनता को प्रकट करती है, जो केवल उस चीज का सपना देख रहा था, जिसे दूसरे यूरोपीय राष्ट्र कर रहे थे।

फिख्ते का प्रवर्गों का निगमन केवल अपनी अंतर्वस्तु के संबंध में चिंतन के इन रूपों की जांच करने, उनकी उत्पत्ति, प्रणाली के ढांचे में उनके पारस्परिक संबंधों का अध्ययन करने की आवश्यकता के बारे में प्रश्न उठाने में ही द्वंद्वात्मक है। पर स्वयं प्रवर्गों की जांच गति के बाहर की जाती है तथा उनके पारस्परिक परिवर्तन फिख्ते की दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। वह परम विषयी की धारणा से सभी प्रवर्गों को निगमित करने को अपना मुख्य कार्यभार मानते हैं और इस तरह सिद्ध करने की कोशिश करते हैं कि इस धारणा की स्वीकृति ज्ञान की प्रणाली के निर्माण के लिए सर्वथा आवश्यक है।

यह प्रत्ययवादी प्रस्थापना कृत्रिम तार्किक पदयोजना को आवश्यक बना देती है तथा प्रवर्गों की वास्तविक अधीनता, ऐतिहासिक प्रक्रिया के तार्किक प्रतिबिम्बन और अमूर्त से मूर्त की ओर आरोहण के अध्ययन से विचलित करती है। फिख्ते के प्रवर्गों तथा सामान्यत बाह्य जगत् की परिघटनाओं के निगमन का वर्णन करते हुए हेगेल ने ठीक ही लिखा· "यह साधारण उद्देश्यवादी जाच के द्वारा एक-दूसरे में शुद्ध बाह्य सक्रमण है। इसके लिए निम्नलिखित विधि काम में लायी जाती है· आदमी को अनिवार्यत· खाना चाहिए, अत किसी खाद्य पदार्थ का अनिवार्यत· अस्तित्व होना चाहिए। इसी तरीके से वनस्पतियों और जीवों को निगमित किया जाता है, वनस्पतियों को किसी चीज में उगना चाहिए, अत पृथ्वी को निगमित किया जाता है। यहा स्वयं विषय की जाच बिल्कुल अपर्याप्त है, उस चीज की जाच, जो निग[illegible]त है" (64,*15*,638)।

फिख्ते के आत्मगत प्रत्ययवाद ने अंतर्विरोधों तथा विलोमों की [illegible]कता और पारस्परिक परिवर्तन की उनकी द्वंद्वात्मक समझ को भी [illegible]भावित किया है। फिख्ते इस बात पर जोर देते हैं कि अंतर्विरोध [illegible]वभावत आवश्यक है, कि उन्हें आकारगत तर्कशास्त्र द्वारा वर्णित [illegible]ात्मक अंतर्विरोधों से गड्डमड्ड नहीं करना चाहिए। द्वंद्वात्मक अंतर्विरोध [illegible]गति की प्रेरक शक्ति है। लेकिन फिख्ते की प्रणाली में अंतर्विरोध

संबंध के बारे में फ़िख्ते के विचारों को निषेध के निषेध के नियम संबंधित सिद्धांत में विकसित करते हैं। फ़िख्ते ने अपने प्रवर्गों के निग को कांट के इंद्रियातीत तर्क के विकास के रूप में देखा। हेगेल ने फ़ि के प्रवर्गों के निगमन को मूलतः नये ढंग से विकसित किया, जि द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र के निर्माण का मार्गदर्शन किया, भले ही यह भ्रांत प्रत्ययवादी आधार पर क्यों न हो। द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र में हेगेल केवल प्रवर्गों को निगमित करते हैं, बल्कि उनके विकास और पा स्परिक संक्रमण को, सरल से जटिल में, निम्नतर से उच्चतर संज्ञान के संक्रमण को भी दिखाते हैं। लेकिन हेगेल का द्वंद्ववाद अधिक से अधिक केवल उन कार्यभारों को ही पेश कर सका, जि उसने पहले ही हल कर चुकने की घोषणा की।

द्वंद्ववाद का सिद्धांत, द्वंद्वात्मक विधि, द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र को शु में प्रत्ययवादी दर्शन के आधार पर तैयार किया गया। विकास के सर्वाधिक व्यापक और एकांगीपन से रहित सिद्धांत के रूप में द्वंद्ववाद एकबारगी अपने सुविकसित वैज्ञानिक रूप में नहीं प्रकट हुआ। मार्क्सवाद के संस्थापकों द्वारा निर्मित वैज्ञानिक, भौतिकवादी द्वंद्ववाद का मार्ग पूर्व-मार्क्सवादी दर्शन के विकास की सभी अवस्थाओं से गुजरता है।

बुद्धि की शक्ति के बारे में हेगेल का दर्शन

मार्क्सवादी सिद्धांत सर्वशक्तिमान है, क्योंकि यह सही है।

ब्ला० इ० लेनिन

आधुनिक प्रत्ययवादी दर्शन, अक्सर प्रत्ययवाद को अंतिम रूप
समाप्त करने के अपने कार्यभार की घोषणा करते हुए, वास्तव
र केवल इसके ऐतिहासिक तौर से प्रगतिशील रूपों का निषेध ही
करता है। आधुनिक अतर्कबुद्धिवादी दार्शनिक तर्कबुद्धिवादी प्रत्ययवा
को जो हमारे स्पष्टतः असंगत जगत् में मानवजाति को बुद्धि
भ्रामक राज का प्रलोभन देता है, विनाशक मानता है।*

प्रमुख अस्तित्ववादी दार्शनिक मार्टिन हाइडेगर के अनुसार, ब
चिंतन की सबसे कट्टर दुश्मन है। अगर हम अतर्कबुद्धिवादी प्रत्यय
के तर्क का अनुसरण करें, तो बुद्धि आद्य, पूर्वअंतर्दर्शी और
प्रामाणिक चिंतन से पृथक् किसी चीज के रूप में, अन्यसंक्रामित
क रूप में प्रकट होगी। आधुनिक दार्शनिक अतर्कबुद्धिवाद का वि
दिखाता है कि तर्कबुद्धिवादी दर्शन के साथ इसका वाद-विवाद
ऐतिहासिक रूप में कालातीत बन चुका है द्वंद्वात्मक-भौति
विश्व-दृष्टिकोण के खिलाफ लक्षित है। यही वजह है कि तर्कब
परम्परा और इसके महानतम प्रतिनिधि हेगेल के प्रति म

* गार्जिएल मार्सेल की आलोचना में व० ए० विश्नोव्स्की
है कि अस्तित्ववाद ' प्रत्ययवाद की अस्वीकृति नहीं, बल्कि
... रूप है, जिसके लिए आत

अत हेगेल स्पिनोज़ा के सर्वेश्वरवादी भौतिकवाद की प्रत्ययवादी व्याख्या पेश करते हैं। वस्तुगत प्रत्ययवाद की भावना मे विवेचि स्पिनोज़ा की मूलतत्व की धारणा, जैसा कि मार्क्स उल्लेख करते है हेगेलीय प्रणाली का एक आधारभूत तत्व है।

हेगेल बुद्धि और दर्शन की इन सभी परिभाषाओं से यह निष्क निकालते हैं कि दर्शन के रूप मे भौतिकवाद असभव है। फिर भी जैसा कि एगेल्स ने बार-बार इगित किया, हेगेल का प्रत्ययवाद सि के बल खड़ा भौतिकवाद है (64,3,348)। इस विरोधाभासपूर्ण तथ्य को ध्यान में रखे बिना हेगेल के दर्शन की वास्तविक अन्तर्वस्तु, उनके द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद को समझना असभव है, जो कुछ पहलुओ मे अधिभूतवादी भौतिकवाद की अपेक्षा द्वद्वात्मक-भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण के अधिक निकट है। हेगेल दावा करते हैं कि ब्रह्मांड स्वकारण है, कि यह स्व-प्रणोदित है, हालाकि उनके विचार मे, इस सार्विक द्वद्वात्मक प्रक्रिया का स्रोत बुद्धि है, जो "विश्व की आत्मा है, यह उसमे रहती है, उसकी अन्तर्वर्ती सत्ता, उसकी सच्ची आतरिक प्रकृति, उसकी सार्विकता है" (64,6,46) *।

कर देता है। ईश्वर उसे धर्म द्वारा प्रदान किये गये सभी लक्षणो और गुणो को एक के बाद एक खो देता है और इन्हे तत्काल इनके वैध स्वामी मनुष्य को लौटा दिया जाता है। अन्त मे, ईश्वर किसी भी निश्चयात्मकता से वचित हो जाता है और सभी परस्पर निषेधकारी निश्चयात्मकताओ की असीमित समष्टि मे पूर्णत विलीन हो जाता है। दूसरे शब्दो मे ईश्वर के पास नाम के अलावा और कुछ नही रह जाता" 18,64-65)।

*यद्यपि कि ईसाई धर्मशास्त्री सामान्यतया ईश्वर को परम बुद्धि के रूप मे पेश करते है वे विश्व की व्याख्या एक अगाध भीड़ के रूप मे करते है क्योंकि विश्व की कल्पना (प्रोटेस्टेंट धर्मशास्त्र इसपर विशेष रूप से जोर देता है) विश्व के परे की जाती है और यह इसका परम रहस्य है। इसलिए यह बात समझ मे आने योग्य है कि क्यों युवा मार्क्स हेगेल के बुद्धि के दर्शन को ईसाई धर्मशास्त्र से भिन्न समझते है और व्यग्यपूर्ण ढग से टिप्पणी करते है कि ईश्वर के अस्तित्व

बुद्धि का हेगेलीय परम विवेचन सत्ता और चिंतन के द्वंद्वात्मक तादात्म्य के सिद्धांत पर आधारित है। हेगेल परंपरागत प्रत्ययवादी सूत्र – चिंतन आद्य है और सत्ता गौण – को एक नयी मूल प्रस्थापना में बदल देते हैं चिंतन सत्ता है और सत्ता चिंतन। दर्शन के मौलिक प्रश्न के इस नये प्रत्ययवादी समाधान को एक महत्वपूर्ण विचार से अर्थपूर्ण बनाया जाता है सत्ता और चिंतन का तादात्म्य प्रत्यक्ष स्वरूप नहीं धारण करता।

इस प्रकार, हेगेल दर्शन की मूल समस्या के प्रति परंपरागत प्रत्ययवादी दृष्टिकोण की निराधारता को एक निश्चित हद तक स्वीकार करते हैं, जिसके अनुसार, चिंतन (और सामान्य रूप से सब कुछ आत्मिक) सत्ता से पहले आता है। पर वह भौतिकवादी समाधान को नहीं स्वीकार कर सकते। दोनों के बीच की स्थिति भी परम प्रत्ययवाद से मेल नहीं खाती। अतः हेगेल का हल यह है सत्ता चिंतन में निहित है, चिंतन को सत्ता से अलग नहीं किया जा सकता सत्ता अंतिम विश्लेषण में, चिंतन है।

हेगेल सत्ता के चिंतन में रूपांतरण को अग्रगति परिवर्तन तथा विकास की वस्तुगत तार्किक प्रक्रिया के रूप में पेश करते हैं। सत्ता का यह आत्मीकरण तार्किक प्रगति की मुख्य दिशा है। विकास निज में अस्तित्वमान का निज के निमित्त अस्तित्वमान में संक्रमण है। अत

वे प्रमाण, जिनपर धर्मशास्त्री इतने आग्रहपूर्ण ढंग से अपना ध्यान संकेंद्रित करते हैं, निम्न प्रकार से "व्यक्त होने चाहिए 'चूंकि प्रकृति बुरे ढंग से निर्मित की गयी है, इसलिए ईश्वर का अस्तित्व है', 'चूंकि संसार बुद्धि-रहित है, इसलिए ईश्वर का अस्तित्व है' लेकिन क्या इसका अर्थ यह नहीं है जिस व्यक्ति के लिए संसार बुद्धि-रहित है, या जो स्वयं बुद्धि-रहित है, उसी के लिए ईश्वर का अस्तित्व है? दूसरे शब्दों में, अबुद्धि ही ईश्वर का अस्तित्व है" (1,1,105)। अतः हमें हेगेल की परम बुद्धि की सर्वेश्वरवादी धारणा तथा दिव्य की धर्मशास्त्रीय धारणा के बीच अंतर पर पूरा-पूरा ध्यान देना चाहिए। यह अंतर इसलिए और आवश्यक है कि हेगेल ने अक्सर इसे जानबूझकर धुंधला बनाया।

आ हेगेल स्पिनोज़ा के सर्वेश्वरवादी भौतिकवाद की प्रत्ययवादी व्याख्या पेश करते है। वस्तुगत प्रत्ययवाद की भावना में विवेचित स्पिनोज़ा की मूलतत्त्व की धारणा, जैसा कि मार्क्स उल्लेख करते हैं, हेगेलीय प्रणाली का एक आधारभूत तत्त्व है।

हेगेल बुद्धि और दर्शन की इन सभी परिभाषाओं में यह निष्कर्ष निकालते है कि दर्शन के रूप में भौतिकवाद असम्भव है। फिर भी, जैसा कि एंगेल्स ने बार-बार इंगित किया, हेगेल का प्रत्ययवाद सिर के बल खड़ा भौतिकवाद है (64,3,348)। इस विरोधाभासपूर्ण तथ्य को ध्यान में रखे बिना हेगेल के दर्शन की वास्तविक अन्तर्वस्तु, उनके द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद को समझना असम्भव है, जो कुछ पहलुओं में अधिभूतवादी भौतिकवाद की अपेक्षा द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण के अधिक निकट है। हेगेल दावा करते हैं कि ब्रह्मांड स्वकारण है, कि यह स्व-प्रणोदित है, हालांकि उनके विचार में, इस सार्विक द्वंद्वात्मक प्रक्रिया का स्रोत बुद्धि है, जो "विश्व की आत्मा है, यह उसमें रहती है, उसकी अन्तर्वर्ती सत्ता, उसकी सच्ची आन्तरिक प्रकृति, उसकी सार्विकता है" (64,6,46) *।

कर देता है। ईश्वर उसे धर्म द्वारा प्रदान किये गये सभी लक्षणों और गुणों को एक के बाद एक खो देता है और इन्हें तत्काल इनके वैध स्वामी मनुष्य को लौटा दिया जाता है। अन्त में, ईश्वर किसी भी निश्चयात्मकता से वंचित हो जाता है और सभी परस्पर निषेधकारी निश्चयात्मकताओं की अपरिमित समष्टि में पूर्णतः विलीन हो जाता है। दूसरे शब्दों में, ईश्वर के पास नाम के अलावा और कुछ नहीं रह जाता" 18,64-65) ।

*यद्यपि कि ईसाई धर्मशास्त्री सामान्यतया ईश्वर को परम बुद्धि के रूप में पेश करते हैं, वे विश्व की व्याख्या एक असंगत चीज़ के रूप में करते हैं क्योंकि दिव्य की कल्पना (प्रोटेस्टैंट धर्मशास्त्र इसपर विशेष रूप से ज़ोर देता है) विश्व के परे की जाती है और यह इसका परम विलोम है। इसलिए यह बात समझ में आने योग्य है कि क्यों युवा मार्क्स हेगेल [illegible] के [illegible], जो ईसाई धर्मशास्त्र के विपरीत [illegible] करते हैं कि ईश्वर के अस्तित्व

बुद्धि का हेगेलीय परम विवेचन सत्ता और चिंतन के द्वंद्वात्मक तादात्म्य के सिद्धांत पर आधारित है। हेगेल परंपरागत प्रत्ययवादी —चिंतन आद्य है और सत्ता गौण—को एक नयी मूल प्रस्थापना बदल देते है चिंतन सत्ता है और सत्ता चिंतन। दर्शन के मौलिक न के इस नये प्रत्ययवादी समाधान को एक महत्वपूर्ण विचार से पूर्ण बनाया जाता है सत्ता और चिंतन का तादात्म्य प्रत्यक्ष स्वरूप धारण करता।

इस प्रकार, हेगेल दर्शन की मूल समस्या के प्रति परंपरागत प्रत्यय-दी दृष्टिकोण की निराधारता को एक निश्चित हद तक स्वीकार ते है, जिसके अनुसार, चिंतन (और सामान्य रूप से सब कुछ त्मिक) सत्ता से पहले आता है। पर वह भौतिकवादी समाधान नही स्वीकार कर सकते। दोनो के बीच की स्थिति भी परम प्रत्यय-द से मेल नही खाती। अत हेगेल का हल यह है सत्ता चिंतन निहित है, चिंतन को सत्ता से अलग नही किया जा सकता, सत्ता तिम विश्लेषण मे, चिंतन है।

हेगेल सत्ता के चिंतन मे रूपातरण को अग्रगति परिवर्तन तथा कास की वस्तुगत तार्किक प्रक्रिया के रूप मे पेश करते है। सत्ता का ह आत्मीकरण तार्किक प्रगति की मुख्य दिशा है। विकास निज मे स्तित्वमान का निज के निमित्त अस्तित्वमान मे सक्रमण है। अत

प्रमाण, जिनपर धर्मशास्त्री इतने आग्रहपूर्ण ढग से अपना ध्यान केंद्रित करते है, निम्न प्रकार से "व्यक्त होने चाहिए 'चूंकि प्रकृति रे ढग से निर्मित की गयी है, इसलिए ईश्वर का अस्तित्व है', चूंकि ससार बुद्धि-रहित है, इसलिए ईश्वर का अस्तित्व है'. लेकिन या इसका अर्थ यह नही है, जिस व्यक्ति के लिए ससार बुद्धि-रहित , या जो स्वयं बुद्धि-रहित है, उसी के लिए ईश्वर का अस्तित्व है? सरे शब्दों में, अबुद्धि ही ईश्वर का अस्तित्व है" (1,*1*,105) । अत हमे हेगेल की परम बुद्धि की सर्वेश्वरवादी धारणा तथा दिव्य की धर्मशास्त्रीय धारणा के बीच अतर पर पूरा-पूरा ध्यान देना चाहिए। यह अतर इसलिए और आवश्यक है कि हेगेल ने अक्सर इसे जानबूझकर धुंधला बनाया।

हेगेल के अनुसार, सत्ता और चिंतन का तादात्म्य एक प्रत्ययवादी पूर्वाग्र
तथा विकास की प्रक्रिया का स्पष्ट परिणाम है। दूसरे शब्दों में, सत्ता
और चिंतन के तादात्म्य का हेगेलीय सिद्धांत विकास की सर्वाग
प्रकृति की खोज करता है और इस खोज को प्रत्ययवादी ढंग से रहस्य
बनाता है।

सत्ता और चिंतन के तादात्म्य का अर्थ यह नहीं है कि दोनों में
भेद नहीं किया जा सकता, जैसा कि शेलिंग ने माना। बल्कि यह
विलोमों का तादात्म्य है, अतएव यह इनके भेद अर्थात चिंतन और
सत्ता के विलोम के अस्तित्व की पूर्वकल्पना करता है। ऐसे तादात्म्य
में उसका अपना निषेध निहित होता है, इसलिए यह तादात्म्य और
भिन्नता की एकता है। लेकिन भिन्नता केवल तादात्म्य में अं
द्वंद्वात्मक निर्धारण के रूप में ही अस्तित्व रखती है। विलोमों का द्व
द्वंद्वात्मक संबंध आविर्भाव, आत्म-निर्धारण की निरंतर प्रक्रिया है
शेलिंग के तादात्म्य के दर्शन में मूल तादात्म्य की अपनी समझ
तुलना करते हुए हेगेल ज़ोर देते हैं कि "सच्चा दर्शन तादात्म्य
दर्शन नहीं है, यह दर्शन-विरुद्ध है यह सक्रियता, गति, प्रतिक
है – और अत अपरिवर्तनीय तादात्म्य नहीं है, साथ ही यह स्वय
अनन्य है"(64,*14*,332)। इस तरह, तादात्म्य के अंदर भिन्नता उत
ही महत्वपूर्ण है, जितना कि स्वयं तादात्म्य। और यदि सत्ता त
चिंतन सारत अनन्य है, तो वे सारत भिन्न भी हैं। स्वयं मूल
को तादात्म्य तथा भिन्नता की एकता के रूप में समझा जाना चाहि

आद्य द्वंद्वात्मक तादात्म्य की हेगेलीय धारणा केवल परिकल्पनात्म
प्रत्ययवादी संरचना नहीं है। इसमें सार्विकता के द्वंद्वात्मक रूपों
गहन समझ (और स्पष्टत उसकी रहस्यमय विकृति) शामिल
जिन्हें हेगेल ज्ञान के तार्किक रूपों में परिवर्तित करते हैं। परंतु
यह नहीं भूलना चाहिए कि हेगेल के अनुसार, सज्ञान, केवल मान
कार्य नहीं, बल्कि सर्वोपरि परम "प्रत्यय" यानी प्रत्ययवादी ढंग
प्रतिपादित विश्व का सार्विक, तात्विक कार्य भी है।

अगर कांट प्रवर्गों को केवल इंद्रियगत अनुध्यानों को जोड़ने
विधियों के रूप में मानते हैं, तो हेगेल सिद्ध करते हैं कि प्रवर्ग
सत्ता के मूल निर्धारण हैं। वस्तुत कारणता, आवश्यकता, आदि के

चिंतन के रूप ही नहीं हैं वे ऐसे केवल इसलिए हैं कि उनमें सार्विकता
के वस्तुगत रूप में अस्तित्वमान रूपों ने धारणात्मक अभिव्यक्तियां
पायी। यह सही है कि तार्किक प्रवर्ग सार्विकता के वस्तुगत रूप से
अस्तित्वमान रूपों को केवल मोटे तौर पर ही व्यक्त करते हैं। लेकिन
न के विकास के साथ-साथ वे भी विकसित होते हैं और परिघटनाओं
े बीच अन्योन्यसंबंधों को अधिकाधिक सही ढंग से व्यक्त करते हैं।
बेशक, हेगेल के लिए भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण से अविच्छेद्य
प्रतिबिम्बन का ज्ञानमीमांसीय सिद्धांत पराया है। लेकिन सत्ता और
चिंतन के तादात्म्य (और भिन्नता) की उनकी धारणा ने प्रवर्गों
(चिंतन) और चेतना से स्वतंत्र रूप से अस्तित्वमान तथा स्वयं सत्ता में
अंतर्निहित सार्विकता के रूपों के बीच द्वंद्वात्मक संबंध की प्रत्ययवादी
व्याख्या पेश की।

अधिभूतवादी भौतिकवादियों ने तार्किक रूपों की वस्तुगत अंतर्वस्तु
की ओर इंगित किया और उनके विशिष्ट मानवीय, आत्मगत स्वरूप
पर ज़ोर दिया। उन्होंने इस चीज़ पर कभी विचार नहीं किया कि
चिंतन के रूप तथा अंतर्वस्तु अपनी सुस्पष्ट विजातीयता के बावजूद
कैसे एक-दूसरे से मेल खाते हैं। हेगेल ने इस अंतर्विरोधी संबंध के
अन्वेषण का बीड़ा उठाया। निर्णयों तथा परिकल्पनाओं की संरचना
का विश्लेषण करते हुए वह निम्नलिखित स्थापना को प्रमाणित कर
है तार्किक रूप अपनी अंतर्वस्तु की भांति ही वस्तुगत है। लेकिन इ
खोज के असाधारण महत्व को, जिसका लेनिन ने अपनी कृति 'दार्शनि
टिप्पणियां' में उल्लेख किया, इस तथ्य को धुंधला नहीं बनाना चा
कि हेगेल तार्किक रूपों की ज्ञानमीमांसीय वस्तुगतता को सत्तामीमां
बनाते हैं अर्थात् अपनी खोज की प्रत्ययवादी व्याख्या करते हैं।

सत्ता और चिंतन के द्वंद्वात्मक तादात्म्य के अंदर बुद्धि की
सक्रियता सर्वोपरि निषेध के रूप में व्यक्त होती है। हेगेल के
में निषेध का द्वंद्ववाद, मार्क्स के अनुसार, प्रेरक और अंतर्वस्तु
सिद्धांत है (1,3,332)। यह सच है कि निषेध किसी पूर्वाधार से
वक्तव्य से प्रारम्भ होता है। अतः बुद्धि का पहला कार्य हमेश
भिन्नता और समानता के संबंधों

तर्कशास्त्र की हेगेलीय आलोचना को यह मानते हुए धुधला बनाते हैं कि हेगेल का आशय (हेगेल की स्पष्ट घोषणाओ के बावजूद) चितन की अधिभूतवादी, द्वद्ववाद-विरोधी विधि की आलोचना से है। लेकिन यहा असल बात यह है कि हेगेल के अनुसार, बुद्धि मे निषेध का सिद्धात शामिल है यह अपनी परिभाषाओ को द्वद्वात्मक निषेध के अधीन लाते हुए अपनी आलोचना करती है। हेगेल की गलती आकारगत तर्कशास्त्र की आलोचना मे नही, अपितु बुद्धि की आत्मालोचना की व्याख्या धारणा के आत्म-विकास की प्रागनुभविक अतर्निहित प्रक्रिया के रूप मे करने में है।

हेगेल के अनुसार, निषेध का सिद्धात स्वय बुद्धि की प्रकृति मे निहित है, क्योकि बुद्धि सहजबुद्धि का निषेध यानी अपने परिसीमनो का निषेध है। अतिम विश्लेषण मे, निषेध सकारात्मक और मूर्त है क्योंकि एक वास्तविक चरण के रूप मे अमूर्त, बुद्धिसगत निषेध, जिसे समग्रवाद द्वारा परम बनाया जाता है, स्वय निषेध के अधीन है। निषेध का निषेध बुद्धि का तीसरा, सश्लेषणात्मक मीमासात्मक चरण है, जो हेगेल के अनुसार, "निषेधात्मक-बुद्धिसगत" को "रद्द करता" है और इस तरह "सकारात्मक-बुद्धिसगत" का दावा करता है।

हेगेल के ये तर्क, जो पहली नजर मे बिल्कुल परिकल्पनात्मक प्रतीत होते हैं, पूर्णत वास्तविक, विविध अतर्वस्तुओ का सामान्यीकरण करते हैं, भले ही वे समान महत्व की नहीं है (जहा तक उनके बुद्धि-सगत तत्व का सबध है)। सर्वोपरि, जैसा कि इसका पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, हेगेल "द्वद्ववाद और आकारगत तर्कशास्त्र" के सबध को द्वद्वात्मक रूप से अतर्विरोधी एकता, तादात्म्य तथा भिन्नता की एकता के रूप मे समझने की कोशिश करते हैं, जो निश्चित परि-स्थितियो मे पारस्परिक रूप से अपवर्जक तथा पारस्परिक रूप से निर्धारक विलोमों के सबध मे बदल जाती है। यह तथ्य कि आकारगत तर्कशास्त्र व्यक्ति की नृवैज्ञानिक "परिमितता" से जुड़ा है, बुद्धि के प्रामाणिक तर्कशास्त्र के रूप मे द्वद्वात्मक तर्कशास्त्र की समस्या के प्रति हेगेल के दृष्टिकोण के बुद्धिसगत अर्थ को धुधला नही बना सकता इसलिए और भी अधिक कि हेगेल के अनुसार, समाज के सदस्य के रूप मे अपने निर्माण के दौरान तथा अपने आगे के विकास की वजह

से व्यक्ति सामाजिक समष्टि की अधिकाधिक अर्थपूर्ण और सचेत अभिव्यक्ति है।

बुद्धि की सर्वागसमता, जो हेगेल के सुप्रसिद्ध सिद्ध में अपनी आकारगत अभिव्यक्ति पाती है, सहजबुद्धि से अपने मतैक्य तक सीमित नही है। अस्तित्वमान चीजो के सभी रूप और, अत सर्वोपरि प्रकृति, बुद्धि के परिसीमित निर्धारण हैं। आत्मा, जो प्रकृति का सार है, अब भी बुद्धि नही है। तो भी, प्राकृतिक परिघटनाओ की प्रणाली, इनके नियमो को बुद्धिगत रूप मे पेश किया जाता है। उदाहरणार्थ, सौर-प्रणाली के नियमो का हवाला देते हुए हेगेल कहते है कि "वे इनकी बुद्धि हैं। लेकिन न सूर्य, न ही ग्रह, जो इन नियमो के अनुसार उसका चक्कर काटते है, उनके प्रति सचेत होते है" (63,1,37) । अत बुद्धिसगत प्रकृति की धारणा मात्र इसके नियमो की सार्विकता की प्रत्ययवादी व्याख्या है।* उसके साथ ही, यह बेशक साधारण, भोंडे उद्देश्यवाद के मुकाबले मे विश्व की सूक्ष्म, उद्देश्यवादी व्याख्या है। साधारण उद्देश्यवाद के अनुसार, "भेडो की खाल ऊन से केवल इसलिए ढकी होती है कि हम उससे कपडे बुन सकें" (64,7,10) । हेगेल उद्देश्यवादी सबध की व्याख्या यात्रिक तथा रासायनिक प्रक्रियाओ की एकता के रूप मे करते हैं। लेकिन जीवित प्रकृति मे उद्देश्यता की भौतिक सरचना के सबध मे यह मेधावी कल्पना केवल प्रकृति की प्रत्ययवादी व्याख्या का एक हिस्सा है हेगेल के अनुसार, आत्मा प्रकृति का लक्ष्य है और वस्तुत इसी वजह से यह न केवल प्राकृतिक सत्ताओ के अनुक्रम मे शीर्षस्थ होती है, बल्कि उनकी आधारशिला भी होती है। लेकिन यह भी सच है कि आत्मा कालसापेक्ष ढग से, "इद्रियानुभविक ढग से" प्रकृति के पहले नही आती, "बल्कि इस ढग से कि आत्मा,

---

*इस तरह के विचार प्राय उन प्रकृति-वैज्ञानिको के हैं, जो प्रत्ययवादी कदापि नही है। उदाहरणार्थ, लुई दे ब्रोइल के विचार मे, "विश्व की बुद्धिसगति की धारणा विज्ञान का मूल अभ्युपगम है" (39,353) । कहा जा सकता है कि यह स्थापना परिघटनाओ के अनिवार्य अत सबध, उनकी क्रमबद्धता तथा नियमो से उनकी अनुरूपता के बारे मे वैज्ञानिक सिद्धात की अप्रामाणिक अभिव्यक्ति है।

जो प्रकृति की कल्पना अपने से आगे करती है, हमेशा पहले से ही प्रकृति मे विद्यमान होती है" (64,7,695) । प्रकृति को "परम प्रत्यय" की अन्यसक्रामित सत्ता के रूप मे परिभाषित किया जाता है तथा भूतद्रव्य की यात्रिक गति से जीवन तक एक रेखा के रूप मे प्रतिपादित प्राकृतिक अनुक्रम का वर्णन "परम प्रत्यय" द्वारा अपनी अन्यसत्ता या, हेगेल के शब्दो मे, अपने अन्य के बोध के रूप मे किया जाता है। इस प्रकार, प्रकृति का सज्ञान सत्ता तथा चितन के द्वद्वात्मक तादात्म्य का बोध है, वह तादात्म्य, जो प्रकृति का सक्रिय आधार है। और प्रकृति का दर्शन (हेगेल का प्रत्ययवादी प्राकृतिक दर्शन) "परम प्रत्यय", विश्व-बुद्धि के इस मार्ग को उसके अन्यसक्रामण से पुनरुत्पादित करता है। इसके अलावा, "प्रकृति का दर्शन स्वय पीछे की ओर वापसी के इस मार्ग का अग है, क्योकि यह वही चीज है, जो प्रकृति तथा आत्मा के अलगाव (die Trennung) को रद्द करती है और आत्मा को प्रकृति मे अपना सारतत्व स्थापित करने मे समर्थ बनाती है" (64,7,23)। स्वभावत हमे हमेशा यह ध्यान मे रखना चाहिए कि हेगेल के अनुसार, दर्शन केवल सज्ञान का एक विशेष रूप नही है, यह सर्वोपरि "परम प्रत्यय" की आत्म-चेतना है।

सो, परम प्रत्ययवाद के तर्क के अनुसार, प्राकृतिक बुद्धिसगत है, लेकिन यह अब भी अपनी बुद्धिसगति के प्रति सचेत नही है और अत यह प्रत्यक्षत इसके निषेध के रूप मे प्रकट होता है। पर परिभाषा के अनुसार, बुद्धि अपने को बुद्धि के रूप मे जानती है। अत यह आत्मा है, जो स्वय अपना बोध करती है।

आत्म-चेतन आत्मा या बुद्धि मे सक्रमण हेगेलीय प्रणाली के ढाचे मे "परम प्रत्यय" का उन्नयन है, जिसने सपूर्ण बहुविध प्राकृतिक, भौतिक पर विजय पा ली है और "परम आत्मा" अर्थात् मानवजाति तक पहुच गया है। यह प्रत्ययवादी सिद्धात पुराणकथा सरीखा है, फिर भी, इसमे गहन तथा अत्यत महत्वपूर्ण द्वद्वात्मक कल्पनाए विद्यमान है। इनमे से सबसे महत्वपूर्ण **विकासमान मूलतत्व** का विचार है।

पूर्व-हेगेलवादी दर्शन ने मूलतत्व को सभी अस्तित्वमान चीजो के आद्य कारण, आद्य स्रोत के रूप मे देखा। प्रत्ययवादियो ने इस परिकल्पनात्मक धारणा को दिव्य आद्य कारण के विचार से जोडा। इसके

करता है, तो समग्रता के इस रूप मे यह **प्रकृति** है।' लेनिन इस प्रस्थापना को "अतिविलक्षण" कहते है और लिखते है "तार्किक विचार का **प्रकृति** मे सत्रमण। यह हमे भौतिकवाद की समझ के अत्यत समीप ला देता है। *एगेल्स यह कहने मे सही थे कि हेगेल की प्रणाली* सिर के बल खडा भौतिकवाद है।" वह कुछ आगे लिखते है "हेगेल के तर्कशास्त्र का निष्कर्ष, अतिम शब्द और सारतत्व है **द्वद्वात्मक विधि।** यह अत्यत उल्लेखनीय है। एक बात और हेगेल की इस **सर्वाधिक प्रत्ययवादी** कृति मे **न्यूनतम** प्रत्ययवाद और **अधिकतम** भौतिकवाद है। यह 'अतर्विरोधी' है, लेकिन सही है" (10,*38*,234) । भौतिकवाद तक लाने वाली इन प्रस्थापनाओ के बावजूद हेगेल बार-बार दुहराते हैं कि "परम प्रत्यय" अलौकिक, दिव्य है। ये वक्तव्य उनके आत्मगत विश्वास को प्रकट करते है, लेकिन वे मूलतत्व की समस्या के प्रति उनके द्वद्वात्मक दृष्टिकोण का खडन करते है। यहा हेगेल की स्थिति स्पिनोज़ा की स्थिति से मिलती-जुलती है, जिन्होने ईश्वर के अस्तित्व पर सदेह नही किया, क्योकि उनका पक्का विश्वास था कि ईश्वर प्रकृति है।

एक *अपरिमित प्रक्रिया के रूप मे विकास की हेगेलीय समझ* विकास को अतिम पूर्ति के रूप मे इसके किसी भी परिणाम की व्याख्या करने के सारे प्रयासो का निषेध है। हालाकि हेगेल द्वद्ववाद के इस निरपेक्ष नियोग का, जिसे उन्होने स्वय निरूपित किया, हमेशा उल्लघन करते थे, 'हेगेलीय दर्शन का वास्तविक महत्व तथा क्रातिकारी स्वरूप," एगेल्स जोर देते हैं, इसमे है कि "इसने मानव चिंतन और कार्य के परिणामो के अतिम स्वरूप के बारे मे सभी विचारो पर हमेशा-हमेशा के लिए प्राणघातक प्रहार किया" (3,*3*,339) ।

इस तरह, अपने ऐतिहासिक विकास के पूर्ण परिमाण मे बुद्धि मूलतत्व है, जो विषयी, आत्म-चेतना बन जाता है। प्रकृति के *अलावा* "परम बुद्धि" के अस्तित्व के परिमित अन्यसक्रामित क्षेत्र एक ओर, 'आत्मगत आत्मा" और दूसरी ओर, "वस्तुगत आत्मा" है। ये विलोम – व्यक्ति और समाज – एकता बनाते है, जिसे "परम आत्मा" नाम दिया जाता है। आत्मगत आत्मा का विकास नृविज्ञान, फ़िनो-

मेनोलॉजी और मनोविज्ञान का विषय है, जो हेगेल की कृति 'अ
का दर्शन' का पहला भाग बनाते हैं। यहां मनुष्य को एक ऐ
ऐंद्रिक प्राकृतिक सत्ता के रूप में, इसमें निहित सभी गुणों के
व्यक्ति के रूप में देखा जाता है। वह पैदा होता है, शिशु से
में निज निर्मित मनुष्य में रूपांतरित होता है तथा एक बदल
सत्ता के रूप में अपने अस्तित्व की परिस्थितियों द्वारा जनित
निजी उद्देश्यों को कार्यान्वित करने की कोशिश करता है। यह प्राणी
कष्ट झेलता है, जीवन का आनंद लेता है, प्रेम और घृणा
है, रोगग्रस्त होता है और अंत में मर जाता है। वै
का विकास सार्विक से उसके अन्यसत्तामण पर काबू पाने, वै
में सामाजिक तक उन्नयन में निहित है। यह धारणा व्य
सामाजिक सारतत्व की गहन समझ के साथ-साथ मनु
ऐंद्रिक जीवन, उसकी आत्मगतता, "परिमितता" का कम
कन व्यक्त करती है, जो तर्कबुद्धिवादी प्रत्ययवाद के
लाक्षणिक है।

हेगेल के अनुसार, वस्तुगत आत्मा आत्मगत आत्मा का
केवल इस वजह से नहीं कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, ब
परि इस वजह से कि मनुष्य की वैयक्तिक सत्ता के नृवैज्ञानिक
सतों के निषेध के साथ बुद्धि देश या काल में असीमित, स्व
विकसित होती है। "वस्तुगत आत्मा" के रूप में बुद्धि अपने सा
तत्वता सार्विकता) की चेतना की मनुष्य की बुद्धिमत्ता
के लिए अधिकाधिक यथोचित राजकीय-विधिक रूपों तथा
व्यवस्थाओं ("नागरिक समाज") की प्राप्ति की सामाजि
सिक प्रक्रिया है।

इस रूप का एक बुद्धिमत्ता नैतिक संगठन के रू
विधि का अन्य वाला व अलावा निजी स्वामित्व पर आधारि
के रूप में वर्णन करते हैं। दासता और भूदास प्रथा का उन्मू
स्वामित्व की [illegible]" अन करण की स्वतंत्रता
[illegible] की समाप्ति सीमित नागरिक व्यवस्थाओं के
और निरंतर [illegible] — इन सबको "वस्तुगत आ
[illegible] गुणों के रूप में देखते हैं आगतूर इसके लि

गाली के अनुसार, जैसा कि एगेल्स ने ध्यान दिलाया "जिस तरह ज्ञान मानवजाति की किसी पूर्ण, आदर्श परिस्थिति मे अतिम निष्कर्ष ही पा सकता, उसी तरह इतिहास भी ऐसा करने मे असमर्थ है, क पूर्ण समाज, एक पूर्ण 'राज्य' ऐसी चीजे है, जो केवल कल्पना ' ही अस्तित्व रख सकती है" (3,*3*,339) ।

विदित है कि हेगेल ने राज्य को सासारिक दिव्य सत्ता और विश्व-तिहास को पृथ्वी पर ईश्वर की प्रगति कहा। ये भावात्मक घोषणाए मक सायोगिक नही हैं, यहा तक कि उनके शब्दाडबरो ने भी जर्मन र्जुआ वर्ग की सामाजिक स्थिति को व्यक्त किया, जो पूजीवादी प्रणाली े स्वतस्फूर्त विकास पर अपनी आशाए टिकाये हुए था तथा सामती ाजतत्र से बुर्जुआ राजतत्र मे विकासवादी सक्रमण को सुनिश्चित बनाने ी *कोशिश कर रहा था। हेगेल की प्रणाली के इन सामाजिक-राजनी*-तिक पहलुओं पर जोर देते हुए हमे यह भी स्मरण रखना चाहिए के यह "वस्तुगत आत्मा" को सार्विक, अपरिमित बुद्धि के परिमित, ीमित और मूलत अब भी अन्यसक्रामित रूप के तौर पर पेश करती है।

अपरिमित बुद्धि या "परम आत्मा", परम ज्ञान, जिसे परम के बोध के रूप मे समझा जाना चाहिए, केवल कला धर्म और दर्शन मे अपनी प्रामाणिक अभिव्यक्ति पाता है। केवल सृजनात्मक क्षेत्र मे ही, जिसे हेगेल सचेत तथा उद्देश्यपूर्ण व्यावहारिक सक्रियता के सभी रूपो से ऊपर उठाते है, "चितन स्वय के पास रहता है, स्वय से मेल खाता है और स्वय को अपने विषय के रूप मे रखता है" (64,*6*, 63) ।

आत्मिक रचनात्मक क्रियाकलाप का भेद मानवीय सक्रियता के अन्य रूपो से दिखलाया जाता है, जिनके विषय भौतिक वस्तुए होती हैं। यद्यपि यह भेद निरपेक्ष नही है, क्योकि हेगेल के अनुसार, भौतिक का सार आत्मिक है, यह भेद उनके विचारो की सपूर्ण प्रणाली के लिए महत्वपूर्ण है। विशेष रूप से, यह दिखाता है कि हेगेल सामाजिक यथार्थता की रोमानी निन्दा से बिल्कुल मुक्त नही हैं, जिसकी आलोचना वह स्वय एक शक्तिहीन और आडबरपूर्ण स्थिति के रूप मे करते हैं। लेकिन प्रकटत यह भेद-प्रदर्शन एक ऐसी प्रणाली के ढाचे मे अनिवार्य

में actus purus* है। विदित है कि हेगेल स्वयं भी इस परिभाषा का हवाला देते हैं और इसका समर्थन करते हैं।

पर यह उल्लेखनीय है कि "शुद्ध बुद्धि" यानी समूचे तर्क-बुद्धिवादी दर्शन की मुख्य धारणा का निरपेक्ष धार्मिक पूर्वाधार से स्वाभाविक इतिहासिक-दार्शनिक विश्लेषण के कार्यभार का अतिसरलीकरण करना है। यह कार्यभार इस धारणा की वास्तविक न कि काल्पनिक अन्तर्वस्तु को प्रकट करना यानी उस अवधारणा के बारे में प्रत्ययवादी गलती की संज्ञानात्मक व्याख्या करना है जिसकी जांच प्रत्ययवादी दर्शन ने की और जिसे तोड़ा-मरोड़ा भी।

१७वीं सदी का तर्कबुद्धिवाद घोषणा करता है कि बुद्धि (अर्थात वास्तविक मानव बुद्धि) अपने में कभी गलती नहीं करती बशर्ते कि यह अपने नियमों का पालन करे यानी स्पष्ट को स्पष्ट के रूप में स्वीकार करे तथा तर्कशास्त्र की मांगों को पूरा करे। इस दृष्टिकोण से गलती का कारण है इंद्रिय-अनुभूतियां, जो अपनी प्रकृति से ही भ्रामक होती हैं, भावावेग, जो सत्य की जरा भी परवाह नहीं करते, और इच्छा, जो वास्तविक की जगह वांछनीय को वरीयता देती है।

शुद्ध बुद्धि की तर्कबुद्धिवादी धारणा (क्या इसकी तुलना गलतियां करने में असमर्थ इलेक्ट्रानिक "बुद्धि" की कुछ आधुनिक धारणाओं से नहीं की जा सकती बशर्ते कि वह अपने समक्ष प्रस्तुत प्रश्नों के समाधान के लिए सभी आवश्यक सूचनाओं से लैस हो?) को "शुद्ध" गणित (और गणितीय भौतिकविज्ञान) की असाधारण उपलब्धियों के आधार पर सूत्रित किया गया। यह गणितीय चिंतन की दार्शनिक व्याख्या थी, जिसे तर्कबुद्धिवाद ने सार्विक तथा निदर्शनात्मक महत्व प्रदान किया। निस्संदेह, इस धारणा में एक बुद्धिसंगत तत्व सम्मिलित था, क्योंकि इसने "प्रामाणिक सूत्रों" पर आधारित विश्वास तथा दावों से बुद्धि की स्वतन्त्रता को सिद्ध किया, भले ही यह विरोधाभास-पूर्ण तरीके से क्यों न किया गया हो। देकार्त का cogito, जो चिंतनशील व्यक्ति की आत्मचेतना को सत्य और भ्रम के बीच विवाद के हल में सर्वोच्च निर्णायक घोषित करता है, और अचूक बुद्धि से तर्कबुद्धिवा-

---

*शुद्ध कार्य। — अनु०

दियो का विकास एक ही प्रकार की परिघटनाए है। उनका क्रांतिकारी वैज्ञानिक और विचारधारात्मक महत्त्व स्पष्ट है।

१८वी सदी के अंत मे, प्रारंभिक बुर्जुआ क्रांतियों के युग को पूरा करनेवाली अवधि मे, कांट ने शुद्ध बुद्धि के तर्कबुद्धिवादी पथ का विरोध किया। सर्वोपरि उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि शुद्ध गणित इंद्रियगत (ठीक-ठीक कहे तो प्रागनुभविक इंद्रियगत) प्रेक्षणों पर आधारित है। कांट ने शुद्ध बुद्धि – यानी जो इंद्रियगत सामग्री पर आधारित न हो – के अस्तित्व पर संदेह नहीं किया, बल्कि सिद्ध किया कि यह अनिवार्यत भ्रम (तर्काभास, विप्रतिषेध) मे आ गिरती है, क्योंकि यह शुद्ध बुद्धि ही है। यह सब होते हुए भी कांट ने सज्ञान तथा नैतिकता के अधिक सामान्य, नियामक विचारो के स्रोत के रूप मे शुद्ध बुद्धि की धारणा को बडा महत्व प्रदान किया।

वैयक्तिक चेतना से स्वतंत्र, किंतु केवल व्यक्तियो की चेतना मे अस्तित्वमान शुद्ध (खास तौर से शुद्ध व्यावहारिक) बुद्धि का विश्लेषण दिखाता है कि यहा चर्चा (यदि हम अपने को अभिव्यक्ति की प्रत्ययवादी विधि से पृथक् कर ले) सामाजिक चेतना तथा मानवजाति द्वारा प्राप्त समग्र सैद्धातिक ज्ञान की है। शुद्ध बुद्धि की धारणा के इस वास्तविक अर्थ को, जो किसी वैयक्तिक अनुभव से पहले आनेवाली प्रवर्गीय इंद्रियातीत चेतना की कांट की धारणा मे पहले ही स्पष्ट है, हेगेल ने परम आत्मा के रूपों – कला, धर्म, दर्शन – के अपने सिद्धांत मे पूर्णत प्रकट किया और सुव्यवस्थित ढंग से विकसित किया।

अत एक सुसगत प्रत्ययवादी के रूप मे हेगेल आत्मिक उत्पादन अर्थात् ज्ञान, कलात्मक मूल्यो के उत्पादन, स्वय बुद्धि के विकास, आदि को परम बनाते है। चूंकि अपने परम, सत्तामीमासीकृत रूप मे बुद्धि को आद्य, तात्विक के तौर पर पेश किया जाता है, हेगेल मनुष्य के निर्माण मे श्रम की भूमिका मे अपनी सभी मेधावी अतर्दृष्टियों के बावजूद इस चीज को समझने मे सर्वथा असमर्थ हैं कि "जिस हद तक मनुष्य ने प्रकृति को बदलना सीख लिया है, उसी हद तक उसकी बुद्धि बढ़ी है" (9,231)। भौतिक उत्पादन को आत्मिक उत्पादन मे बदल दिया जाता है और आत्मिक उत्पादन को शुद्ध बुद्धि की क्रिया

[illegible] के अनुसार [illegible] के सिलसिले में, जो अपने विषय की वस्तु अनुभव रूप देता है [illegible] है कि इसमें [illegible] न लिया है (II, 7, 111)।

ऐसी स्थिति में सुसंगतिपूर्ण बुद्धि पर "परम आत्मा" के हेगेलीय सिद्धान्त के बारे में बहुप्रचलित भ्रम क्या है? इस विषय का उत्तर तलाश करना यहाँ उचित और इसके दर्शन की हेगेलीय समझ की अन्तर्वस्तु का मूल्यांकन करना नहीं है, जिससे कि इस चीज का अध्ययन करना जो हेगेल के अनुसार सामान्यतः सामाजिक चेतना और मानव ज्ञान के लिए सार्वभौमिक है। [illegible] के इन उपकरण रूपों के ये [illegible] निषेध का द्वंद्वात्मक ऐतिहासिकता और विकास है। दूसरे शब्दों में, सार्विक के उपकरण रूप विकास की समाप्ति भी नहीं, बल्कि उन्हें एकांगीपन से मुक्त अपने पूर्णतम विकास की पूर्वपेक्षा करते हैं। इससे भी अधिक, हेगेल दावा करते हैं कि सच्चा विकास केवल "परम आत्मा" की अवस्था में ही होता है। यही कारण है कि विज्ञान का प्रथम 'तर्कशास्त्र' के सिर्फ तीसरे भाग में धारणा के सिद्धान्त में ही प्रकट होता है, जो हेगेल के अनुसार, जीवन का प्रत्यक्ष आधार है।

काट यह दावा करते हुए कि शुद्ध बुद्धि के भाग्य में अपनी प्रकृति की वजह से गलती करना बदा है, इस चीज को स्पष्ट करने में असमर्थ रहे कि क्यों यह अपने में ज्ञान तथा नैतिकता के उच्चतम रूपों को *सम्मिलित* करती है। काट इस *अन्तर्विरोध* के प्रति पूर्णत: सचेत नहीं थे और उन्होंने इसे हल की जानेवाली एक समस्या के रूप में कभी नहीं पेश किया। परन्तु हेगेल ने इसकी केवल व्याख्या ही नहीं की बल्कि "परम आत्मा" के अपने सिद्धान्त में इसका अपने ही ढंग का समाधान भी पेश किया।

हेगेल शुद्ध बुद्धि की अचूकता के बारे में तर्कबुद्धिवादी उद्भूत को एक स्थापना के रूप में मानते हैं, काट का यह पूर्वाधार कि वस्तुत: शुद्ध बुद्धि ही भूल करती है, प्रतिस्थापना प्रतीत होती है। जहां तक शुद्ध, मानो मानवजाति में निहित बुद्धि के विकास के सिद्धान्त का संबंध है, हेगेल इसे संश्लेषण के रूप में, निषेध के निषेध के रूप में पेश करते हैं। लेकिन मूल प्रश्न त्रिक के परिकल्पनात्मक रूप द्वारा समाप्त नहीं हो जाता। हेगेल शुद्ध बुद्धि में निहित निषेध के द्वंद्ववाद

है, जिसका और आगे विकास द्वन्द्वात्मक निषेध के द्वारा ही सम्भव होता है।

इस प्रकार, एक ओर, हेगेल सज्ञान की तार्किक प्रक्रिया की आवश्यक रूप से अन्तर्विरोधी प्रकृति, इसके विकास को निषेध के निषेध के जरिये समझते हैं। लेकिन दूसरी ओर, वह इस वास्तविक ऐतिहासिक प्रक्रिया को रहस्यमय भी बनाते है, पहले, क्योंकि उन्होंने इसे प्रकृति तथा समाज के विकास के साथ गड्डमड्ड किया, दूसरे – जो बेशक बुद्धि के तात्त्विक बनने का परिणाम है – हेगेल सज्ञान के भौतिक रूप में निर्धारित विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया को शुद्ध बुद्धि की आत्म-गति के रूप मे पेश करते हैं। सज्ञान के विकास की हेगेलीय व्याख्या के इस मूल दोष के बारे में मार्क्स ने लिखा "शुद्ध बुद्धि की गति किस में निहित है? उसके द्वारा अपनी कल्पना करने में, स्वय अपना विरोध करने मे, स्वय अपने साथ मेल खाने में, स्थापना प्रतिस्थापना और सश्लेषण के रूप में अपने को सूत्रित करने में या पुन अपनी पुष्टि करने, अपना निषेध करने और अपने निषेध का निषेध करने मे" (1,6,164)। मार्क्स मनुष्य की अतिमानवीय रूप में, ऐतिहासिक की अधैतिहासिक रूप मे व्याख्या करने के हेगेल के प्रयास के दोष को प्रकट करते है, लेकिन साथ ही उन्होंने निषेध के द्वद्ववाद के असाधारण महत्त्व पर भी जोर दिया तथा हेगेल द्वारा अन्वेषित वस्तुगत यथार्थता के सज्ञान और विकास का सनियमन करने वाले इस नियम को प्रामाणिक रूप से सूत्रित किया। मार्क्स के अनुसार द्वद्ववाद मे "वस्तुओ की वर्तमान स्थिति की समझ तथा सकारात्मक स्वीकृति के साथ ही साथ इस स्थिति के निषेध और उसके अनिवार्य विनाश की स्वीकृति भी शामिल है क्योंकि द्वद्ववाद ऐतिहासिक दृष्टि से विकसित प्रत्येक सामाजिक रूप को सतत परिवर्तनशील मानता है और इसलिए उसके अस्थायी स्वरूप का उसके वर्तमान अस्तित्व से कम ध्यान नहीं रखता है " (5,1,29)। लेकिन सकारात्मक द्वद्वात्मक निषेध – सार के रूप, विकास के रूप – को द्वद्ववाद का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानते है (10,38,225-26)।

बेशक, अपनी प्रणाली के प्रत्ययवादी पूर्वाधारो की वजह से हेगेल सज्ञान के ऐतिहासिक विकास की वास्तविक प्रेरक शक्तियो, सामाजिक-

जिन पर उनके पूर्ववर्तियों ने बेकार माथापच्ची की थी, बल्कि वस्तुत उनकी उपलब्धियों की पूर्ति करने में माना। यह सही है कि हेगेल का संपूर्ण दर्शन एक निश्चित अर्थ में पूर्व-हेगेलीय दर्शन का परिणाम है उन्होंने इसे एक प्रणाली में संगठित किया। अनुक्रम की द्वंद्वात्मक व्याख्या पर जोर दर्शन के इतिहास की हेगेलीय धारणा की मुख्य विशेषता है।

बेशक, परम ज्ञान की, जो हेगेल के अनुसार, दर्शन के इतिहास की प्रक्रिया को पूरा करता है, व्याख्या इस अर्थ में नहीं की जानी चाहिए कि मानो दार्शनिक के दृष्टिकोण से एक ऐसी अवस्था प्राप्त कर ली गयी है, जहां सभी चीजें ज्ञात हो चुकी हैं और गणितज्ञों, भौतिकवैज्ञानिकों तथा अन्य वैज्ञानिकों के लिए करने के लिए कुछ नहीं रह गया है। हेगेल के विचार में, परम ज्ञान परम, केवल परम का बोध यानी बुद्धि द्वारा अपने सार का तथा इसके अलावा सभी अस्तित्वमान चीजों के सार के रूप में बोध है। इस प्रत्ययवादी निष्कर्ष का दोष स्पष्ट है, पर यह भी स्पष्ट है कि सज्ञान अपने विकास के दौरान अपनी उपलब्धियों का स्वभावत अतिक्रमण करते हुए स्थायी महत्व के नतीजे भी प्राप्त करता है (स्पष्टत किसी भी ज्ञान की सीमाओं की द्वंद्वात्मक सापेक्षता के भीतर ही)। हेगेल की प्रणाली में परम ज्ञान की धारणा ज्ञान के परिमाण का नहीं, बल्कि उसके विशिष्ट गुण का वर्णन करती है। बेशक, इसका अर्थ यह नहीं है कि परम की हेगेलीय धारणा द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के लिए मान्य है। परम ज्ञान की धारणा का दोष इस बात में भी है कि यह मुख्यत दर्शन यानी ज्ञान के ऐसे क्षेत्र से संबंध रखती है, जिसमें यह अपने अध्ययन के विषय के ढांचे में सीमित किसी विद्या-विशेष से कम लागू होती है। लेकिन हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि दर्शन परम का अध्ययन करता है, चाहे इस अर्थ में ही कि भूतद्रव्य की गति, परिवर्तन और विकास परम हैं।

सज्ञान के विकास के निश्चित परिणामों के शाश्वत मूल्य की समस्या और सज्ञान के द्वंद्वात्मक निषेध के सिद्धांत को एक-दूसरे के मुकाबले में नहीं रखा जा सकता। निषेध की द्वंद्वात्मक समझ का अर्थ है इसकी सापेक्षता की समझ। यह स्वयं निषेध के निषेध की पूर्वापेक्षा करती है, जो "जीवन, फलप्रद, सच्चे, शक्तिशाली, सर्वशक्तिमान,

त्तुगत, परम मानव मज्ञान" (10,38,363) की प्रक्रिया
ाता है। हेगेल के दर्शन के आलोचनात्मक विश्लेषण मे व्यव
ा यह विचार वैज्ञानिक मज्ञान के महत्वपूर्ण परिणामो क
मत्यता की द्वद्वात्मक-भौतिकवादी परिभाषा है। इसलिए
की हेगेलीय धारणा मे निहित मत्य के तत्व को निरपेक्ष
के मुकाबले मे रखा जाना चाहिए, जो आधुनिक बुर्जु
व्यापक रूप से फैला हुआ है और जो, उदाहरणार्थ,
की भाति, दावा करता है कि "विज्ञान मे हमारे पास
के लिए पर्याप्त आधार कभी नही होता कि हमने सत्य
प्लेटो तथा अरस्तू के शब्दो मे कहा जा सकता है कि
मे 'राय' पायी है। इसके अलावा, इसका अर्थ यह
मे हमारे पास कोई प्रमाण नही होता (बेशक गणित
को छोडकर)" (91,2,13)।

जिन बुर्जुआ क्रातियो मे नूतन की स्थापना और
वृति एक ऐतिहासिक प्रक्रिया की अभिन्न, पारस्परि
उन क्रातियो के युग के दर्शन के रूप मे हेगेल के
बुद्धि की असीमित शक्ति के बारे मे उसकी प्रस्था
मानव और दिव्य बुद्धि के बीच भेद, जिसके ब
वाद-विवाद करते हैं, अतिम विश्लेषण मे द्वद्वा
द्वारा मात्र तादात्म्य के अदर विद्यमान विभिन्नता
मानवीय मे कार्यान्वित होता है, क्योकि परम
अवैयक्तिक, पुजीभूत बुद्धि उसके असीमित रूप
मज्ञान के अलावा और कुछ नही है, जो अ
बदल देता है, इस बुद्धिगत का अपनी बा
... अतिक्रमण किया जाता है। ...
... कि "

[illegible] है। [illegible]
[illegible]
[illegible] है।

हेगेल के इस विश्वास को कि 'बुद्धि [illegible]
है और [illegible]
करती है (8, 1, 28)। बुद्धि की [illegible]
[illegible] शक्ति, विकास के [illegible]
[illegible] के अनुसार [illegible] और विरोध के [illegible]
है। इस प्रकार [illegible] प्रतीत होता है कि [illegible]
में हेगेल की प्रणाली की [illegible] इस चीज में देखी कि "[illegible]
समस्त प्राकृतिक, ऐतिहासिक एवं बौद्धिक जगत् का एक प्रक्रिया
रूप में अर्थात् निरन्तर गति, परिवर्तन, रूपान्तरण और विकास
निरूपण किया और इस गति और विकास के आन्तरिक सम्बन्ध को खोज
की चेष्टा की। इस दृष्टिकोण से मानवजाति का इतिहास ऐसे बुद्धि
हीन हिंसात्मक कार्यों का एक भयंकर जमघट नहीं प्रतीत हो
था जो परिपक्व दार्शनिक बुद्धि के न्यायालय में समान रूप से निन्दनी
थे और जिनको यथाशीघ्र भूल जाना ही उचित लगता था, इस
विपरीत, इतिहास स्वयं मानवजाति के विकास की प्रक्रिया प्रती
होने लगा था। अब बुद्धि का काम यह था कि यह प्रक्रिया जिन तम
टेढ़े-मेढ़े रास्तों से गुजरती है, उनका पता लगाये, इस क्रमिक विक
की विभिन्न अवस्थाओं का अध्ययन करे और ऊपर से आकस्मिक प्रती
होने वाली इसकी समस्त परिघटनाओं में अन्तर्निहित नियमितता
खोजकर निकाले" (8,34)। बुद्धि की शक्ति के बारे में हेगेल
सिद्धांत की बुद्धिसंगत अन्तर्वस्तु की यह मार्क्सवादी भौतिकवादी व्याख
उनके इस सिद्धान्त के धर्मशास्त्र-विरोधी पहलुओं को अधिक गह
से समझना संभव बनाती है।

यथार्थ की बुद्धिसंगतता और बुद्धिसंगत की यथार्थता के ब
में हेगेल की सुप्रसिद्ध स्थापना द्वारा जनित अनेकानेक भ्रमों और ग़ल
फहमियों (इसकी निराधार व्याख्या की तो बात ही जाने दें) के ब
में हम सभी जानते हैं। लेकिन यदि हम हेगेल द्वारा किये गये वास्त
तथा सिर्फ अस्तित्वमान चीजों के बीच मौलिक भेद को ध्यान में र

मे भी गौण स्थान है, 'तर्कशास्त्र' या 'इतिहास का दर्शन' की तो बात ही क्या है" (30,149-50)।

१७वी सदी के तर्कबुद्धिवादियो और १८वी सदी के प्रबोधन के बुर्जुआ दार्शनिकों के विपरीत बुद्धि मे हेगेल का अनालोचनात्मक विश्वास नही था। बुद्धि की उनकी द्वन्द्वात्मक समझ मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण चीज – विकास, अतर्विरोध और निषेध का सिद्धात – बुद्धि की सकारात्मक आलोचना है, जो काट की आलोचना से इस अर्थ मे भिन्न है (बेशक अगर बुद्धिसगत तत्व को ध्यान मे रखा जाये) कि यह ज्ञान की अवश्यभाविता, जो परिघटनाओ के समार तक ही सीमित नहीं है, और विश्व के बुद्धिसगत रूपातरण की पुष्टि करती है। वस्तुत यही कारण है कि बुद्धि की शक्ति के बारे मे हेगेल के सिद्धात ने मार्क्सवादी प्रणाली मे अपना वैज्ञानिक-दार्शनिक विकास पाया।

हेगेल के दर्शन का सामाजिक अर्थ

हेगेल को उनके मेधावी पूर्ववर्ती हेराक्लिटस की भांति अक्सर "धुधला" दार्शनिक कहा जाता है। यह समझ मे आनेवाली बात है। लेकिन इस मामले मे हम इस "धुधलेपन" के कारणो के बारे मे प्रश्न को टाल नही सकते, जिसे स्पष्टत उनके सिद्धात की व्याख्या की जटिलता या अपर्याप्तता मे नही बदला जाना चाहिए। हेगेल की भाषा कठिन है इसका अध्ययन किया जाना चाहिए और इसे समझने मे समय लगता है। फिर भी, यह विशिष्ट भाषा बहुत अभिव्यजक तथा उनके विचार के सभी सूक्ष्म अर्थभेदो को सप्रेषित करने के लिए बहुत अच्छी है।

हेगेल ने एक बार हालैड के वान गेर्त को लिखा कि उनकी भाषा की दुर्बोधता का कारण उस दार्शनिक अतर्वस्तु की जटिलता, अमूर्तता और परिकल्पनात्मक स्वरूप है, जो दर्शन मे अनिपुण लोगो के लिए अबोधगम्य प्रतीत होती है। लेकिन हेगेल का दर्शन केवल नौसिखियो के लिए ही "धुधला" नही है। अत यह "धुधलापन" सतही नही, बल्कि ठोस और अर्थपूर्ण है। कुछ विशेषज्ञ हेगेलीय दर्शन की इस कमी का कारण उसके द्वद्ववाद की जटिलता बताते हैं, जो प्राय सहजबुद्धि का विरोधी है। यह स्पष्टीकरण सगत और अपर्याप्त दोनो ही है क्योकि हेगेलीय द्वद्ववाद की सही अतर्वस्तु की समझ पा लेने वाले लोग के लिए यह अत्यत तर्कसगत तथा अत सज्ञानकारी चितन की पहु के भीतर है।

हेगेल का दर्शन केवल शौकिया लोगो के लिए ही नही, ब दर्शन के विशेषज्ञो के लिए भी "धुधला" है। एक और महत्व बात यह है कि हेगेल के दर्शन मे "अतिसूक्ष्म" परिकल्पनात्मक ही नही, बल्कि उसके सामाजिक-राजनीतिक तथा दार्शनिक-ऐतिह

अपने वर्ग शत्रुओं को कायम, सीमित और परिवर्तित करने की चेष्टा कर रहे थे। इसने उनकी, अगर ऐसा कहा जा सकता है तो, नैतिक विचारधारा को निर्धारित किया, जिसने सिद्धांतों ने बुर्जुआ विचारों को सामंती विश्व-दृष्टिकोण से मेल बैठाने में मार्गदर्शन किया। यदि हम यह याद करें कि पूंजीवाद के स्वतःस्फूर्त विकास के प्रभाव में सामंतों ने धीरे-धीरे बुर्जुआ अर्थव्यवस्था को अपना लिया, तो हम देखते हैं कि इस नैतिक विचारधारा ने केवल भ्रमों से ही नहीं, बल्कि तथ्यों के गंभीर आकलन से भी प्रेरणा प्राप्त की। ये प्रकटन हेगेल की कृतियों के अप्रच्छन्न और प्रच्छन्न अर्थ के यानी उन्होंने क्या कहा, उसे कैसे कहा और अंत में किस चीज पर मौन धारण किया—इस सब के कुछ महत्वपूर्ण कारण हैं। याद करें कि कांट ने भी, जिन्होंने सख्त नैतिक व्यवहार की शिक्षा दी, दिखाया कि कतिपय मामलों में मौन नैतिकता का खंडन नहीं करता।

हेगेल के 'विधि का दर्शन' पर यानी उस कृति पर दृष्टिपात करें, जिसे सामान्यतः उनके प्रतिक्रियावादी सामाजिक-राजनीतिक विचारों को सिद्ध करने के लिए उदाहरण के तौर पर पेश किया जाता है। हेगेल इसमें प्राचीन काल में कायम राज्य के रूपों का परम्परागत वर्गीकरण करते हैं और कहते हैं कि राजतंत्र, अभिजाततंत्र और जनवाद ने विगत में जो रूप ग्रहण किये वे राजकीय संगठन के एकांगी रूप हैं, जो "अपने भीतर स्वतंत्र आत्मगतता के सिद्धांत को नहीं बर्दाश्त कर सकते और विकसित बुद्धि से मेल नहीं खाते हैं" (64,8,360)। स्वतंत्र वस्तुगतता का सिद्धांत व्यक्ति के नागरिक अधिकारों की बुर्जुआ-जनवादी धारणा की परिकल्पनात्मक (और गूढ़) परिभाषा के अलावा और कुछ नहीं है।

"सामंती राजतंत्र" (हेगेलीय शब्दावली) के संबंध में वह घोषणा करते हैं कि "इस राजनीतिक प्रणाली में राज्य का जीवन विशेषाधिकारप्राप्त व्यक्तियों पर आधारित होता है, जिनकी मनमौजों पर राज्य के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए किये जाने वाले कार्यों का एक बड़ा हिस्सा निर्भर करता है" (64,8,359)।

हेगेल सामंती राजतंत्र की अर्थात निरंकुश राजनीतिक शासन की प्रणाली के मुकाबले में संवैधानिक राजतंत्र को रखते हैं, जिसे वह

लक्षण के अनुसार। शरीर का उच्चतम कार्य पुनर्जनन कार्य है। अ[illegible] राजा का उच्चतम संवैधानिक कार्य उसका पुनर्जनन कार्य है, क्योंकि इसके जरिये वह राजा को पुनरुत्पादित करता है" (1,3,40)। मार्क्स हेगेल के इस वक्तव्य पर व्यंग्यपूर्ण ढंग से टिप्पणी करते हैं, जो राजा के "उच्चतम" लक्ष्य का गंभीरतापूर्वक वर्णन करता है, हालांकि यह शाही विशेषाधिकार न तो विधायिका सत्ता न ही कार्यपालिका सत्ता से संबद्ध है।*

इस तरह हमने देखा कि हेगेल के सामाजिक-राजनीतिक सिद्धांतों में वास्तव में ऐसा काफी कुछ है, जो "धुंधला" है। इसलिए हमें उनके सामाजिक दर्शन की वास्तविक अन्तर्वस्तु को उनकी गूढ़ शब्दावली, प्रशियाई राज्य और सरकार के प्रति खुशामद, आदि से पृथक करना चाहिए। बेशक इस सबको भी हमें ध्यान में रखना चाहिए लेकिन केवल वहीं तक, जहां तक यह हेगेल के असली विचारों को व्यक्त करता हो।

आइये हम इस "धुंधली" समस्या की जांच सबसे पहले इस चीज से शुरू करें कि हेगेल संवैधानिक राजतंत्र की स्थापना को अपने समय का सर्वोत्तम राजनीतिक उद्देश्य मानते हैं। कुछ अध्येताओं के विचार में ठीक यही चीज ही उनके राजनीतिक विचारों के दकियानूसी

---

* यहां हम मार्क्स द्वारा *Deutsch-Französische Jahrbücher* में लिखे गए हेगेल के 'विधि का दर्शन' समग्र मूल्यांकन पर ध्यान दें[illegible] [illegible] "राज्य और विधि के जर्मन दर्शन की आलोचना ने, जिसे हेगेल ने [illegible] अपना अत्यधिक सुसंगत, अत्यधिक समृद्ध और अंतिम सूत्रबद्ध रूप दिया, आधुनिक राज्य तथा इससे संबद्ध [illegible] का आलोचनात्मक विश्लेषण था ही और जर्मन राजनीतिक तथा विधि[illegible] चेतना के अब तक अस्तित्वमान सभी रूपों का दृढ़ निषेध भी है जिनकी सबसे महत्वपूर्ण [illegible] विज्ञान के स्तर तक उठी अभिव्यक्ति [illegible] विधि का [illegible] दर्शन है'" (1,3,181)। [illegible]

'विधि का दर्शन' की सरसरी जांच से इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि हेगेल निरंकुशता के लिए ऐसे ही नये जनवादी आवरण की वकालत करते हैं। पर वास्तव में हेगेल इस दृष्टिकोण के विरुद्ध तर्क करते हैं, हालांकि वह इसे "धुंधला" अवश्य कर देते हैं। स्पष्ट है कि 'विधि का दर्शन' में हेगेल आत्मचेतना के विकास, समाज के सदस्यों की पहल के विकास, नागरिक अधिकारों और प्रातिनिधिक संस्थाओं के विकास की संविधान की मूल अन्तर्वस्तु के रूप में चर्चा करते हैं। नागरिकों के व्यक्तिगत उद्देश्य वैध उद्देश्य हैं और एक व्यक्ति के मनमाने कार्य (बेशक विधिक सीमाओं के भीतर) को भी आवश्यकता के रूप में देखा जाना चाहिए। ऐसा है हेगेल का दृष्टिकोण, जो "संवैधानिक राजतंत्र" पद के पहले शब्द पर ज़ोर देते हैं, जबकि दकियानूसी दूसरे शब्द पर ज़ोर देते हैं।

लेकिन संवैधानिक राजतन्त्र की हेगेलीय समझ का वास्तविक अर्थ उन कृतियों में सुनिश्चित और स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है, जिनमें विधि की समस्याओं का अध्ययन नहीं किया जाता। उदाहरणार्थ, सौंदर्यशास्त्र पर उनके व्याख्यानों के तीसरे अध्याय ('कला में सौंदर्य या आदर्श') में वह कहते हैं कि विगत में कलाकृतियों ने आम तौर से राजा और रानियों का चित्रण किया और आगे कहते हैं "पौराणिक काल के नायकों के विपरीत हमारे समय के राजा समष्टि का ऐसा कोई शिखर नहीं हैं, जो स्वयं में मूर्त हो, वे केवल उन संस्थाओं के अंदर कमोबेश मूर्त केन्द्र हैं, जो पहले ही स्वतन्त्र रूप से विकसित हो चुकी हैं और संविधान द्वारा पुष्ट की जा चुकी हैं। हमारे समय के राजाओं के हाथों से शासन के महत्वपूर्ण कार्य निकल गये हैं, वे अब विधिक निर्णय का प्रयोग नहीं करते; वित्त, नागरिक व्यवस्था और सुरक्षा अब उनके विशेष कार्य नहीं रह गये हैं, युद्ध तथा शांति विदेश नीति की सामान्य परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होते हैं, जिनका वे स्वयं निदेशन नहीं करते और जो उनके अधिकार में भी नहीं है। और यदि राज्य के इन सभी मामलों में अंतिम, सर्वोच्च निर्णय उनके अधिकार में है भी, तो भी समग्र रूप में इन निर्णयों की विशिष्ट अन्तर्वस्तु उनकी व्यक्तिगत इच्छा पर नहीं निर्भर करती, उन्हें निर्णय के लिए उनके समक्ष पेश किये जाने

उचित है। संवैधानिक राजतंत्र की हेगेलीय धारणा शाही सत्ता के सिद्धांत पर नहीं, बल्कि "नागरिक समाज" (bürgerliche Gesellschaft) के सिद्धांत पर केन्द्रित है। 'दर्शन के इतिहास पर व्याख्यान' में हेगेल प्लेटो के आदर्श राज्य के सिद्धांत का विश्लेषण करते हैं और नागरिकों के अधिकारों के बारे में अपना दृष्टिकोण पेश करते हैं। वह इंगित करते हैं कि प्लेटो का आदर्श विगत की ओर उन्मुख है, जबकि सामाजिक संगठन के एक तत्व के रूप में व्यक्ति की कोई आत्मगतता नहीं थी। हेगेल लिखते हैं: "प्लेटो ने व्यक्ति के ज्ञान, संकल्प, निर्णय को नहीं स्वीकार किया, उन्होंने अपने पैरों पर खड़ा होने के उसके अधिकार को नहीं स्वीकार किया और वह अपने विचार के साथ इस अधिकार का मेल बैठाने में असमर्थ थे। पर न्याय इसी तरह यह माग करता है कि इस सिद्धांत को भी उचित स्थान दिया जाये, जिस तरह यह माग करता है कि इसे सर्वोच्च में घुला-मिला दिया जाये, सार्विक के साथ इसका सामंजस्य बैठाया जाये। प्लेटो के सिद्धांत का विलोम व्यक्ति के सचेत स्वतंत्र संकल्प का सिद्धांत है, जिसे हाल के युग में विशेष रूप से रूसो द्वारा पेश किया गया। यह सिद्धांत कहता है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता वस्तुतः व्यक्ति की ही स्वतंत्रता के रूप में आवश्यक है, कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने को पूरे तौर पर व्यक्त करने में समर्थ होना चाहिए" (64,*14*,295)।

हेगेल प्लेटो के मुकाबले में बुर्जुआ क्रांतिकारी रूसो को पेश करते हैं, जिनके दृष्टिकोण को वह राजत्व के विचार के आवश्यक विकास, दार्शनिकों के मनमाने विचार से स्वतंत्र विकास की एक अभिव्यक्ति के रूप में मानते हैं। यह सही है कि हेगेल संदेह प्रकट करते हैं: रूसो में "यह विलोम सिद्धांत अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच जाता है और अपने पूर्ण एकांगीपन में प्रकट होता है" (64,*14*,295)। इस संदेह को क्रांतिकारी विचारों को छिपाने के प्रयास के रूप में नहीं पेश किया जाना चाहिए। हेगेल वास्तव में बहुत-सी चीज़ों पर रूसो के साथ मतभेद रखते हैं।

'इतिहास का दर्शन' में हेगेल संवैधानिक राजतंत्र की अपनी समझ को विकसित करते हैं और स्वामित्व की स्वतंत्रता तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता की माग को पहली पंक्ति में रखते हैं, उन्हें वस्तुगत (वास्त

) स्वतन्त्रता के महत्वपूर्ण घटकों के रूप में देखते हैं। इस "वस्तुगत (त्र)ता" यानी पूंजीवादी सामाजिक संबंधों की स्थापना की वजह "सामंती संबंधों में उत्पन्न होने वाली सभी अस्वतन्त्रता, सामंती (करों) दसमांश कर और भूमि-लगान से उत्पन्न होने वाले सभी निर्धारण समाप्त हो जाते हैं। इसके अलावा, वास्तविक स्वतन्त्रता के लिए ऐसा (पे)शे की स्वतन्त्रता आवश्यक है जिसका आशय यह है कि आदमी को अपनी इच्छानुसार अपनी योग्यताओं का उपयोग करने की अनुमति हो और सभी सरकारी पद उसकी पहुंच के भीतर हों। ऐसे हैं वास्तविक स्वतन्त्रता के घटक जो इंद्रियों पर नहीं निर्भर करते क्योंकि इंद्रियां भूदास-प्रथा और दासता दोनों ही के अस्तित्व को स्वीकार करती हैं बल्कि मानव के विचार और आत्म-चेतना पर निर्भर करते हैं, जिनका संबंध मानव के आत्मिक सार से है'। और आगे हेगेल ज़ोर देते हैं नागरिक को अपना काम करने में ही नहीं बल्कि इसमें लाभ प्राप्त करने में भी समर्थ होना चाहिए, आदमी को अपनी योग्यताओं को उपयोग करने में समर्थ होना ही काफी नहीं है बल्कि उसे उन्हें लागू करने में भी समर्थ होना चाहिए" (63,4,927)।

हेगेल सामंती विधि के मुकाबले में बुर्जुआ विधि को महत्व देते हैं, वह बुर्जुआ विधि को आदर्श रूप में प्रस्तुत करते हैं निजी स्वामित्व को "स्वामित्व की स्वतन्त्रता" के रूप में और भूदास-प्रथा के उन्मूलन (औपचारिक स्वतन्त्रता) को "व्यक्ति की स्वतन्त्रता" के रूप में परिभाषित किया जाता है। लेकिन बुर्जुआ रूपांतरणों (जो हेगेल के समय में वास्तविक तथ्य की अपेक्षा लुभावने परिप्रेक्ष्य थे) का यह आदर्शीकरण क्रांतिकारी बुर्जुआ विचारधारा के लिए अभिलाक्षणिक था। वे लोग, जिन्होंने बुर्जुआ क्रांतियों के युग में ऐसे रूपांतरणों को आदर्श रूप में नहीं प्रस्तुत किया, अधिकांशतः इनके सामंती विरोधी थे।

अंत में, सवैधानिक राजतंत्र के प्रश्न की जांच समाप्त करने के लिए हम कुछ उन विचारों की चर्चा कर सकते हैं, जिन्हें हेगेल ने अपने मित्रों को लिखे पत्रों में व्यक्त किया। नियाम्मेर को अपने एक पत्र में (हेगेल इस पत्र में व्यक्त विचारों के प्रति हमेशा वफादार रहे), वह ज़ोर देते हैं कि संविधान की समस्या शाही सत्ता के नियंत्रण तक

अध्ययन-विधि से संबंधित सामान्य विचार, जो दर्शन के इतिहास के अध्ययन के सिद्धांतों में से एक है, हेगेल पर विशेष रूप से लागू होता है क्योंकि उनका संपूर्ण दर्शन विधि तथा प्रणाली के बीच के विरोध से भरा हुआ है। इस दृष्टिकोण से कहा जा सकता है कि हेगेल के सिद्धांत की अंतर्वस्तु उसमें कहीं [illegible] रूप से सम्पन्न है जिसे वह समझते थे और जिसे उन्होंने प्रत्यक्ष व्यक्त किया।

हेगेल का दर्शन बुर्जुआ क्रांति की विचारधारा था। लेकिन व्यवहार रूप में हेगेल ने क्रांति का नहीं, सुधार—सामंती सामाजिक संबंधों के क्रमिक बुर्जुआ रूपांतरण—का समर्थन किया। अतः हेगेल द्वारा उनके क्रांति के सिद्धांत और इसकी हेगेलीय व्याख्या के बीच भेद करना आवश्यक है। यह काफी कठिन कार्य है क्योंकि हेगेल ने विकास के क्रांतिकारी सिद्धांत का निर्माण और इसकी सुधारवादी व्याख्या साथ साथ की।

है, जो नागरिक समाज के आधार को निर्धारित करता है। इस तरह राज्य को परम बनाना हेगेल के लिए अपनी प्रणाली की समस्त अंतर्वस्तु और संरचना द्वारा पुष्ट सिद्धांत है। किसी भी क्रांति के लिए मूल प्रश्न सत्ता का प्रश्न है, क्रांति एक प्रकार के राज्य को नष्ट करके इसके स्थान पर दूसरे, ऐतिहासिक रूप से अधिक प्रगतिशील राज्य की स्थापना करती है। हेगेलीय प्रणाली राज्य के क्रांतिकारी रूपांतरण की आवश्यकता को दार्शनिक ढंग से प्रमाणित नहीं करती। इसके विपरीत, यह प्रणाली राज्य के अंतर्वर्ती, स्वतःस्फूर्त विकास की पूर्व-कल्पना करती है। लेकिन अपनी प्रणाली के विपरीत (और अपनी विधि के पूर्णतः अनुरूप) हेगेल अपनी धारणा से मेल खाने राज्य को छद्मराज्य से पृथक् करते हैं, जिसे क्रांति नष्ट कर देती है। हेगेल कहते हैं "वास्तव में बुद्धिसंगत ढंग से विभाजित राज्य में सभी कानून और संस्थाएं अपने मूल निर्धारणों के अनुसार स्वतंत्रता के कार्यान्वयन के अलावा और कुछ नहीं है" *(64,10,128)*। लेकिन हर राज्य स्वतंत्रता का कार्यान्वयन नहीं है। उदाहरणार्थ, १७८९ की क्रांति की पूर्ववेला में फ्रांसीसी राज्य का वर्णन करते हुए हेगेल रोषपूर्वक चिल्लाते हैं: "यह कैसा राज्य था! मंत्रियों और उनकी वेश्याओं, बीवियों, नौकरों द्वारा सर्वथा निरंकुश शासन, छोटे तानाशाहों और निठल्लों की एक बहुत बड़ी तादाद ने राज्य की संपदा और जनता की मशक्कत की कमाई को लूटना अपना दैवी अधिकार मान लिया। निर्लज्जता और अन्याय अविश्वसनीय सीमा पर पहुंच गये थे; नैतिकता केवल संस्थाओं की नीचता के अनुरूप थी। हम नागरिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में और अंतःकरण तथा विचार के क्षेत्र में भी व्यक्तियों की अधिकारहीनता देखते हैं" *(64,15,516)*। फ्रांसीसी (और किसी भी मामली) राज्य की यह आलोचना दिखाती है कि हेगेल ने राज्य को परम बनाने से तब परहेज किया, जब उनके समक्ष पहले ही संपन्न हो चुकी बुर्जुआ क्रांति की आवश्यकता स्पष्ट करने का कार्य प्रस्तुत था। आवश्यक के सत्ता से अमूर्त प्रतियोग की भर्त्सना करते हुए हेगेल अक्सर इस प्रतियोग को मूर्त, ऐतिहासिक स्वरूप प्रदान कर देते थे।

अतः हेगेल के दर्शन की वस्तुगत सामाजिक अंतर्वस्तु और उनकी . . मनःस्थिति के बीच अंतर्विरोध बुर्जुआ क्रांतिकारी भावना

इन उत्साहपूर्ण शब्दों का अनुगमन गभीर गदेहों ने किया। लेकिन वे क्रांति के इस उच्च मूल्यांकन के महत्व को कम नही कर सके।

यह सही है कि हेगेल ने बुर्जुआ रूपातरण के क्रातिकारी मार्ग को सभी देशों के लिए अनिवार्य नहीं माना। लेकिन उन्होंने सीधे घोषित किया ('दर्शन के इतिहास पर व्याख्यान' मे) कि निश्चित परिस्थितियों के अन्तर्गत क्रांति अनिवार्य बन जाती है। हेगेल के अनुसार, जब जन-भावना यह महसूस करती है कि विद्यमान विधिक आधार अपनी आवश्यकता से वचित होकर बेड़िया बन गया है तब 'दो मे से एक विकल्प प्रकट होता है या तो जनता आतरिक हिंसात्मक विस्फोट के द्वारा इस अधिकार को नष्ट कर देती है, जो अब भी स्वीकार किये जाने की माग करता है या वह शातिपूर्वक और क्रमश उस कानून को बदल देती है, जिसे अब भी कानून माना जाता है, लेकिन जो अब नैतिकता का एक वास्तविक अखंड तत्व बिल्कुल नही रह जाता, बल्कि अब यह वह चीज है, जिसे जन-भावना ने पहले ही वशीभूत कर लिया है (64,*14*,276-77)। स्वभावत हेगेल सामती अधिसरचना के बुर्जुआ अधिसरचना मे शात और क्रमिक रूपातरण का समर्थन करते हैं। यह विचारधारात्मक प्रवृत्ति बुर्जुआ क्राति के विशिष्ट स्वरूप को प्रतिबिम्बित करती है, जो केवल तब शुरू होती है, जब पूजीवादी सरचना सामती प्रणाली के गर्भ मे उत्पन्न होती है। फिर भी, हेगेल इस चीज को भली भाति जानते हैं कि ऐसे शातिपूर्ण क्रमविकास के लिए शासकीय सामाजिक शक्तियों द्वारा नूतन का स्वागत करने की तत्परता आवश्यक है। "राज्य हिंसात्मक क्रातियों के बिना तब रूपातरित होता है, जब यह समझ सार्विक सपदा बन जाती है सस्थाए पके फल की भाति गिर पड़ती हैं, वे न मालूम कैसे लुप्त हो जाती है, इस अनिवार्य सत्य के सामने हर कोई नतमस्तक होता है कि इसका अधिकार खत्म होना ही चाहिए। परतु सरकार को यह मालूम होना चाहिए कि इसके लिए समय आ गया है। यदि सरकार सचाई से अनभिज्ञ रहकर अपने को अस्थायी सस्थाओ से जकड़ देती है, यदि, वह अपने सरक्षण मे महत्वपूर्ण के विरुद्ध कानून की शक्ति रखने वाले महत्वहीन को लेती है तो उसे इसी वजह से आगे बढ़ती हुई जन-भावना द्वारा बलपूर्वक उलट दिया जाता है" (64,*14*,277)।

बुर्जुआ क्रांति की विचारधारा नियमतः शासक सामंती शक्तियों के साथ समझौते का रुझान रखती है; इसका एक कारण यह है कि इस समझौते से सबसे पहले बुर्जुआ वर्ग को लाभ होता है। बुर्जुआ क्रांतिकारी भावना हमेशा सीमित, असंगत, अपूर्ण होती है, लेकिन वस्तुतः यही विशेषताएं शासक सामंती वर्गों के एक निश्चित हिस्से को बुर्जुआ वर्ग के पक्ष में कर लेती हैं। और हेगेल का दर्शन एक पिछड़े सामंती देश में बुर्जुआ संबंधों के उत्थान के युग में बुर्जुआ क्रांतिकारी भावना के सार को प्रामाणिक ढंग से व्यक्त करता है। यही चीज उनके दर्शन को युग-विशेष की सामाजिक चेतना बनाती है।

हेगेल के दर्शन का "धुंधलापन" मार्क्सवादी-लेनिनवादी विश्लेषण के प्रकाश में लुप्त हो जाता है। हेगेलीय सिद्धांत का सामाजिक अर्थ स्पष्ट हो जाता है। फिर क्या कारण है कि आधुनिक बुर्जुआ दार्शनिक उन्हें एक राजनीतिक प्रतिक्रियावादी सर्वसत्तात्मक राज्य के सिद्धांतकार के रूप में पेश करते हैं? इतिहास की विडंबना ऐसी है कि यह महान बुर्जुआ विचारक आज प्रतिक्रियावादी विचारधारा के विरुद्ध संघर्ष में प्रगतिशील सामाजिक शक्तियों का मित्र है।

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद

तथा व्यवहार की सार्विकता की हेगेलीय धारणा

> बहुत बढ़िया हेगेल धारणा और विषय के मेल के रूप में "विचार" पर, सत्य के रूप में विचार पर मनुष्य के व्यावहारिक, उद्देश्यपूर्ण कार्य के जरिये पहुंचते हैं। उस विचार के बहुत निकट कि मनुष्य अपने व्यवहार द्वारा अपने विचारों, धारणाओं, ज्ञान, विज्ञान की वस्तुगत सत्यता को सिद्ध करता है।
>
> ब्ला० इ० लेनिन

मार्क्सवादी दर्शन ने व्यवहार की विविधता, इसके ज्ञानमीमांसीय, सामाजिक-आर्थिक, सामाजिक-राजनीतिक, क्रांतिकारी कार्यों, इसके सार्विक महत्व और अर्थ को प्रकट किया है, जो भौतिक उत्पादन, सामाजिक रूपांतरणों, सज्ञान, कलात्मक कार्यों और सामान्यतः किसी भी मानव-कार्य में मूलतः भिन्न ढंग से व्यक्त होते हैं। व्यवहार का द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी सिद्धांत एक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में दर्शन के इतिहास समेत सज्ञान के संपूर्ण इतिहास के आलोचनात्मक सामान्यीकरण के रूप में अस्तित्व रखता और विकसित होता है। उल्लेखनीय है कि मार्क्सवाद के संस्थापकों ने सर्वोपरि दर्शन के इतिहास की अपनी कृतियों में व्यवहार के मार्क्सवादी दार्शनिक सिद्धांत की महत्वपूर्ण प्रस्थापनाएं पेश कीं। ये कृतियां हैं: मार्क्स की 'हेगेल के विधि-दर्शन में योगदान', एंगेल्स की 'लुडविग फायरबाख और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अंत' और लेनिन की 'भौतिकवाद और आलोचनात्मक अनुभववाद' तथा 'दार्शनिक टिप्पणियां'। इस संबंध में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है: पूर्वमार्क्सवादी दर्शन में व्यवहार की समस्या ने क्या भूमिका अदा की? मार्क्सवादी दर्शन प्रगतिशील पूर्ववर्तियों सहित अपने सभी पूर्ववर्तियों

रूप में भी करते हैं, अपनी अन्तर्वस्तु अपनी अन्यमना यानी अन्यमतामित जगत् में प्राप्त करना है। बाह्य पर यह निर्भरता सै प्रत्यय का परिसीमन है, अतः यह अभी सर्व-आवेष्टनकारी विश नहीं है, जो सभी अस्तित्वमान चीजों को जन्म देता है तथा अपनी मान्य अन्तर्वस्तु के रूप में निज में रखता है। इस परिसीन सैद्धान्तिक साधनों से काबू नहीं पाया जा सकता, सिद्धान्त को व में परिणत होना चाहिए। केवल इसी परिस्थिति में निज-रूप निज-निमित्त धारणा बनती है। यह अब केवल सज्ञान के रूप नहीं, बल्कि अस्तित्वमान सत्ता को परिवर्तित करने वाले कार्य के भी प्रकट होती है। एक व्यावहारिक प्रत्यय के रूप में धारणा अन्तर्वस्तु को वस्तुगत जगत् में पेश करती है और इसके ज़रिये व की "बाह्यता" पर, आत्मा से इसके अन्यसत्क्रामण पर काबू पा तथा बुद्धिसंगत आधार पर दुनिया का पुनर्निर्माण करती है।

लेकिन व्यावहारिक प्रत्यय भी सीमित है, क्योंकि यह सैद्धा प्रत्यय का उसके निषेध के रूप में विरोध करता है। हेगेल के अनुस उसमें "अब भी सैद्धान्तिक प्रत्यय के गुण का अभाव होता है" (64,5,3 अर्थात उद्देश्यों और उनके कार्यान्वयन के मार्ग की समझ तथा यथा के आलोचनात्मक मूल्यांकन का अभाव, जिसे यह परिवर्तित करना चाहे उसकी प्रकृति कुछ भी क्यों न हो। अपने विकास की इस अव में व्यावहारिक प्रत्यय यथार्थता को अभी भी प्रामाणिक रूप में न बल्कि किसी ऐसी चीज के रूप में समझता है, जो "स्वयं नगण्य और जिसे अपना सही निर्धारण तथा एकमात्र मूल्य अपने उद्देश्य रूप में सिर्फ शुभ के ज़रिये प्राप्त करना चाहिए" (64,5,324)

वस्तुगत यथार्थता के अपर्याप्त मूल्यांकन पर व्यावहारिक प्रत्यय व्यवहार के विकास द्वारा काबू पाया जाता है, क्योंकि व्यवहार सैद्धान्तिक ज्ञान को आत्मसात करता है, उसमें यथार्थता और इसके परिवर्त के नियमों के ज्ञान के रूप में पारगति प्राप्त करता है, तथा इस द्वारा समझता है कि सैद्धान्तिक प्रत्यय के प्रति इसका विरोध केव मात्र है। इसकी वजह से "एक ऐसा वस्तुगत संसार" उत्पन्न और कायम होता है, "जिसका आन्तरिक आधार और वास्तविक स्थिरता धारणा है। यही परम प्रत्यय है" (64,5,327)।

..

अपने प्रत्ययवादी स्वरूप के बावजूद हेगेल द्वारा विकसित व्यवहार की द्वंद्वात्मक धारणा में सामाजिक व्यवहार की वास्तविक अन्तर्वस्तु और अर्थ गहन रूप से विद्यमान है। अस्तित्वमान का व्यावहारिक परिवर्तन उसके ज्ञान के लिए मूल शर्त है। अतः *व्यवहार सज्ञान का आधार तथा उसके कार्यान्वयन का उच्चतम रूप है।* स्वभावतः हेगेल इन सत्यों को प्रत्ययवादी ढंग से प्रस्तुत करते हैं आत्मा केवल उसी चीज का सज्ञान करती है, *जिसका वह स्वयं निर्माण करती है।* पर चूंकि इस रचनात्मक आत्मा ने अभी आत्म-चेतना नहीं प्राप्त की है यह अपने द्वारा रूपान्तरित यथार्थता को अनात्मिक और अतः नगण्य मानती है। लेकिन यथार्थता कदापि नगण्य नहीं होती क्योंकि इसका सार आत्मिक होता है। व्यावहारिक प्रत्यय यथार्थता को अपने सृजन के रूप में समझते हुए उसके अपने निषेध को रद्द करता है। अपने इस रूप में अर्थात "परम प्रत्यय" के रूप में व्यावहारिक प्रत्यय सज्ञान से ऊपर है, क्योंकि यह "केवल सार्विक का ही नहीं, बल्कि पूर्णतः वास्तविक का भी महत्त्व रखता है"(10,*38*,213)। लेनिन ने हेगेल की इस प्रस्थापना का उच्च मूल्यांकन किया। 'तर्कशास्त्र' पर अपनी टिप्पणियों में वह सैद्धांतिक और व्यावहारिक प्रत्ययों के बारे में हेगेल की प्रस्थापनाओं का विश्लेषण करते हैं तथा उनके बुद्धिसंगत तत्त्वों को प्रकट करते हैं। '*हेगेल व्यवहार और सज्ञान की वस्तुगतता पर*' शीर्षक अपने अध्ययन के विषय को सूत्रित करते हुए लेनिन दिखाते हैं कि यह जर्मन प्रत्ययवादी व्यवहार की भूमिका की सही ज्ञानमीमांसीय समझ के कितने निकट हैं। लेनिन हेगेल की स्थापनाओं का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए और उन्हें भौतिकवादी ढंग से ठीक करते हुए लिखते हैं "सैद्धांतिक सज्ञान को विषय को इसकी आवश्यकता में, इसके बहुमुखी संबंधों में, इसकी अन्तर्विरोधी an und für sich* गति में प्रदान करना चाहिए। लेकिन मानव-विचारणा सज्ञान के इस वस्तुगत सत्य को 'निश्चित रूप से' केवल तभी पकड़ती और उसमें पारगत होती है, जब विचारणा व्यावहारिक अर्थ में 'सत्ता निज-निमित्त' बन जाती है। अर्थात *मनुष्य और मानवजाति का व्यवहार सज्ञान की*

---

*निज में और निज-निमित्त। – अनु०

[illegible] की कसौटी है। [illegible] हेगेल का विचार है
[illegible] (10,38,211)।

लेनिन [illegible] पर [illegible] टिप्पणियों में [illegible] के
इस [illegible] पर [illegible] है। ज्ञान के सिद्धांत में [illegible]
[illegible] में वह 'सिद्धांत और व्यवहार' के संबंध की हेगेली
का [illegible] विश्लेषण करते हैं। [illegible] को रेखांकित करते
लिखते हैं कि हेगेल न केवल व्यवहार से सिद्धांत के संबं
सिद्धांत से व्यवहार के संबंध को भी द्वन्द्वात्मक ढंग से समझते
हेगेल इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सिद्धांत से समृद्ध व्यव
विकास की प्रत्येक पृथक अवस्था में सृजनात्मक कार्य का
रूप बनता है। हेगेल की तार्किक प्रस्थापना का हवाला देते हु
लिखते हैं "व्यवहार (सैद्धांतिक) संज्ञान से उच्च है, क्यों
केवल सार्विकता का ही नहीं बल्कि प्रत्यक्ष यथार्थता का भी
रखता है" (10,38,213)।

जोर दिया जाना चाहिए कि लेनिन सारे और हर तरह के
की चर्चा नहीं करते। व्यवहार को इसके विकास में एक अव
दूसरी उच्चतर अवस्था में संक्रमण के रूप में देखा जाता है
ही, ज्ञान से व्यवहार का संबंध भी बदलता है, ज्ञान अपनी ब
विकसित होता है और सैद्धांतिक ज्ञान के स्तर पर पहुंचता है।
व्यावहारिक कार्य में बदल जाता है और इसके जरिये इसे एक
उच्चतर स्तर पर उठाता है। सिद्धांत के मार्गदर्शन में व्यवहार
को संशोधित करता समृद्ध तथा ठोस बनाता है। अपने विकसित
सैद्धांतिक संज्ञान से अटूट रूप से जुड़े व्यवहार में निहित प्रत्यक्ष यथ
और सार्विकता की एकता ही व्यवहार को सत्य की क
बनाती है। और वस्तुतः यही कारण है कि अध्ययन के परि
का सैद्धांतिक सत्यापन तथा व्यवहार द्वारा उनका परीक्षण
दूसरे को पूर्ण और समृद्ध बनाते हैं और सत्य तथा इसकी क
अर्थात विज्ञान और व्यवहार को निरपेक्ष मानने के लिए क
नहीं छोड़ते।

आधुनिक प्रत्ययवादी दार्शनिक सत्य की कसौटी के रूप में व्यव
की मार्क्सवादी समझ को अस्वीकार करते हैं और आत्मिक परिघ

के रूप में ज्ञान तथा भौतिक वस्तुओं से प्रत्यक्षतः जुड़े व्यावहारिक कार्य के बीच पारस्परिक विरोध की ओर इंगित करते हैं। आधुनिक बुर्जुआ दार्शनिकों के विपरीत हेगेल के लिए चिंतन, तर्क तथा व्यावहारिक कार्य के बीच यह अधिभूतवादी मुकाबला बिल्कुल पराया था। उनके सिद्धांत के अनुसार, व्यवहार एक ऐसी प्रक्रिया है, जो आत्मिक को भौतिक में तथा आत्मगत को वस्तुगत में बदलती है। लेनिन इस धारणा के बुद्धिसंगत तत्व को प्रकट करते हुए हेगेल की प्रत्ययवादी प्रस्थापना को असाधारण स्पष्टता से उद्घाटित करते हैं "हेगेल के लिए कार्य, व्यवहार एक तार्किक हेत्वनुमान', तर्क का आकार है। और यह सही है! बेशक इस अर्थ में नहीं कि तर्क का आकार मनुष्य के व्यवहार (=परम प्रत्ययवाद) में अपनी अन्यता रखता है, बल्कि इसके विपरीत, मनुष्य का व्यवहार अरबों बार पुनरावृत्त होकर तर्क के आकारों द्वारा उसकी चेतना में सुदृढ़ हो जाता है' (10,38,217)।

पूर्व-मार्क्सवादी भौतिकवाद ने प्रतिबिम्बन के ज्ञानमीमांसीय सिद्धांत को प्रमाणित करते हुए प्रत्ययवाद का प्रतिकार किया, लेकिन इसने सज्ञान के लिए लाक्षणिक तार्किक रूपों के साथ वस्तुगत यथार्थता के संबंध के प्रश्न को नहीं पेश किया। एंगेल्स ने इंगित किया कि अधिभूत-वादी भौतिकवाद ने "अपने को इस प्रमाण तक सीमित किया कि सम्पूर्ण चिंतन और ज्ञान की अंतर्वस्तु इंद्रिय-अनुभव से ही निर्गमित होनी चाहिए यह आधुनिक प्रत्ययवादी किंतु साथ ही द्वंद्वात्मक, खास तौर से हेगेल का दर्शन था, जिसने रूप के संबंध में भी इसका अध्ययन किया" (9,266)।

एक ओर, अधिभूतवादी भौतिकवाद का और दूसरी ओर, कांट के आत्मगतवाद का विरोध करते हुए हेगेल अपने प्रत्ययवाद के बावजूद वस्तुगत यथार्थता को व्यक्त करनेवाले रूपों के तौर पर तार्किक रूपों की सही समझ का पूर्वानुमान करते हैं, हालांकि उनकी व्याख्या सचमुच प्रत्ययवादी है। उनके विचार में, सभी चीजें निर्णय परिकल्पित निष्कर्ष हैं। इन प्रतीयमानतः निरर्थक दावों का हवाला देते हुए लेनिन कहते हैं "बहुत अच्छा! सर्वाधिक सामान्य तार्किक 'आकार' – (यह सब 'हेत्वनुमान के प्रथम आकार' से संबंधित पैराग्राफ में)

प्रत्यय, व्यावहारिक प्रत्यय, आदि बनता है। इसीलिए वह प्रत्यय को एक परम, एकल के रूप में मानते हैं, जो निश्चित प्रत्ययों को स्वत एकीकृत करता है। ये प्रत्यय अपने तार्किक विकास में द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र के प्रवर्गों की प्रणाली, तार्किक निर्धारणों और सत्ता के संज्ञान की प्रणाली बनाते हैं। हेगेल के ये विचार अधिक स्पष्ट हो जाते हैं यदि हम उन्हें प्लेटो द्वारा शुरू दार्शनिक परम्परा से जोड़ दें जिसकी शिक्षा के अनुसार प्रत्ययों का इंद्रियातीत जगत् इंद्रियगत ढंग से अनुभूत वस्तुओं के जगत् का स्रोत है। प्लेटो के विचार में, उतने ही प्रत्यय हैं, जितनी कि अलग-अलग वस्तुएं और उनमें निहित गुणात्मक निर्धारक लक्षण, इंद्रियगत ढंग से अनुभूत जगत् में अस्तित्वमान हर चीज का परलोक में एक निश्चित प्रत्यय है।

हेगेल ऐसे प्रत्ययों की अपरिमित विविधता को अस्वीकार करते हैं, जिनके परिमाण और गुण वस्तुत इंद्रियगत ढंग से अनुभूत वस्तुओं द्वारा निर्धारित किये जाते हैं। वह मात्र एक तार्किक आद्य प्रत्यय के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं जिसे "परम प्रत्यय' का नाम दिया जाता है और जो सत्ता तथा चिंतन की एकता चिंतन-सत्ता, विषयी-विषय है। इस तरह बुद्धि, चिंतन, संज्ञान व्यवहार यानी मनुष्य के मौलिक बौद्धिक गुण एक अतिमानवीय महत्व प्राप्त कर लेते हैं तथा इन्हें ब्रह्मांड के गुणात्मक निर्धारक लक्षणों, इसके अस्तित्व, गति और विकास के ढंग के रूप में देखा जाता है। हेगेल का सर्वबुद्धिवादी दृष्टिकोण मनुष्य के लक्षणों को मनुष्य से स्वतंत्र यथार्थता में बहिर्वेशित करता है, यह अत्यंत सूक्ष्म बुद्धिवादी मानवत्वारोपण है।

लेकिन बात यह है कि मूर्त रूप में अस्तित्वमान माने हुए मानवीय गुणों से संपन्न परम के इस कल्पनीय जगत् के साथ-साथ प्रकृति, समाज, इंद्रियानुभविक ढंग से प्रेक्षित मानव-जीवन का भी अस्तित्व है, जिसमें बुद्धि, चिंतन और संज्ञान न अपरिमित रूप से शक्तिशाली, न परम, न ही तार्किक हैं। स्पष्टत हेगेल उस परम के कालनिरपेक्ष जगत, जहां हर चीज को पहले ही जाना और सिद्ध किया जा चुका है, तथा काल और देश में अस्तित्वमान उस अपूर्ण मानव-यथार्थता के बीच अन्तर्विरोध से इन्कार नहीं कर सकते, जिसमें संज्ञान अधूरा होता है, जो गलतियों से स्वतंत्र नहीं होता और जहां व्यावहारिक

इस तरह, परम को अपनी वास्तविक सत्ता में सिद्ध किया जाता है, लेकिन यह अपनी अन्तर्वस्तु में भी निरपेक्ष सिद्ध होता है, जिसे हेगेल परम का एक अन्तर्वस्तुगत रूप मानते हैं। ऐसे हैं वस्तुगत प्रकृति, मनुष्य और समाज। यदि परम के क्षेत्र में व्यवहार का वर्णन एक ऐसी मध्यस्थ गति के रूप में किया जाता है, जो सत्ता और चिन्तन के विरोधों को उदात्त तादात्म्य में बदल देती है, तो वास्तविक मानव-जीवन में व्यावहारिक कार्य ऐंद्रिक स्वरूप धारण करता है और प्राकृतिक प्रेरणाओं, आकांक्षाओं, मनोभावों तथा रुचियों से अविच्छेद्य है। परन्तु परम प्रकृति, समाज, मानव-कार्य के बाहर अस्तित्व नहीं रखता। इसीलिए "परम प्रत्यय" और मानव इतिहास के बीच विरोध वैसे ही सापेक्ष है, जैसे कि सत्ता और चिन्तन की प्रतिस्थापना। अन्तर्गत बात ऐतिहासिक रूप में अनित्य सामाजिक गति में मानव की विशेषताओं को प्रकट करने, सापेक्ष को परम के निर्माण के रूप में और परम को विकासमान के रूप में समझने में निहित है।

हेगेल मानव-कार्य के रूप में व्यवहार का विश्लेषण व्यक्ति के लक्षणों से शुरू करते हैं, जिसकी चेतना प्रत्यक्षतः केवल ऐंद्रिकता के रूप में प्रकट होती है। हालांकि हेगेल मनुष्य की अनुभूतियों (इंद्रियों के क्षेत्र में वह मनुष्य को विषयी की अपेक्षा विषय के रूप में देखते हैं) की विशिष्टता को प्रकट नहीं करते, फिर भी वह ऐंद्रिकता के रूपों को मानव-व्यक्तित्व के निर्माण के रूपों के तौर पर देखते हैं। [illegible] का निम्नतम रूप—प्राकृतिक प्रेरणा—"अस्वतन्त्र, प्रत्यक्षत

तस्लित, कामना की निम्नतम योग्यता है जिसका अनुसरण करते हुए मनुष्य एक प्राकृतिक सत्ता के रूप में काम करता है (64,I,8,4)। लेकिन इच्छाएं भी वही आनेवाली प्राकृतिक प्रेरणाओं तथा अन्तर्वस्तु, उद्देश्य और अर्थ से भरी भावनाओं के बीच भेद करते हैं। मनुष्य के स्वतंत्र इंद्रियार्थ कार्य के संगठन में मनोवेगों का स्थान और भी ऊंचा है। हेगेल के विचार में, मनोवेग के बिना कोई भी महान कार्य संभव नहीं है। रुचि इंद्रियार्थ चाह का अत्यधिक विकसित और अर्थपूर्ण रूप है। इसे स्वार्थ से गड्डमड्ड नहीं करना चाहिए, जिसमें व्यक्ति अपने तात्विक आधार के प्रति सचेत नहीं होता। मानव-जीवन में रुचियों के महत्व का अतिमूल्यांकन करना कठिन है रुचि के बिना कुछ भी पूरा नहीं हो सकता। रुचियों का अस्तित्व विभिन्न प्रकारों – मनुष्य की ऐंद्रिक प्रकृति के लक्षणों – की पूर्वकल्पना करता है जो वैयक्तिकता के विशिष्ट लक्षण हैं।

संकल्प उच्चतम ऐंद्रिक-बौद्धिक योग्यता है। संकल्प प्रेरणाओं का "मूल्यांकन" करता है, यह कामना की उच्चतम योग्यता के रूप में इंद्रियार्थ प्रेरणाओं पर अपनी निर्भरता के बावजूद उनके ऊपर उठता है। इस "मूल्यांकन" का परिणाम चयन है। चूंकि चयन मानव-अस्तित्व की वैयक्तिकता द्वारा निर्धारित होता है, इसलिए यह अभी भी मनमाना है, लेकिन चूंकि संकल्प अपने को प्राकृतिक प्रेरणाओं से स्वतंत्र करते हुए बुद्धिसंगत, सार्विक रूप से महत्वपूर्ण अन्तर्वस्तु से पूरित करता है इसलिए चयन मनमानेपन पर काबू पा लेता है और अधिकाधिक प्रामाणिक ढंग से संकल्प के सार को व्यक्त करता यानी स्वतंत्रता बन जाता है। हेगेल के शब्दों में, "आत्मगत संकल्प केवल औपचारिक है जो यह नहीं बताता कि वह क्या चाहता है। केवल बुद्धिसंगत संकल्प ही वह सार्विक पूर्वाधार है, जो निजरूप में निर्धारित और विकसित होता है तथा अपने चरणों की व्याख्या संघटक अंगों के रूप में करता है" (64,I,144)। हेगेल के अनुसार, संकल्प वहीं तक स्वतंत्र है, जहां तक यह बुद्धिसंगत है अर्थात यह बुद्धिसंगत प्रेरणाओं द्वारा निर्धारित होता है, जो वैयक्तिकता के ऊपर उठते हुए सार्विक महत्व रखती हैं। लेकिन मनुष्य का बुद्धिसंगत सार कोई प्रत्यक्षत दी गयी चीज नहीं है यह निरंतर निर्माण की प्रक्रिया से गुजरता रहता है। व्यक्ति अपने

ते। यह प्रतिबध और इसमे सबद्ध गलतियों की जड प्रत्ययवाद मे . जो भौतिक उत्पादन को सामाजिक जीवन के आधार के रूप मे मझना असभव बनाता है।

यदि शुरू मे हेगेल ने सकल्प को ऐंद्रिकता से उसके सबध मे ग्रा, तो आगे चलकर सकल्प की वस्तुगत, सार्विक अतर्वस्तु के निर्धारण सबध मे उन्होंने तात्विक बुद्धि से सकल्प के सबध को अपने विश्लेषण ा विषय बनाया। १७वी शताब्दी के तर्कबुद्धिवादियो ने सकल्प को द्धि के एक विशेष रूप मे परिभाषित किया था। उन्होने सकल्प के वरोध मे अनुभावो को रखा, ताकि बुद्धिमगत सकल्प की अपनी धारणा को प्रमाणित कर सके। लेकिन एक द्वद्ववादी के रूप मे हेगेल कल्प को अनुभावो से जोडते तथा उनके बीच भेद भी करते हुए स विरोध को सीमित करते हैं। अन्य मामलो की भाति यहा भी वह द्वात्मक तादात्म्य के अपने सुप्रसिद्ध सूत्र को लागू करते हैं। यह दृष्टि-गेण सकल्प की अमूर्त धारणा पर काबू पाने मे समर्थ बनाता है, गो तर्कबुद्धिवाद के लिए अभिलाक्षणिक है तथा काट के दर्शन में अपनी चरम अभिव्यक्ति पाती है। इद्रियगत कार्य के बहुविध रूपों का विश्लेषण हेगेल को व्यवहार की मौलिक महत्व की समस्या पेश करने मे समर्थ बनाता है, भले ही यह प्रत्ययवादी ढाचे मे क्यों न हो।

अत हेगेल के सिद्धात के अनुसार आत्मा एक ओर ज्ञान के रूप मे और दूसरी ओर, सकल्प के, बाहर को निर्दिष्ट कार्य के रूप मे अस्तित्व रखती है। "सकल्प अब भी आत्मगतता के रूप को धारण किये हुए ही अपनी आतरिक अतर्वस्तु को वस्तुगत बनाने की कोशिश करता है"(64,7,359-60)। सज्ञान सज्ञान के ऐसे विषय की विद्यमानता की पूर्वकल्पता करता है, जो विषयी के लिए बाह्य होता है। सज्ञानात्मक क्रिया तथा इसके विषय के बीच विरोध की मध्यस्थता की जानी चाहिए, अन्यथा विषय सामान्यत सज्ञान का विषय नही हो सकता। आत्मिक और भौतिक की एकता के रूप मे केवल व्यवहार ही इस तरह का मध्यस्थ हो सकता है।

यदि सज्ञान बाह्य यथार्थता का आतरीकरण है, तो व्यवहार पूर्ववर्ती सज्ञान के जरिये प्राप्त चेतना की आतरिक अतर्वस्तु का बाह्यीकरण है। अपनी द्वद्वात्मक सापेक्षता की वजह से आतरिक और बाह्य का

"हेगेल और ऐतिहासिक भौतिकवाद" को निरूपित करते हुए लेनिन ने ऐसे अध्ययन की मूल दिशा को इंगित करनेवाली एक स्थापना पेश की: "हेगेल में भ्रूणावस्था में विद्यमान मेधावी विचार-बीजों के एक अनुप्रयोग और विकास के रूप में ऐतिहासिक भौतिकवाद" (10,38,190)।

स्वभावतः निम्नलिखित प्रश्न उठता है: इस चीज को कैसे स्पष्ट किया जाये कि श्रम-कार्य की भूमिका को गहन रूप से समझने के बाद हेगेल उत्पादन को सामाजिक जीवन के निर्धारक आधार के रूप में स्वीकार करने से इतने दूर हैं? उत्तर केवल आत्मिक, बौद्धिक कार्य के रूप में श्रम की हेगेलीय समझ में निहित है। इसका अर्थ यह है कि हेगेल भौतिक उत्पादन को आत्मिक उत्पादन में बदल देते हैं, भौतिक उत्पादन को आत्मिक उत्पादन से गड्डमड्ड कर देते हैं। हेगेलीय विश्वदृष्टि-कोण मानव-जीवन की सर्वोच्च आत्मिक अभिव्यक्तियों और मानव निर्मित "दूसरी प्रकृति" की विविधता के बीच आतरिक सबंध को देखने में असमर्थ है। अपने प्रत्ययवाद के कारण ही हेगेल शारीरिक श्रम की आधारभूत परिपक्वता तथा सामाजिक विकास के वस्तुगत आधार के विशिष्ट लक्षणों को प्रकट करने वाले तथ्यों को नहीं समझ पाये।

श्रम के सार की प्रत्ययवादी विकृति हेगेल के सर्वबुद्धिवाद के लिए विशिष्ट उस स्थापना से उत्पन्न होती है जो सत्ता, भौतिक को चिंतन, चेतना, आत्म-चेतना में रूपांतरित करती है। हेगेल के अनुसार मनुष्य आत्म-चेतना है। मनुष्य के दैहिक अस्तित्व को मानव-सार की "अन्य-सत्ता", अन्यसक्रामण के रूप में पेश किया जाता है। बेशक हेगेल मानव-कार्य के भौतिक उत्पादों तथा इस चीज को स्वीकार करते हैं कि वे लोगों की आवश्यकताओं को सतुष्ट करने के लिए आवश्यक हैं। लेकिन वह दावा करते हैं कि भौतिक आत्मिक की उपज, उसकी अन्यसत्ता, अस्तित्व का अन्यसक्रामित रूप है।

यह धारणा हेगेल की 'आत्मा की फ़िनोमेनोलॉजी' में अपनी पूर्णतम अभिव्यक्ति पाती है। मार्क्स अपनी १८४४ की आर्थिक और दार्शनिक पाडुलिपियां' में इसकी आलोचना करते हैं: "चूंकि विषयी अपने में वास्तविक मनुष्य नहीं है, अतः प्रकृति भी नहीं है – क्योंकि मनुष्य मानव-प्रकृति है – बल्कि केवल मनुष्य का अमूर्तीकरण, आत्म

चेतना होता है, इसलिए वस्तुत्व अन्यसत्तामिन आत्म-चेतना के अलावा और कुछ नहीं हो सकता" (*1,3,335*)। वस्तुओं के संसार से मानव-चेतना के संबंध के इस प्रत्ययवादी रहस्यमयीकरण का विरोध करते हुए मार्क्स स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य की आवश्यकताओं और भूखों की वस्तुएं "उसके बाहर, उससे स्वतंत्र वस्तुओं के रूप में अस्तित्व रखती हैं, फिर भी ये वस्तुएं मूलतः उसकी आवश्यकता की वस्तुएं हैं, ये उसकी तात्विक शक्तियों की अभिव्यक्ति तथा पुष्टि के लिए आवश्यक, अनिवार्य वस्तुएं हैं" (*1,3,336*)।

मार्क्स अपने को वस्तुओं के संसार से कार्य के संबंध की हेगेलीय समझ की आलोचना करने तक ही सीमित नहीं करते। वह प्रत्ययवादी द्वंद्ववाद के मुकाबले में आवश्यकताओं, क्षमताओं, भूखों तथा उन वस्तुओं के बीच अटूट संबंध की द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी समझ पेश करते हैं, जिनके द्वारा उन्हें पूरा किया जाता है। उदाहरणार्थ, देखने की क्षमता सूर्य के अस्तित्व की पूर्वकल्पना करती है; इस क्षमता का आविर्भाव और विकास जैव जीवन के विकास पर सूर्य के प्रभाव का परिणाम है। इसके अलावा, स्वयं जीवन का अस्तित्व परिस्थितियों की निश्चित विविधता की पूर्वापेक्षा करता है। इसका अर्थ यह है कि एक ओर, जीवित सत्ताओं और उनकी "जीवन-शक्तियों" तथा दूसरी ओर, उनकी जीवन-परिस्थितियां बनानेवाली वस्तुओं की विविधता के बीच आंतरिक न कि बाह्य संबंध है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है, जैसा कि हेगेल ने समझा, कि वस्तुएं जीवित सत्ताओं में अंतर्निहित क्षमताओं का परिणाम हैं, कि वे आत्मिक क्षमता का वस्तुकरण हैं, आदि। वस्तुओं के संसार की विविधता और मानव-निर्मित "दूसरी प्रकृति" के साथ जीवित सत्ताओं, मानव-जीवन तथा उसकी सर्वोच्च आत्मिक अभिव्यक्तियों का यह आंतरिक संबंध प्रकृति, मनुष्य तथा समाज के विकास की उपज है। हेगेल का प्रत्ययवाद इस नियम को समझने में उनके आड़े आता है, क्योंकि प्रत्ययवादी द्वंद्ववाद विकास की वास्तविक प्रक्रिया को तोड़ना-मरोड़ना है।

मार्क्स के शब्दों में, हेगेल "केवल श्रम के सकारात्मक पहलू को देखते हैं, लेकिन नकारात्मक पहलू को नहीं" (*1,3,333*)। सकारात्मक पहलू यह है कि श्रम केवल मनुष्य के लिए आवश्यक चीजों का निर्माण

ही नहीं करता, बल्कि एक सक्रिय सत्ता, समाज के सदस्य आदि के रूप में स्वयं मनुष्य का भी निर्माण करता है। हेगेल के शब्दों में मनुष्य उत्पादन के क्षेत्र में "निज-निर्मित साध्य है और वह प्रकृति में किसी ऐसी चीज के रूप में संबद्ध रहता है, जो उसके अधीन हो और जिस पर वह अपने कार्यों की छाप छोड़ता हो" (63,2,449)। उत्पादन (उद्यम) की यह समझ गहन अन्तर्दृष्टि के बावजूद सर्वथा प्रत्ययवादिता से ग्रस्त है, जिसे मार्क्स ने बार-बार इंगित किया। यह दावा करते हुए कि उत्पादन में "मनुष्य निज-निर्मित साध्य है", हेगेल स्पष्टतः इस तथ्य की उपेक्षा करते हैं कि उत्पादन ने युग-युगों से मनुष्य का शोषण किया है और उत्पादक उत्पादनार्थ पूंजीवादी उद्यम में सबसे कम "निज-निर्मित साध्य" है।

बेशक, हेगेल दास-प्रथा और भूदास-प्रथा के अस्तित्व या श्रम के पूंजीवादी शोषण को उत्पादन से, इसके विकास के ऐतिहासिक रूप से निश्चित स्तरों से नहीं जोड़ते। हेगेल की मेधावी अन्तर्दृष्टियों में, जो लेनिन के अनुसार ऐतिहासिक भौतिकवाद के अंकुर हैं, उत्पादन के सामाजिक संबंधों के अस्तित्व, उत्पादक शक्तियों के विकास के सामाजिक रूप के बारे में अन्तर्दृष्टि शामिल नहीं है। मार्क्स ज़ोर देते हैं कि हेगेल ने अपने समय के क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण को अपनाया, जिसने अपनी सभी वैज्ञानिक उपलब्धियों के बावजूद पूंजी को संचित श्रम से, मालों के उत्पादन को सामान्यतः वस्तुओं के उत्पादन से गड्डमड्ड किया यानी सामाजिक उत्पादन के पूंजीवादी रूप को शाश्वत बनाया और इसे मानव-प्रकृति से मेल खानेवाले एकमात्र बुद्धिसंगत रूप के तौर पर देखा।

"उत्पादन संबंधों" का प्रवर्ग ऐतिहासिक भौतिकवाद का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण प्रवर्ग है। पूंजीवादी उत्पादन संबंधों का वर्णन करते हुए और उनकी कार्य-प्रणाली का संनियमन करनेवाले नियमों की खोज करते हुए क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र ने इस प्रवर्ग पर ज़ोर नहीं दिया, क्योंकि इसने दास-प्रथा और सामंती संबंधों को उत्पादक शक्तियों के विकास के ऐतिहासिक रूप से निश्चित सामाजिक रूप के तौर पर नहीं, बल्कि अनुचित विधिक संस्थाओं के रूप में देखा, जिनके अस्तित्व को मालिकों की अमानवीयता और आर्थिक अयोग्यता

से [illegible] लिखते समय। हेगेल की मान्यताएं [illegible] पूर्वानुमान में [illegible] ने [illegible] [illegible] यह था कि [illegible] और [illegible] को [illegible] की 'अन्यसंक्रामण' के विषय में [illegible] रूप से [illegible] अपितु [illegible] के [illegible] देखा, जो केवल [illegible] ही यह स्पष्ट करती है कि [illegible] मनुष्य का [illegible] है।

मार्क्स हेगेल की श्रम की [illegible] समझ, उत्पादन के विक-म निहित अन्तर्विरोधों की उनकी उपेक्षा के मुकाबले में श्रम के अन्यसंक्रामण की धारणा रखते हैं जो निजी स्वामित्व के विकास, वर्ग विरोधों और शोषण पर प्रकाश डालती है। उत्पादन के विरोधी सम्बन्ध पहलुओं का उल्लेख करते हुए मार्क्स लिखते हैं "श्रम अन्यसंक्रामण के ज्ञान में या अन्यसंक्रामित अर्जित के रूप में मनुष्य का निज-निमित निर्माण है" (1,3,333)। अन्यसंक्रामित श्रम श्रम के उत्पाद और स्वयं उत्पादन-कार्य का अन्यसंक्रामण, दोनों का लोगों को शासित करने-वाली स्वतन्त्र सामाजिक शक्तियों में रूपांतरण है। अन्यसंक्रामित श्रम उत्पादन के विरोधी संबंध है जिनके अन्तर्गत मनुष्य मनुष्य को दास बनाता और उसका शोषण करता है। श्रम का अन्यसंक्रामण, जिसे हेगेल (और सभी बुर्जुआ विचारक) देखने में असमर्थ थे, वस्तुत इसमें निहित है कि "श्रम मजदूर के लिए कोई बाह्य चीज है अर्थात यह उसकी अन्तर्निहित प्रकृति से संबंध नहीं रखता है, इसलिए वह अपने श्रम में अपने को सकारता नहीं, बल्कि अपने को नकारता है, अपने को सुख नहीं, दुखी महसूस करता है, अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों को स्वतन्त्रतापूर्वक विकसित नहीं करता, बल्कि अपने शरीर को क्षीण करता और मानसिक शक्ति को नष्ट करता है। अत मजदूर केवल श्रम के बाहर ही अपने को सहज-स्वाभाविक महसूस करता है और श्रम की प्रक्रिया में अपने को अस्वाभाविक महसूस करता है। वह आराम का अनुभव तब करता है, जब वह काम नहीं कर रहा होता है, और जब वह काम कर रहा होता है, तब बेचैनी का अनुभव करता है यह एक आवश्यकता की संतुष्टि नहीं है: यह इसके लिए बाह्य सभी अन्य आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए केवल साधन है" (1,3,274)।

हेगेल द्वारा श्रम के नकारात्मक पहलू को न समझना सिद्ध करता

है कि न केवल प्रत्ययवाद, बल्कि सामान्यतः बुर्जुआ विश्व-दृष्टिकोण भी इतिहास की भौतिकवादी समझ और सार्विक मानव कार्य के रूप में व्यवहार की वैज्ञानिक दार्शनिक समझ को बिल्कुल असंभव बनाता है। अपने सबसे महत्त्वपूर्ण भौतिक रूप में यानी भौतिक उत्पादन के रूप में व्यवहार सारे सामाजिक जीवन का निर्धारित करनेवाला आधार है। शब्द के व्यापकतम अर्थ में व्यवहार संज्ञान की समग्र प्रक्रिया का सक्रिय आधार है। व्यवहार के विशिष्ट रूप – प्रयोग और सर्वेक्षण – सर्वेक्षण वैज्ञानिक अनुसंधान में प्रकट इसके रूप ज्ञान की सत्यता के मानदंड हैं। वैज्ञानिक संज्ञान के विकास में प्रबुद्ध और उससे समृद्ध व्यवहार संज्ञान का शिखर है।

कोई भी मानव कार्य, चाहे वह वैयक्तिक हो या सामूहिक, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से व्यवहार से जुड़ा होता है। *व्यवहार केवल प्रकृति का परिवर्तन ही नहीं, बल्कि सामाजिक संबंधों का भी परिवर्तन है।* औज़ार की सहायता से किया गया कोई भी कार्य, चाहे औज़ार आदमी के हाथ-पैर ही क्यों न हों, व्यावहारिक स्वरूप का होता है। व्यवहार और इसके सार्विक स्वरूप की यह समझ, बेशक द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद सहित प्रत्ययवादी दर्शन से लेशमात्र मेल नहीं खाती, बावजूद इसके कि दर्शन के इतिहास में पहली बार व्यवहार के सार्विक स्वरूप के प्रश्न को पेश करने का श्रेय द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद को है।

क्रांतिकारी व्यवहार की मार्क्सवादी धारणा प्रत्ययवाद से इसकी वर्गीय सीमितता की वजह से और भी अधिक मेल नहीं खाती। व्यवहार की अपनी समझ में बुर्जुआ विचारक आम तौर से मानव-जीवन को पुनरुत्पादित करने की आवश्यकता, मानव-जीवन के लिए अनिवार्य "बाह्य" आवश्यकताओं को संतुष्ट करने की आवश्यकता के बारे में इंद्रियानुभविक विचार से आगे बढ़ते हैं। हेगेल व्यवहार को अन्यसत्तामण पर काबू पाने से जोड़ने की कोशिश करते हैं, जो उनके सिद्धांत के अनुसार "नागरिक समाज" में निहित है। लेकिन हेगेल घोषणा करते हैं कि अन्यसत्तामण पर, जिसे वह अपनी अन्यसत्ता में आत्मा के सार्विक संबंध के रूप में मानते हैं, क़ाबू पाने का एकमात्र साधन अपने निरपेक्ष (हेगेल के अनुसार निरपेक्ष) रूपों–कला, धर्म और दर्शन–में ज्ञान है। [१८] प्रत्ययवाद ज्ञान को न कि व्यवहार को, जिसे हेगेल

अंतिम विश्लेषण में सज्ञान में बदल देते हैं, सार्विक कार्य मानता है और इसलिए इसे उन कार्यों और योग्यताओं का श्रेय देता है, जो इसकी अपनी विशेषताएं नहीं होतीं हैं।

हेगेल मजदूरों को दास बनानेवाले भौतिक सामाजिक संबंधों के *खिलाफ भौतिक शक्ति लागू करने की आवश्यकता के प्रति सचेत* क्रांतिकारी व्यवहार को शुद्ध आत्मिक कार्य में स्थान प्रदान करते है। इसका अर्थ यह है कि हेगेल का अन्यसंक्रामण पर काबू पाने का तरीका व्यावहारिक नहीं, बल्कि सैद्धांतिक और कल्पनात्मक भी है। अन्यसंक्रामण को यों स्थानच्युत करना, मार्क्स के शब्दों में, 'विचार में उसे स्थानच्युत करना है, जो यथार्थ जगत् में अपने विषय को अस्तित्वमान छोड़ देता है" *(1,3,341)* । मार्क्स अन्यसंक्रामण के इस काल्पनिक निषेध के मुकाबले में उसका क्रांतिकारी व्यावहारिक निषेध रखते हैं, जो वास्तव में अपना उद्देश्य प्राप्त करता है। सुप्रसिद्ध *'फायरबाख पर स्थापनाएं'* में मार्क्स लिखते हैं "परिस्थितियों के परिवर्तन और मानव-कार्य के मेल को केवल क्रांतिकारी व्यवहार के रूप में ही देखा और बुद्धिसंगत ढंग से समझा जा सकता है *(1,5,4)* ।

जैसा कि इसके बारे में पहले चर्चा की जा चुकी है हेगेल का सिद्धांत सैद्धांतिक प्रत्यय को व्यावहारिक प्रत्यय में बदल देता है। इस प्रक्रिया के ढांचे में, जो अपने शुद्ध तार्किक रूप में (तर्कशास्त्र) परम प्रत्यय की स्व-गति है तथा अपने मूर्त ऐतिहासिक, कालसापेक्ष अन्यसत्ता में मानवजाति का इतिहास है, हेगेल व्यवहार से दर्शन का सामंजस्य बैठाने के बारे में प्रश्न पेश करते हैं। इस सामंजस्य को दर्शन के कार्यान्वयन के रूप में समझा जाता है। एक ओर, दर्शन दिव्य "परम प्रत्यय" की कालनिरपेक्ष आत्म-चेतना है और दूसरी ओर, यह आत्म-चेतन "परम आत्मा" अर्थात् अपने समस्त ऐतिहासिक विकास में मानवजाति है। दर्शन को केवल इस उल्लिखित संबंध में ही कार्यान्वित किया जा सकता है और हेगेल इसे प्रत्यक्षतः महान फ्रांसीसी बुर्जुआ क्रांति से जोड़ते हैं। इसी संबंध में हेगेल दावा करते हैं: "आत्मिक की चेतना अब मूल आधार है और इसके ज़रिये दर्शन शासन करने लगा है। कहा गया कि फ्रांसीसी क्रांति दर्शन से उत्पन्न हुई और यह अकारण नहीं है कि दर्शन को विश्व बुद्धिमत्ता के नाम से

और निज-निमित्त सत्य है, बल्कि इसलिए भी सत्य है कि यह सामाजिकता मे जीवित बनता है" (63,*4*,924)।

लेकिन इस बात पर जोर दिया जाना चाहिए कि हेगेल के दृष्टिकोण से दर्शन के व्यवहार मे रूपातरण – ससार का बुद्धिसगत रूपातरण – ने फ्रासीसी क्राति मे अपनी यथेष्ट अभिव्यक्ति नही पायी। हेगेल उपर्युक्त शब्दो के आगे यह घोषणा करते हैं : "इस तरह, किसी को इस चीज का विरोध नही करना चाहिए कि क्राति ने अपना पहला आवेग दर्शन से पाया। लेकिन यह दर्शन केवल अमूर्त चितन, परम सत्य की अमूर्त समझ है और इसी मे विशाल अतर प्रकट होता है" (63,*4*,924) ।

हेगेल के तर्क के अनुसार, फ्रासीसी क्राति केवल प्रबोधन के दर्शन, वोल्तेयर, रूसो, दिदेरो, होलबाख, हेल्वेटियस, आदि के विचारो को ही कार्यान्वित कर सकी। अपने विचारो मे एक दूसरे से मूलत भिन्न होते हुए भी ये सभी विचारक सामतवाद के खिलाफ अपने सघर्ष मे एक थे। परतु इस सघर्ष को उचित ठहराते हुए हेगेल फ्रासीसी प्रबोधन की अलोचना करते हैं और इसकी व्याख्या समाज को बुद्धिसगत ढग से रूपातरित करने के कार्य की आत्मगत समझ के रूप मे करते हैं। हेगेल फ्रासीसी क्राति (और सामान्यत क्राति) को आत्मगत मानव-बुद्धि पर आधारित सामाजिक पुनर्निर्माण के रूप मे देखते है, जबकि वस्तुगत रूप से बुद्धिसगत, "परम प्रत्यय", जिसकी सत्ता का सामाजिक रूप "परम आत्मा" है, विश्व ऐतिहासिक प्रक्रिया की निर्धारक अतर्वस्तु है। हेगेल के अनुसार, "परम आत्मा" की सिद्धि के उच्चतम रूप क्रातिया नही, बल्कि राज्य ("वस्तुगत आत्मा") तथा सामाजिक चेतना के रूप – कला, धर्म और दर्शन – हैं, जिन्हें वह परम की समझ के रूपो के तौर पर देखते हैं और इसलिए "परम ज्ञान" के रूप मे परिभाषित करते हैं।

कोई भी क्राति विद्यमान राजकीय सत्ता के खिलाफ सघर्ष करती है। हेगेल फ्रासीसी क्राति और इसके सिद्धातकारो को उचित ठहराते हैं, लेकिन वह क्रातियो को समाज के बुद्धिसगत पुनर्निर्माण का आवश्यक, वस्तुगत रूप से अनिवार्य रूप नही मानते, क्योकि वह सामाजिक सबधो

वास्तविक और अतः सज्ञानात्मक कार्य से स्वतंत्र रूप से अस्तित्वमान माना जाना चाहिए।

सज्ञान एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है और इसकी व्याख्या तथा सामान्यीकरण द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी ज्ञानमीमांसा का मुख्य कार्य है। इस दृष्टिकोण से ज्ञानमीमांसा संसार की उन परिघटनाओं और नियमों का सिद्धांत भी है, जो सज्ञान के ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में प्रकट होते हैं। ज्ञानमीमांसीय प्रवर्ग अनिवार्यतः केवल सज्ञानात्मक कार्य (और सामान्यतः मानव-कार्य) से ही नहीं, बल्कि मानव से स्वतंत्र यथार्थता से भी संबंध रखते हैं। दूसरे शब्दों में सज्ञान के विषय का वर्णन करनेवाले प्रवर्ग भी ज्ञानमीमांसा के अंग हैं।

तर्कशास्त्र (द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र) सिर्फ़ मानव-चिंतन के आत्मगत रूपों और नियमों का विज्ञान नहीं है। इसके विषय को उस चीज़ से अलग नहीं किया जा सकता, जिसका तार्किक रूपों में सज्ञान किया जाता है और तार्किक रूपों को उनकी सारवान अंतर्वस्तु से उदासीन नहीं माना जा सकता।

हेगेल उन लोगों की दृढ़तापूर्वक आलोचना करते हैं, जिन्होंने तार्किक रूपों को केवल चिंतन के आकारगत कार्यों के रूप में देखा तथा अपने को इन कार्यों के वर्णन तक ही सीमित किया। बेशक, यह आलोचना केवल कांट पर ही नहीं (हालांकि यह उन पर सबसे अधिक लागू होती है), बल्कि उस सारे परंपरागत तर्कशास्त्र पर भी लागू होती है, जो अरस्तू के साथ शुरू हुआ। इस बात पर ज़ोर देते हुए कि चिंतन के रूपों का उनकी अंतर्वस्तु का ध्यान किये बिना वर्णन अरस्तू की महान उपलब्धि थी, हेगेल ने इन रूपों तथा उनकी तार्किक रूप से सामान्यीकृत अंतर्वस्तु की आगे जांच की मांग की। सबसे पहले यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि चिंतन के ये आकारगत कार्य कहां तक "स्वयं सत्य से मेल खाते हैं"। इस संबंध में लेनिन समस्या के प्रति हेगेल के दृष्टिकोण में प्रत्ययवादी अस्पष्टता, मौन और रहस्यवाद को दिखलाते हैं। लेकिन वह इस बात पर भी ज़ोर देते हैं कि हेगेल तार्किक रूपों को पदार्थ भूत के रूप में, चिंतन के इतिहास के सारसंक्षेप के रूप में समझने की कोशिश करते हैं। लेनिन के शब्दों में, "इस समझ में तर्कशास्त्र सज्ञान के सिद्धांत से

मेल खाता है। यह सामान्यत बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है" (10,38,175)

आम तौर से, हेगेल ने द्वद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा के मेल को अधिकांशत. द्वद्वात्मक तर्कशास्त्र की अपनी व्याख्या के सदर्भ मे देखा। स्पष्टत अधिभूतवादी बद दार्शनिक प्रणाली का निर्माण करते हुए, जो परम की पूर्ण समझ का दावा करती है, हेगेल ने स्वभावत यह सवाल नही उठाया कि विश्व और सज्ञान के दार्शनिक सिद्धात को, जो सज्ञान के जारी इतिहास का निष्कर्ष है, पूरा नही किया जा सकता। उन्होंने इद्रिय-अनुभव से अमूर्त सैद्धातिक चिनन मे सक्रमण के द्वद्ववाद की जाच करने मे भी कम ही दिलचस्पी ली। जैसा कि लेनिन ने लिखा, हेगेल ने इस द्वद्वात्मक, छलाग-जैसे सक्रमण को नही समझा। यह अनिवार्य था क्योंकि चिनन को, जिसकी हेगेल ने चीजो के सार के रूप मे व्याख्या की, विचारो, अनुध्यान, इद्रिय-अनुभूतियो का स्रोत बताया गया। हेगेल के अनुसार, "आत्मा के सभी रूपो मे-भावना, अनुध्यान और विचार मे-चिनन आधार बना रहता है" (64,7,111)।

बेशक द्वद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमासा के मेल की समस्या मे स्वय वस्तुगत यथार्थता के द्वद्वात्मक नियमो तथा ज्ञानमीमासा और तर्कशास्त्र मे उसके प्रतिबिबन के नियमो के बीच सबध की जाच भी शामिल है। लेकिन प्रकृति की भौतिकवादी व्याख्या और इसके सज्ञान के आधार पर स्वाभाविकत उठनेवाले इन प्रश्नो को हेगेल मुश्किल से ही पेश करते है। फिर भी, द्वद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमासा के मेल के प्रति उनका दृष्टिकोण पूर्व-मार्क्सवादी दर्शन की एक महत्तम उपलब्धि है।

हेगेल सत्ता और चिनन के तादात्म्य से आगे बढते है और इस तादात्म्य को वस्तुगत प्रत्ययवाद की भावना मे समझते है वह चिनन को (चूकि यह यथार्थता की सपूर्ण विविधता से सपन्न है) व्यक्ति मे निहित क्षमता के रूप मे उतना नही मानते जितना कि आद्यभूत, सभी अस्तित्वमान चीजो के आद्य सारतत्व के रूप मे, जो मनुष्य [illegible] इतिहास मे अपने विकास और आत्मचेतना के [illegible] पर पहुचता है। इस दृष्टिकोण से हर अस्तित्वमान चीज इस सर्वव्यापी अंतर्वर्ती चिनन (परम प्रत्यय) की अभिव्यक्ति है [illegible]

को प्रतिबिंबित करता है। भिन्न दिशा में अपने अध्ययन या अनुसरण करनेवाला दार्शनिक अध्ययन-विधि और ज्ञानमीमांसा की आकारवादी व्याख्या, वस्तुगत यथार्थता के मौलिक द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी सिद्धांत से सज्ञान के सिद्धांत के अलगाव का खतरा मोल लेगा" (22,100)।
हेगेल का सर्वबुद्धिवाद वस्तुगत यथार्थता को मानव-चेतना, सज्ञान में इसके प्रतिबिंबन से गड्डमड्ड करता है। लेकिन हेगेल बेशक इस चीज को समझते हैं कि इंद्रिय-अनुभूतियां अपने इर्द-गिर्द की बाह्य भौतिक वस्तुओं से मनुष्य को जोडनेवाली प्रत्यक्ष कड़ी है। इसी वजह से हेगेल ने इंद्रियानुभववाद का मूल्यांकन सज्ञान के एक आवश्यक तत्व के रूप में किया। किंतु वह इंद्रियानुभववाद और संवेदनवाद को सज्ञान की अधिभूत-वादी समझ से गड्डमड्ड करते हैं और बाह्य जगत् से मनुष्य के प्रत्यक्ष इंद्रियगत संबंध को एक ऐसा नकाब मानते हैं, जिसे हटा दिया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ, 'आत्मा की फेनोमेनोलॉजी' के शुरू में वह विषय से विषयी के इंद्रियगत संबंध का विश्लेषण करते हैं और कहते हैं कि विषयी के लिए विषय "इस बात का ध्यान किये बिना है कि यह ज्ञात है या अज्ञात, यह तब भी बना रहता है, जब यह अज्ञात होता है, लेकिन यदि विषय नहीं तो ज्ञान नहीं" (64,2,75)। लेकिन तथा-कथित इंद्रियगत सत्य के और आगे विश्लेषण को इस निष्कर्ष से पूरा किया जाता है कि इंद्रिय-अनुभूति का विषय कोई निश्चित चीज नहीं बल्कि इसके विपरीत, यह कोई अनिश्चित "यह" "यहां" "अब" है, जिसे किसी भी विषय और सबसे पहले विषयी के अस्तित्व पर लागू किया जा सकता है। "इसका सत्य" (इंद्रियगत प्रामाणिकता का सत्य–ले०) "मुझमे निहित वस्तु के रूप में वस्तु में (als meinem Gegenstande) है या वस्तु के मेरी होने के तथ्य में (im Meinem) है, वस्तु इसलिए है कि मैं इसे जानता हूं" (64,2,77)। इस तरह, चेतना से स्वतंत्र वस्तु के अस्तित्व को आभास के रूप में तथा भौतिकवादी संवेदनवाद को साधारण, दर्शन के लिए परायी चेतना के दृष्टिकोण के रूप में पेश किया जाता है।

भौतिकवादी संवेदनवाद से इन्कार करते हुए हेगेल ने प्रतिबिंबन के सिद्धांत को अस्वीकार किया। उन्होंने प्रतिबिंबन की धारणा को मुख्यतः सार के विभिन्न, परस्पर निर्धारक तत्वों के सहसंबंध का वर्णन

करने के लिए इस्तेमाल किया। इस प्रकार से हेगेल ने कहा कि स्वयं सत्य पूर्ण पूर्वनिर्धारण की सत्ता के रूप में मान लिया जाता है तब ऐसी सत्ता जो इसमें से गुजरती है और विकास पूरा करती है (64.6.220)।

पूर्वनिर्धारण की धारणा की इस तत्त्ववादी विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि हेगेल का दर्शन सत्ता को स्वयं वस्तुओं में उनके विकसित प्रक्रिया के रूप में देखता है कि यह भी प्रकृति, मनुष्य और समाज के विकास द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के रूप में सत्ता की वस्तुगत आवश्यकता के निर्विवाद सत्य की विवेचना है। अलबत्ता हेगेल के दृष्टिकोण से धारणाएं या विचार भौतिक वस्तुओं को नहीं प्रतिबिंबित करते इसके विपरीत भौतिक वस्तुएं धारणाओं का 'प्रतिबिंब' है। ठीक इसी वजह से हेगेल ने इस बाह्य सत्ता में केवल हमारा अपना ही दर्शन पाना, प्रकृति में आत्मा का स्वयं प्रतिबिंब देखने" की कोशिश की। उन्होंने सीधे दावा किया "प्रकृति के बिंब केवल धारणाओं के बिंब है, लेकिन बाह्य सत्ता के रूप में" (64,7,696,695)।

ये हेगेलीय सिद्धांत हेगेल के प्रत्ययवाद तथा प्लेटो के प्रत्ययवाद के बीच जिन्होंने भौतिक वस्तुओं को बाह्य विचारों और धारणाओं के फीके, अपूर्ण विकृत बिंबों के रूप में माना वैचारिक संबंध के बारे में लेनिन की टिप्पणी को स्पष्टत सिद्ध करते हैं।

भौतिकवादी संवेदनवाद प्रतिबिंबन के भौतिकवादी सिद्धांत के प्रति हेगेल के नकारात्मक रुख पर ध्यान देते हुए, जिसने स्पष्टतः द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा के मेल की समस्या के वैज्ञानिक समाधान को असंभव बना दिया, हमें हेगेल के दर्शन की वस्तुगत अन्तर्वस्तु और उसकी आत्मगत व्याख्या के बीच सुनिश्चित ढंग से भेद करना चाहिए। मुख्य बात यह है कि चिंतन के रूपों की द्वंद्वात्मक समझ के कारण हेगेल अपने पूर्ववर्तियों के मुकाबले में वस्तुगत यथार्थता से उनके वास्तविक संबंध की समझ के अधिक निकट पहुंच गये। सर्वोपरि, उन्होंने इस परंपरागत विश्वास को समाप्त कर दिया कि तर्कशास्त्र केवल चिंतन के आत्मगत रूपों का ही अध्ययन करता है। प्रागनुभविक और अन आत्मगत रूपों के तौर पर तार्किक रूपों की काट की व्याख्या का विरोध करते हुए हेगेल अनजाने ही वस्तुगत यथार्थता के प्रतिबिंबन के रूपों

के तौर पर तार्किक सबधो की सही समझ पर पहुच जाते है। इसका जीता-जागता उदाहरण उनका यह सिद्धात है कि सभी चीजे वर्कित निगमन है। सादृश्यानुमान द्वारा निगमन से आवश्यकता के निगमन मे हेगेलीय सक्रमण का उल्लेख करते हुए लेनिन लिखते हैं "हेगेल ने वस्तुत सिद्ध किया कि तार्किक रूप और नियम मात्र खाली खोल नही, बल्कि वस्तुगत जगत् का प्रतिबिंब है। ठीक-ठीक कहे तो उन्होने सिद्ध नही किया बल्कि मेधावी ढंग से अनुमान लगाया" (10,38,180)।

इस तरह, हालाकि हेगेल ने ज्ञानमीमासा मे प्रतिबिबन के भौतिकवादी सिद्धात को अस्वीकार किया, फिर भी वह अनजाने ही ऐसे निष्कर्षो पर पहुचे, जो चिंतन के रूपो तथा सत्ता के रूपो से उनके सबध के बारे मे कठिन प्रश्न सबधी इस सिद्धात को प्रमाणित और विकसित करते हैं।

काट के दर्शन मे विशेष स्पष्ट तार्किक रूपो की आत्मगतवादी आकारवादी व्याख्या का विरोध करते हुए हेगेल ने तार्किक रूपो को केवल निर्णयो, निगमनो, आदि तक ही सीमित नही किया। जैसा कि विदित है, हेगेल ने चिंतन के रूपो के प्रति व्यापक रुख अपनाया और उनकी परिधि मे ऐसी सभी अत्यधिक सामान्य धारणाओ और प्रवर्गो को शामिल किया, जो परिघटनाओ के बीच सामान्य और मौलिक सपर्को तथा सबधो को व्यक्त करते है। यही कारण है कि हेगेल ने अपने तर्कशास्त्र मे परिमाण, गुण, मानदड, सार, अतर्विरोध, आधार, परिघटना, आभास, कारणता, यथार्थता, आवश्यकता, स्वतत्रता, आदि धारणाओ को शामिल किया। लेकिन काट के विपरीत, जिनका इद्रियानीत विश्लेषण भी ऐसी धारणाओ का अध्ययन करता है, हेगेल ने इन सभी प्रवर्गो को मानव-चिंतन के आत्मगत रूपो के तौर पर नही, बल्कि स्वय वस्तुओ की परिभाषाओ के रूप मे देखा, जो मानव-सकल्प से स्वतत्र है। इसके अलावा, उन्होने अपने तर्कशास्त्र मे यात्रिक तथा रासायनिक प्रक्रियाओ, जीवन और उद्देश्यपूर्ण कार्य की धारणाओ को भी शामिल किया।

हेगेल ने अपना ध्येय सभी वैज्ञानिक प्रवर्गो के पारस्परिक सबधो और गति के विश्लेषण मे देखा, क्योकि तर्कशास्त्र को अपने विकास की समग्रता मे ज्ञान का विज्ञान होना चाहिए। लेनिन ने तर्कशास्त्र की

अवस्थाओं का, अज्ञान से ज्ञान मे, एक प्रकार के ज्ञान से दूसरे प्रकार के अधिक गहन ज्ञान मे सक्रमण का द्योतक है। इसका यह भी अर्थ है कि किसी भी ज्ञान को भिन्न, पूर्ववर्ती ज्ञान के सबध मे देखा जाना चाहिए, क्योकि विज्ञान के किसी भी विषय का सज्ञान अपने विकास का परिणाम भी है। यही बात प्रवर्गों पर भी लागू होती है, जो ऐतिहासिक रूप से विकासमान सज्ञान की तार्किक रूप मे सामान्यीकृत अतर्वस्तु हैं। परतु सज्ञान का इतिहास असीम है, अत सार्विकता के तार्किक रूपो के तौर पर प्रवर्गों को भी बदलना और विकसित होना चाहिए। विकास के सार्विकता के सिद्धात को निरपवाद रूप से दर्शन तथा विज्ञान के सभी प्रवर्गों पर लागू किया जाना चाहिए। लेनिन के शब्दो मे, "...अगर **सब कुछ** विकसित होता है तो क्या यह चितन की सर्वाधिक सामान्य **धारणाओं** और **प्रवर्गों** पर भी लागू नही होता? अगर नही, तो इसका अर्थ है कि चितन सत्ता से सबद्ध नही है। अगर हा, तो इसका अर्थ है कि धारणाओ तथा सज्ञान का वस्तुगत द्वद्ववाद विद्यमान है" (10,*38*,256)।

द्वद्वात्मक भौतिकवाद के प्रवर्गों सहित किन्ही भी प्रवर्गों को परम मानना अर्थात् उनके और आगे विकास तथा सामान्यीकरण की निरतर आवश्यकता की उपेक्षा करना – अतिम विश्लेषण मे द्वद्ववाद के स्थान पर चितन की अधिभूतवादी विधि का प्रतिस्थापन है। यहा तक कि भूगोल, खगोलविज्ञान और अन्य विज्ञानो की इद्रियानुभविक खोजे भी मूलत इन विज्ञानो के विकास के परिणाम हैं। यह विशेषकर इस या उस विज्ञान, खास तौर से दर्शन की मौलिक धारणाओ पर भी लागू होता है।

स्पष्टत, परमाणु और अणु की धारणा सर्वोपरि इन भौतिक कणो के वस्तुगत अस्तित्व की पूर्वकल्पना करती है, क्योकि यह धारणा परमाणुओ तथा अणुओ के अस्तित्व के वस्तुगत तथ्य को प्रतिबिबित करती है। लेकिन यह भी स्पष्ट है कि इस वस्तुगत तथ्य का वैज्ञानिक प्रतिबिबन निश्चित ज्ञान तथा अध्ययन की सबद्ध विधियो और साधनो के विकास के फलस्वरूप ही सभव हुआ है। इस दृष्टिकोण से परमाणुओ तथा अणुओ की आधुनिक वैज्ञानिक धारणा ज्ञान के इतिहास का समाहार प्रस्तुत करती है।

इगित करते हैं कि नियम की धारणा ऐतिहासिक रूप मे विकासमान सज्ञान की निश्चित अवस्था है, जो परिघटनाओ के सज्ञान और सामान्य वस्तुओ के तात्विक सबधो को सागोपाग रूप मे नही प्रकट करती। इसका अर्थ यह है कि कोई भी वैज्ञानिक नियम, उदाहरणार्थ भौतिकविज्ञान या रसायनविज्ञान का नियम, वस्तुगत, वास्तविक, मौलिक सबधो को प्रकट करता है। लेकिन यह उन्हे सापेक्षत, सज्ञान की विद्यमान वस्तुगत परिस्थितियो के अनुसार प्रकट करता है और अत यह वस्तुगत किंतु सापेक्ष सत्य है अर्थात् एक निश्चित अवस्था है, जिस पर ज्ञान पहुचता है और जिसका वह बाद में अनिवार्यत. अतिक्रमण करेगा। हेगेल के इस दावे के सबध मे कि "नियमो का राज्य अस्तित्वमान या उदीयमान जगत् का निश्चेष्ट प्रतिबिंबन है..." लेनिन निम्नलिखित विलक्षण ज्ञानमीमासीय निष्कर्ष पेश करते हैं: "नियम निश्चेष्ट को लेता है और अत नियम, हर नियम सकीर्ण, अपूर्ण, स्थूल अनुमान है" (10,*38*,151)। स्पष्टत. यह विज्ञान के सज्ञानात्मक महत्व को जरा भी कम नही करता।

लेनिन विज्ञान द्वारा निरूपित किसी भी नियम में निहित ज्ञान को परम बनाने के खिलाफ चेताते हैं। फिर भी हालाकि परिघटनाए नियमो से समृद्ध हैं, परिघटनाओ का सनियमन करनेवाले नियमो का सज्ञान उनके सार की समझ है।

'दार्शनिक नोटबुक' में अनेक स्थानो की भाति ही यहा लेनिन अपनी पहले की कृतियो मे प्रस्तुत स्थापनाओ को विकसित करते हैं। उदाहरणार्थ, उन्होने 'भौतिकवाद और आलोचनात्मक अनुभववाद' मे जोर दिया कि पूजीवादी समाज मे मालो के उत्पादन और विनिमय के दौरान करोड़ो निजी उत्पादक इस या उस तरीके से एक दूसरे के साथ अतर्क्रिया करते है और इसके जरिये सामाजिक सत्व को बदलते है। "पूजीवादी विश्व-अर्थव्यवस्था मे इसकी सभी शाखा-प्रशाखाओ मे इन परिवर्तनो का कुल योग ७० मार्क्सो की भी मानसिक पकड मे नही आ सकता था। सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि इन परिवर्तनो के नियम खोजे गये है, कि मुख्य बातो मे इन परिवर्तनो और इनके ऐतिहासिक विकास के वस्तुगत तर्क को प्रकट किया गया है " (10,*14*,325)। इस प्रकार, उदाहरण के तौर पर पूजीवादी माल अर्थव्यवस्था

कार्यविधि का इस्तेमाल करते हुए लेनिन *नियम* के प्रवर्ग की
[illegible] ज्ञानमीमासीय समझ को निरूपित करते हैं, जिसे फिर उन्होंने
[illegible]नी 'दार्शनिक नोटबुक' में विकसित किया और सर्वोत्कृष्ट ढग से
[illegible]भाषित किया।

वस्तुगत अतर्वस्तु तथा सज्ञान के विकास की प्रक्रिया में स्थान के
[illegible]ष्टिकोण से प्रत्येक प्रवर्ग का वर्णन स्पष्ट ढग से दर्शाता है कि द्वद्वात्मक
[illegible]तिकवाद द्वद्ववाद, तर्कशास्त्र और सज्ञान के सिद्धात के मेल के
[illegible]ात को कैसे लागू करता है। इस अर्थ में मेल का सिद्धात परिघटनाओं
अध्ययन के प्रति वास्तविक द्वद्वात्मक दृष्टिकोण है, एक ऐसा दृष्टि-
[illegible]ण, जो सज्ञान के विषयों के अस्तित्व तथा सज्ञान के ऐतिहासिक
[illegible] को ध्यान में रखता है, जो जडसूत्रवाद और सज्ञान द्वारा प्राप्त
[illegible]णामों की परम व्याख्या को तथा परम सापेक्षवाद, आत्मगतवाद
[illegible] अज्ञेयवाद को छूट मिलने की सम्भावना को समाप्त कर देता है।

लेनिन मेल के सिद्धात का प्रयोग यहीं तक सीमित नहीं है, क्योंकि
[illegible] केवल प्रदत्त प्रवर्ग की वस्तुगत अंतर्वस्तु को प्रकट करने तथा
[illegible]न की एक अवस्था के रूप में इसकी सापेक्षता पर जोर देने का
नहीं, बल्कि अन्य प्रवर्गों में इसके स्थान तथा उनसे इसके सबध
निर्धारित करने का भी है। मिसाल के लिए, "आवश्यकता" के
[illegible] की चर्चा करते समय हमें "नियम", "सार", "सभावना"
[illegible]योग", "सभाव्यता", "आधार", आदि जैसे प्रवर्गों से उसके
[illegible]ों को निर्धारित करना चाहिए। इसी तरह, यह दिखाना ही काफी
[illegible] है कि "यथार्थता" के प्रवर्ग के पास अमुक वस्तुगत अतर्वस्तु है
[illegible] यह सज्ञान में एक निश्चित अवस्था भी है। इस प्रवर्ग की वैज्ञानिक
[illegible] से सही, वस्तुगत रूप से द्वद्वात्मक, ज्ञानमीमासीय और तार्किक
[illegible]ने के लिए न केवल सभावना के प्रवर्ग से, बल्कि
[illegible]"ता", "आभास", "आवश्यकता",

के मुकाबले मे यह दावा करते हुए रखा कि केवल दर्शन ही सत्य का अध्ययन करता है, कि अन्य विज्ञानों मे सत्य शुद्ध नही होता तथा उन्हे ऐसे दूसरे विचारो, दावों और इरादों की तुलना मे गौण स्थान प्राप्त होता है, जिनका सत्य से कोई वास्ता नही होता। इसीलिए हेगेल प्रकृति के दर्शन को प्राकृतिक विज्ञानो के, इतिहास के दर्शन को इतिहास के, विधि के दर्शन को विधि के मुकाबले मे रखते हैं। हेगेल के अनुसार, सज्ञान केवल दर्शन (ठीक-ठीक कहे तो केवल परिकल्पनात्मक-प्रत्ययवादी दर्शन) मे द्वंद्वात्मक है, क्योंकि इसमे धारणाओ के विश्लेषण का स्थान होता है और चिंतन सज्ञान का विषय है। जहा तक अन्य विज्ञानो, विशेष रूप से भौतिक विषयो से संबद्ध विज्ञानो, का संबंध है, तो वे अपने स्वरूप से ही अद्वंद्वात्मक हैं। इसके अनुसार, हेगेल ने माना कि द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा के मेल का केवल दर्शन मे ही स्थान है और यह भी केवल वही तक, जहा तक चिंतन, सज्ञान उसके विषय होते है। बेशक, यह गलती परिकल्पनात्मक-प्रत्ययवादी दर्शन के लिए अनिवार्य थी।

हेगेलीय सर्वबुद्धिवाद के विपरीत, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा के मेल के सिद्धांत को गुणात्मक ढंग से लागू करता है। दर्शन में इस सिद्धांत का पालन करने का अर्थ जड़सूत्रवाद और परम ज्ञान तथा परम सत्य के जड़सूत्रवादी दावों को अस्वीकार करना ही नहीं है, बल्कि द्वंद्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद के सभी सिद्धांतों, नियमों और प्रवर्गों को बिना किसी अपवाद के सृजनात्मक रूप से तैयार, विकसित, समृद्ध करना, विशद बनाना और उन्हें ठोस रूप प्रदान करना भी है। ठीक यही कारण है कि द्वंद्वात्मक भौतिकवाद अन्य कतिपय रूप में "परिसीमित" और सीमित विज्ञानों के मुकाबले में विज्ञानों का विज्ञान नहीं है। सभी विज्ञानों की भांति द्वंद्वात्मक भौतिकवाद विकसित हो रहा है, नयी सामग्री से समृद्ध बनता है, सतत विकास करता है तथा अपने सिद्धांतों और नियमों की ठोस व्याख्या करता है।

पर यह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है कि मार्क्सवादी-लेनिनवादी दर्शन द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और सज्ञान के सिद्धांत के मेल के सिद्धांत को विज्ञान के सभी क्षेत्रों पर लागू करने की मांग करता है। लेकिन

के अनुसार, "हेगेल और मार्क्स के कार्य की निरन्तरता मानव-चिन्तन, विज्ञान तथा प्रविधि के इतिहास के द्वंद्वात्मक विशदीकरण में निहित होनी चाहिए" (10,38,146-47)। इसका अर्थ यह है कि किसी भी विज्ञान के किसी भी सिद्धान्त, धारणा या नियम को पहले, उसकी वस्तुगत अन्तर्वस्तु (वस्तुगत यथार्थता के प्रतिबिंबन) की दृष्टि से देखना चाहिए; दूसरे, ज्ञानमीमांसीय रूप से, सज्ञान के विकास में एक निश्चित अवस्था के रूप में, एक प्रकार के ज्ञान से दूसरे अधिक गहन ज्ञान में संक्रमण के रूप में, और तीसरे, द्वंद्वात्मक तर्क की दृष्टि से, जो प्रवर्गों के परस्पर-संबंध और गति का विश्लेषण करता है चाहे वे सामान्य दार्शनिक प्रवर्ग हों या किसी पृथक् विज्ञान की मूल धारणाए (जैसे क्लासिकीय यांत्रिकी में द्रव्यमान, जड़ता, वेग त्वरण)।

उदाहरणार्थ, गैलिले का यह सिद्धांत सही है कि स्वतत्र रूप से नीचे गिरनेवाले पिंड का वेग इसके आकार और द्रव्यमान पर नहीं निर्भर करता, क्योंकि इसे उस वातावरण से पृथक् किया जाता है जिसमें पिंड का स्वतत्र पात होता है। क्लासिकीय यांत्रिकी का यह सिद्धांत वैक्यूम में पिंड के पतन को ध्यान में रखने के बावजूद प्रकृति में घटित होनेवाले पतन की वास्तविक प्रक्रिया का सही प्रतिबिंबन है। लेकिन आधुनिक वायुगतिकी गैलिले के नियम को इस प्रक्रिया के सज्ञान में महज एक निश्चित अवस्था के रूप में देखती है वायुगतिकी को गिरनेवाले पिंड के भार और आकार, वातावरण और वातावरण-संबंधी परिस्थितियों यानी उन सभी चीजों को ध्यान में रखना पड़ता है, जिनकी क्लासिकीय यांत्रिकी उपेक्षा करती है। यह है वह ढंग, जिससे किसी नियम का सज्ञान ऐतिहासिक रूप में विकसित होता है, सज्ञान की ऐतिहासिक प्रक्रिया का सामान्यीकरण होता है, इस प्रक्रिया से संबद्ध क्लासिकीय यांत्रिकी के प्रवर्गों तथा उनके समन्वय और मातहती के संबंध का अध्ययन किया जाता है तथा ज्ञान के विशिष्ट क्षेत्रों में द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा की एकता के सिद्धांत के द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी प्रयोग के सार को सुस्पष्ट रूप से प्रकट किया जाता है। इस दृष्टि से ही यूक्लिडीय और अयूक्लिडीय ज्यामितियों के बीच, क्लासिकीय और आधुनिक, क्वांटम यांत्रिकी के बीच संबंधों को देखा जाना चाहिए। अगर क्लासिकीय यांत्रिकी द्रव्यमान और वेग के प्रवर्गों

को एक दूसरे से स्वतंत्र प्रवर्गों के रूप में देखती है, तो वस्तुगत दर्शनी उन्हें अटूट रूप से जुड़े प्रवर्गों के रूप में देखती है।

द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा के मेल के सिद्धांत को ज्ञान के विशिष्ट क्षेत्रों में लागू करने का प्रश्न, जिसे लेनिन ने अपनी 'दार्शनिक नोटबुक' में पेश किया, किसी भी विज्ञान में ज्ञान के समग्र नये परिप्रेक्ष्य खोलता है। इस दृष्टिकोण से आगे बढ़ते हुए लेनिन ने 'भौतिकवाद और आलोचनात्मक अनुभववाद' में ही दिखाया कि इलेक्ट्रॉन वैसे ही अक्षय है जैसे परमाणु। भूतद्रव्य की लेनिन की मेधावी धारणा विश्व की प्रकृति और इसके वैज्ञानिक ज्ञान की द्वंद्वात्मक समझ पर आधारित है। लेनिन जोर देते हैं कि भूतद्रव्य का कोई भी प्रकृतिवैज्ञानिक सिद्धांत उसके सभी गुणों को पूर्णतः उद्घाटित नहीं करता, बल्कि भूतद्रव्य के सज्ञान के विकास में एक निश्चित अवस्था है, जिसका अनिवार्यतः सज्ञान के अगले विकास द्वारा द्वंद्वात्मक निषेध हो जाता है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि, जैसा पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, अपनी परिधि में विज्ञान को अज्ञात अवस्थाओं और गुणों सहित सभी अवस्थाओं और गुणों को शामिल करनेवाली भूतद्रव्य की धारणा केवल ज्ञानमीमांसीय धारणा, ज्ञानमीमांसीय प्रवर्ग ही हो सकती है। बेशक, यह भूतद्रव्य के दार्शनिक सिद्धांत में उन गुणों को इंगित करने की आवश्यकता को अस्वीकार नहीं करता, जिनका प्राकृतिक विज्ञान अध्ययन करते हैं।

इस तरह, द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा के मेल के भौतिकवादी सिद्धांत को पेश करते हुए लेनिन हेगेल के विपरीत किसी भी विज्ञान में इसके प्रयोग की आवश्यकता को प्रदर्शित करते हैं। इस बात पर जोर देते हुए कि हेगेल का 'तर्कशास्त्र' चिंतन के इतिहास का समाहार है, लेनिन कहते हैं कि मानव-सज्ञान, आम तौर से सभी विज्ञानों की सामान्य प्रक्रिया को सनियमित करनेवाले नियम प्रत्येक विज्ञान में अपना स्थान रखते हैं। लेनिन के शब्दों में, **"अलग-अलग विज्ञानों के इतिहास** में इसकी अधिक ठोस रूप से और अधिक विस्तारपूर्वक खोज करना असाधारण रूप से फलप्रद कार्य प्रतीत होता है" **(1,38,318)**।

इसी आधार पर लेनिन के इन सुप्रसिद्ध शब्दों को भी समझना

चाहिए कि मार्क्स ने 'पूंजी' में द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञान के सिद्धान्त को एक विज्ञान – राजनीतिक अर्थशास्त्र – पर लागू किया। "मार्क्स ने बुद्धिसंगत रूप में हेगेल के द्वंद्ववाद को राजनीतिक अर्थशास्त्र पर लागू किया" (1,38,178)। राजनीतिक अर्थशास्त्र में द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा के मेल के सिद्धान्त के प्रयोग के महत्व को समझने के लिए मार्क्स की 'पूंजी' में आर्थिक प्रवर्गों (श्रम, मूल्य, पूंजी, मुद्रा, आदि) की द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी, सही ऐतिहासिक व्याख्या की अंग्रेजी राजनीतिक अर्थशास्त्र की कृतियों द्वारा उनकी व्याख्या से तुलना करना ही काफी है। चूंकि मार्क्स की 'पूंजी' ऐसे अध्ययन का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है, मार्क्सवादी दार्शनिकों को 'पूंजी' की विधि का अध्ययन करना और उसके महत्व को समझना चाहिए जो अर्थशास्त्र तक ही सीमित नहीं है।

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद,
द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद और आधुनिक बुर्जुआ चेतना
(उपसंहार की जगह)

सुकरात कहा करते थे कि हेराक्लिटस में जो कुछ मैंने समझा है, वह भव्य है लेकिन जो कुछ मैंने नहीं समझा है, वह निश्चय ही और भी भव्य होगा। मार्क्सवादी दर्शन के आधुनिक विरोधी इस बुद्धिमत्तापूर्ण उदाहरण का अनुसरण नहीं करते वे इस सिद्धात को समझने की अपनी असमर्थता का दोष मार्क्सवाद पर लगाते हैं। इसी वजह से यह विचार उत्पन्न हुआ कि मार्क्स समाज की व्याख्या के रूप में दर्शन से इन्कार करते है और इसे केवल समाज को बदलने के साधन के रूप मे देखते है। लेकिन इस प्रश्न के सबध मे 'जर्मन विचारधारा' की सुप्रसिद्ध स्थापनाओं को स्मरण करना ही काफी है, जिनसे सुस्पष्ट है कि मार्क्सवाद सामाजिक यथार्थता की मडनात्मक व्याख्या की निंदा करता है। मार्क्सवाद इसके मुकाबले में सामाजिक सबधो की वैज्ञानिक व्याख्या पेश करता है और उनके रूपातरण की आवश्यकता को सैद्धानिक रूप में पुष्ट करता है। मार्क्स की 'पूजी' सामाजिक यथार्थता के इस क्रातिकारी-आलोचनात्मक स्पष्टीकरण का महान उदाहरण है।

मार्क्स पर दर्शन को समाप्त करने के इरादे को थोपने का प्रयास भी अविचारित और खोखला है। मार्क्स की कृतियों के उद्धरणों की एकागी व्याख्या ऐसे दावों को वस्तुगतता का आवरण प्रदान करती है। लेकिन दर्शन के इतिहास मे दर्शन की धारणा सहित धारणाओं की कोई एक बधी-बधाई सुनिर्धारित परिभाषा नही है। फायरबाख ने दावा किया कि उनका दर्शन कोई दर्शन नही है, फिर भी कोई उन्हे अदार्शनिक नही कहेगा।

मार्क्स और एगेल्स शब्द के पुराने अर्थ मे दर्शन यानी एक ओर सकारात्मक विज्ञानों का और दूसरी ओर सामाजिक-राजनीतिक आदोलन का विरोध करनेवाले परिकल्पनात्मक दर्शन की समाप्ति को आवश्यक

तने है। मार्क्स के लिए दर्शन मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को
देशा के लिए समाप्त करनेवाले महान मुक्ति आंदोलन का अभिन्न
ग और सैद्धांतिक अस्त्र है। यह तथ्य (जो दर्शन के सामाजिक अर्थ
जिसे आज कोई, कम से कम औपचारिक रूप में, अस्वीकार नहीं
करता) की मार्क्स की गहन समझ का प्रमाण है मार्क्सवाद के कुछ
आलोचकों को इसे "पूर्वानुबंधित चिंतन' के रूप में पेश करने का
बहाना प्रदान करता है।

मार्क्सवाद आधुनिक युग की प्रवृत्तियों, अन्तर्विरोधों और प्रेरक
शक्तियों के अध्ययन के वैज्ञानिक तरीके प्रस्तुत करता है। मार्क्सवाद की
सही समझ और रचनात्मक प्रयोग इसके प्रति पूर्वाग्रहपूर्ण दृष्टिकोण
के अस्वीकार की पूर्वकल्पना करता है। जितना मार्क्सवाद को तोड़ा
मरोड़ा गया है, उतना सामाजिक चिंतन के इतिहास में किसी भी
सिद्धांत को नहीं। आज भी जब कि मार्क्सवाद के विरोधी इसे ध्यान
में रखने को विवश है और इसका अध्ययन करते हैं, इसे पहले से कहीं
अधिक तोड़ा-मरोड़ा जा रहा है। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है
कि कुछ बुर्जुआ विद्वान मार्क्सवाद का अध्ययन उतना इसे समझने के
लिए नहीं करते, जितना कि इसका खंडन करने हेतु प्रमाण जम
करने के लिए। इस दृष्टि से बुर्जुआ अध्येताओं की सबसे नयी खोज
का कि मार्क्सवादी सिद्धांत का अन्तर्वर्ती अंग हेगेलवाद है कारण
स्पष्ट हो जाता है।

'मार्क्स और हेगेल पर निबंध' में फ्रांसीसी अस्तित्ववादी न
हेगेलवादी जा हिप्पोलित हेगेल की 'आत्मा की फेनोमेनोलॉजी' त
मार्क्स की 'पूंजी' के बीच तुलना करते है। वह दोनों कृतियों में अन
सत्रामण के विषय का विकास देखते हैं। वह लिखते हैं हेगेल
'फेनोमेनोलॉजी' की भांति ही उत्पादन मार्क्स के अनुसार म
और मुद्रा में अपने को अन्यसत्रामित करता है और यह अनियंत्रि
अन्यसत्रामण पूंजी बनाता है मार्क्स की कृति की वस्तुत मुख्य पा
पूंजी – का उत्पादन मनुष्य द्वारा किया जाता है और फिर यह इति
में मनुष्य पर हावी हो जाती है तथा उसे अपनी क्रिया-विधि के
एक नगण्य अवयव में बदल देती है" (69,160)।

जा हिप्पोलित गंभीर विद्वान तथा हेगेल की 'आत्मा की फे

यम मे निहित है, हेगेल के दर्शन का क्रांतिकारी पहलू कहा (10,2,21)। प्पोलित के विचार मे, हेगेल के दर्शन का यह महत्वपूर्ण पहलू जिसे मार्क्स ने आलोचनात्मक ढग से स्वीकृत और भौतिकवादी ढग से विकसित किया, भोला-भाला, कालातीत है और इतिहास की कसौटी र सही नही उतरता।

अस्तित्ववाद के नजदीकी कार्ल ल्योविथ के विचार मे मार्क्स हेगेल की भांति तर्कबुद्धिवादी थे "हेगेल का सिद्धात – बुद्धि और यथार्थता की एकता तथा सत्ता और अस्तित्व की एकता के रूप मे स्वय यथार्थता – मार्क्स का भी सिद्धात है" (80,109)। बेशक, ल्योविथ अच्छी तरह जानते है कि १८४३ – १८४४ मे ही मार्क्स ने हेगेल द्वारा बुद्धि चिंतन के समामीमासीयकरण की आलोचना की थी। तो भी, वह दावा करते है कि मार्क्स हेगेल की परिकल्पना पर काबू पाने मे असमर्थ थे यानी वह हेगेल के दर्शन के आलोचनात्मक विश्लेषण के स्तर पर नही रह सके। हिप्पोलित की भांति ल्योविथ समाज के प्रगतिशील विकास की तर्कबुद्धिवादी और भौतिकवादी व्याख्या के बीच भेद नही करते सामाजिक प्रगति की अनिवार्यता का स्वय विचार ही उनके लिए प्रत्ययवादी है।

मार्क्सवाद के इजीली आलोचक दर्विन मेन्स्के इस चीज को भलीभांति जानते हुए कि मार्क्सवाद और हेगेलीय परम प्रत्ययवाद के बीच भेद की उपेक्षा नही की जा सकती इन दो विरोधी मार्गो को द्वद्ववाद की गलत व्याख्या द्वारा एक ही बताने की कोशिश करते है। मेन्स्के के अनुसार मार्क्स का भौतिकवाद और हेगेल का प्रत्ययवाद विलोमो की एकता बनाते है "मार्क्स और हेगेल के बीच सबध स्वय द्वद्वात्मक है। इसमे विरोध निहित है। सबध की गहराई अतर्विरोध की गहराई के अनुरूप है" (88,15)।

मार्क्स के भौतिकवाद और हेगेल के प्रत्ययवाद के बीच मौलिक विरोध की उपेक्षा मार्क्सवाद की आधुनिक बुर्जुआ आलोचना का एक महत्वपूर्ण सूचक है। मार्क्सवाद पर उतना नकारात्मकता का आरोप नही लगाया जाता (जैसा कि २०वी सदी के प्रारभ मे था) जितना कि विगत की महान तर्कबुद्धिवादी परपराओ के प्रति अपर्याप्त आलोचनात्मक दृष्टिकोण का। यहा भौतिकवादी द्वद्ववाद और हेगेल के प्रत्ययवादी द्वद्ववाद के बीच ऐतिहासिक भौतिकवाद और इतिहास के

: अशांति कहते हैं (68,14-18)। शांति, गति का मंद होना मृत्यु सूचक है और इनके बारे में वाद-विवादों में उन्हें स्पिनोज़ा की भांति कोई दिलचस्पी नहीं है। मृत को अपने मृतकों को दफनाने दें। हर सापेक्ष चीज, विशेष रूप से हर जीवित चीज अनित्य है और सी सीमितता में उसकी ऊर्जा पैदा होती है। जीवित की शक्ति विलोमों के सामंजस्य में है। सामान्य, नित्य, परंपरागत विगत के अंग हैं, जो वहीं तक दिलचस्पी का विषय हैं, जहां तक उनका वर्तमान से संबंध है। हेगेल असाधारण लोगों की प्रशंसा करते हैं, सर्वोपरि क्योंकि वे बंधी-बंधायी चीजों का विरोध करते हैं।

हेगेल इतिहास को प्रकृति के मुकाबले में रखते हैं प्रकृति में मनोवेग नहीं होता, यह हमेशा अपनी पुनरावृत्ति करती है। लेकिन मनोवेग के बिना कोई भी महान कार्य संभव नहीं है, यह इतिहास का क्षेत्र है, जहां आविर्भाव और विनाश एक दूसरे से अविच्छेद्य हैं। यहां विकास निरंतर चलता है, निरंतर अनिवर्त्य परिवर्तन होता है, नये का आविर्भाव होता है, जो उससे भिन्न होता है जो इसके पहले अस्तित्व-मान था या जो अब भी अपने अस्तित्व को किसी तरह बनाये हुए है। यहां नया पुराने से संघर्ष करता है। विलोमों का संघर्ष ही नये को जन्म देता है। हेगेल के शब्दों में, "अतः कोई चीज केवल तभी जीवित है, जब उसमें अंतर्विरोध निहित हो और वस्तुतः यही वह शक्ति है, जो इस अंतर्विरोध को धारण और सहन करने में समर्थ होती है" (64,4, 69)। यह कहना हास्यास्पद है कि अंतर्विरोध की कल्पना नहीं की जा सकती; विकास की कल्पना करने का अर्थ अंतर्विरोध को समझना है।

स्पष्टतः ये विचार तथा उनसे संबद्ध संसार की अनुभूति हेगेल के सिद्धांत का केवल एक पहलू है। वह अंतिम महान अधिभूतवादी प्रणाली के निर्माता है। और यह प्रणाली अपनी बारी में विधि को अपने अधीन कर लेती है तथा इसे तोड़ती-मरोड़ती है। तरुण हेगेलवादियों ने हेगेल की द्वंद्वात्मक विधि, जो विकास की पूर्णता को अस्वीका करती है, और उनकी उस प्रणाली के बीच अंतर्विरोध को पहले ही इंगित किया, जो बुर्जुआ कानून और व्यवस्था के ढांचे में मानवजाति की सामाजिक-राजनीतिक और बौद्धिक प्रगति की परम सीमाएं काय करती है। तरुण हेगेलवादियों ने इस अंतर्विरोध के स्रोतों को दार्शनि

के व्यक्तित्व मे, उनके सरकारी पद और नैतिक पूर्वाग्रहो मे खोजा। मार्क्स अपनी पहली दार्शनिक कृति – डाक्टर की डिग्री के लिए शोध-प्रबध के प्रारूप – मे ही अतुलनीय रूप से आगे जाते हैं। वह लिखते हैं : "यह बिल्कुल सभव है कि एक दार्शनिक इस या उस अनुकूलन के कारण इस या उस गोचर असंगत स्थिति मे जा पड़े ; शायद वह इसे जानता भी हो। लेकिन जिस चीज को वह नही जानता, वह यह सभावना है कि इस गोचर अनुकूलन की गहरी जड़े स्वय उसके सिद्धात की अपर्याप्तता या अपर्याप्त निरूपण मे होती हैं" (1,1,84)।

हेगेल के सिद्धात की अपर्याप्तता यानी उनके द्वद्ववाद के प्रत्ययवादी स्वरूप को मार्क्स ने १८४३ मे लिखित अपनी कृति 'हेगेल के कानून के दर्शन की आलोचना' मे प्रकट किया। इसमे मार्क्स दिखाते हैं कि प्रत्ययवाद द्वद्ववाद को तोड़ता-मरोड़ता है, क्योकि यह विलोमो के सबध को केवल चिंतन मे अस्तित्व रखनेवाले सबध के रूप मे देखता है, जो सत्तामीमासीय ढग से निरपेक्ष बनाये जाने के बावजूद चिंतन ही बना रहता है। अत हेगेल के अनुसार अतर्विरोध केवल शुद्ध चिंतन के क्षेत्र मे अर्थात अनुध्यान की प्रक्रिया मे ही हल किये जाते है। ये चितनीय अतर्विरोध वास्तव मे एक दूसरे के विरुद्ध सघर्ष नही करते, प्रत्येक दूसरे को अपनी अन्यसत्ता के रूप मे देखता है।

डाक्टर की डिग्री के लिए अपने शोध-प्रबध पर काम के वर्षों (१८३९–१८४१) के दौरान मार्क्स ने हेगेल के द्वद्ववाद के दो परस्पर अपवर्जक पहलुओ पर ध्यान दिया। अब भी हेगेल के प्रत्ययवाद को श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए मार्क्स कहते है कि "द्वद्ववाद आतरिक सरल प्रकाश, प्रेम की मर्मभेदी दृष्टि, आतरिक आत्मा, जो भौतिक दैहिक विभाजन से दमित नही होती, आत्मा का आतरिक निवास-स्थान है"। लेकिन अगले ही वाक्य मे वह जोर देते है कि "द्वद्ववाद वह तूफानी धारा भी है, जो बहुत-सी चीजो और उनकी सीमाओ को नष्ट कर देती है, जो स्वतत्र रूपो को उलट देती है, सभी चीजो को शाश्वतता के एक ही सागर मे डुबो देती है" (1,1,493)। मार्क्स हेगेल के वस्तुत [illegible] दूसरे, क्रातिकारी पहलू को विकसित करते है। निरीश्वरवाद [illegible] तत्व-निरूपण से शुरू करके वह यथार्थता की अवध

प्रबोधन के विचारों की स्पष्ट अस्वीकृति करते हैं, बल्कि उसकी सर्वोत्तम परम्पराओं का समर्थन भी करते हैं यह प्रबोधन नहीं, जिसका चित्र अक्सर इकहरा पांग्लोस के अल्पसंतुष्ट आशावाद के रूप में किया जाता है बल्कि वह प्रबोधन, जिसने उसके छद्मदर्शन को निर्ममतापूर्वक हास्यास्पद बनाया, जिसने दीदेरो की सुप्रसिद्ध कहानी में विज्ञान तथा टैक्नोलॉजी में क्रान्तिकारी विकासों से उत्पन्न होनेवाले आधुनिक टकरावों की पूर्वकल्पना की यह प्रबोधन, जिसने रूसो के सिद्धान्त में विरोधी सामाजिक शक्तियों द्वारा उत्पन्न प्रगति के अन्तर्विरोधों को मेधावी ढंग से प्रकट किया।

हेगेल इस अतिसरलीकृत विचार से दूर थे कि सत्य का प्रकाश अपनी शक्ति से भ्रम के अंधकार को दूर करता है, कि अपने अन्तर्वर्ती महत्व के कारण अच्छाई बुराई पर विजयी होती है। लेकिन वह प्रगति के विचार को छोड़ने या इसे इस कारण से मानव-अस्तित्व के लिए खतरनाक मानने से और भी दूर थे कि प्रगति का सीधा मार्ग नहीं है, बल्कि वह संघर्ष तथा कष्ट के जरिये प्राप्त होती है। सामाजिक प्रगति की कठिनाइयों और अन्तर्विरोधों के प्रति पूर्णतः सचेत होते हुए भी हेगेल उन समकालीनों के विचारों से स्वतंत्र थे, जिनकी राय में कोई भी सामाजिक रूपान्तरण मानव-अस्तित्व के अनिवार्य असामंजस्य पर काबू पाने में समर्थ नहीं है। जर्मन दार्शनिक की मेधा इस चीज़ में अत्यधिक स्पष्ट रूप में व्यक्त हुई कि वह "दुखी चेतना" प्रवर्ग की उत्पत्ति और विकास को दास बनाये गये आदमी की स्थिति से जोड़ते हैं, जो आन्तरिक रूप से स्वतंत्र तथा रचनात्मक कार्य में समर्थ व्यक्ति के रूप में अपने प्रति सचेत है। इस दासीकरण की काफ़ी व्यापक व्याख्या की जानी चाहिए, क्योंकि हेगेल के अनुसार, यह जीवन की उस परिस्थिति का चित्रण करता है, जिसमें मनुष्य स्वतंत्रता-रहित जीवन और मृत्यु के बीच चुनाव करता है कोई तीसरा विकल्प संभव नहीं है।

हेगेल ने अपरिवर्तनीय सत्य की अधिभूतवादी धारणा को नष्ट कर दिया, उन्होंने पहली बार दिखाया कि सत्य सापेक्ष है, कि यह सज्ञान के विकास की प्रक्रिया है। लेकिन स्वभावतः उन्होंने व्यावहारिकतावादियों, नव-प्रत्यक्षवादियों तथा अन्य बुर्जुआ दार्शनिकों की भांति यह दावा करने की बात नहीं सोची कि सत्य उपयोगिता है या कि यह

वैज्ञानिकों के बीच समझौता है। हेगेल के शब्दों में, "सत्य एक महान शब्द तथा और भी अधिक महान चीज है। अगर मनुष्य की भावना और आत्मा अब भी स्वस्थ है, तो इस शब्द को सुनकर उसका सीना फूल जाना चाहिए" (64,6,29)।

एंगेल्स के अनुसार, हेगेल के सुप्रसिद्ध सूत्र "हर वास्तविक चीज बुद्धिसंगत है और हर बुद्धिसंगत चीज वास्तविक है" ने जितनी विवाद-तापूर्ण व्याख्याएं प्रेरित की उतनी उतनी और किसी प्रस्थापना ने नहीं की। अदूरदर्शी उदारतावादियों और सामन्तवाद के समर्थकों ने इस सूत्र में सामन्ती व्यवस्था का औचित्य पाया। हेनरिख हाइने पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने इस प्रस्थापना के क्रांतिकारी महत्व को समझा। १७वीं–१८वीं सदियों के प्रगतिशील बुर्जुआ वर्ग के अत्यधिक महत्वपूर्ण विचार, जिन्हें बेकन और देकार्त ने लगभग एकसाथ घोषित किया प्रकृति की शक्तियों को अधीन करने और समाज के जीवन को बुद्धिसंगत ढंग से संगठित करने के बारे में विचार थे। हेगेल का सूत्र इन विचारों का उन्नतम सार है।

यथार्थता की बुद्धिसंगतता के बारे में विचार, उसमें हेगेल द्वारा स्पष्ट प्रत्ययवादी विचार प्रतिष्ठापित किये जाने के बावजूद, गहन और भौतिकवादी अन्तर्वस्तु से भी भरा है। नव-युग के विज्ञान ने प्राकृतिक नियमों की विविधता की खोज की और वह सामाजिक जीवन के नियमों की समझ के निकट आ गया। भोले-भाले उद्देश्यवादी विचारों का स्थान परिघटनाओं के आवश्यक संबंध के बारे में सिद्धांत ने ले लिया। कांट के विचार में, यह इतना स्पष्ट था कि उन्होंने इसे प्रागनुभविक घोषित किया। इन वैज्ञानिक धारणाओं ने हेगेल के सर्वबुद्धिवाद में, खास तौर से "बुद्धिसंगत वास्तविकता" के बारे में स्थापना में अपनी दार्शनिक, भले ही प्रत्ययवादी अभिव्यक्ति पायी। हेगेल ने हर अस्तित्वमान चीज को वास्तविक नहीं कहा। अपने विकसित रूप में अस्तित्वमान आवश्यक है। अपनी आवश्यकता खो चुकनेवाला अस्तित्वमान अपना औचित्य खो देता है इसे अपना स्थान नये, प्रगतिशील के लिए खाली करना चाहिए।

हेगेल के इस सूत्र के दूसरे भाग "हर बुद्धिसंगत चीज वास्तविक है" के विश्लेषण से ऐसा ही गहन भौतिकवादी निष्कर्ष निकाला जा

सकता है। बेशक हेगेल ने हर कल्पनीय और शब्दों तथा वाक्यों में अभिव्यजनीय चीज को बुद्धिसंगत नही कहा। मध्यकालीन यथार्थवाद के संबंध में, जिसे आज भी कुछ बुर्जुआ दार्शनिक सुव्यवस्थित वैज्ञानिक चिंतन के एक आदर्श के रूप में मानने के लिए तैयार हैं, हेगेल ने कहा कि यह "वास्तविक अंतर्वस्तु से रहित सहजबुद्धि का बर्बर दर्शन है" (64,15,198)। बुद्धिसंगत को प्रामाणिक होना चाहिए, यह अपने को एक ऐसी द्वंद्वात्मक धारणा के रूप में प्रामाणिक रूप से व्यक्त करता है, जो सार्विक, विशिष्ट, वैयक्तिक की एकता को प्रकट करती है। बुद्धिसंगत वहीं तक वास्तविक है, जहां तक उसकी अंतर्वस्तु वस्तुगत है, आवश्यक है। बुद्धिसंगत की यह समझ उस आत्मगतवादी अमूर्त आवश्यकता से मूलतः भिन्न है, जिस पर काट और फिख्ते रुके। हेगेल के ये पूर्ववर्ती प्रतिभाशाली चिंतक थे और उनकी इस बात के लिए निंदा नहीं की जा सकती कि कुछ दार्शनिक आज भी यह दावा करते हैं कि दुनिया में आदर्शों को प्राप्त नहीं किया जा सकता। उनके विचार में, आदर्शों का ऐसा अलौकिक स्वरूप ही है उन्हें प्राप्त करने के सारे प्रयासों के विनाशकारी परिणाम ही होते हैं, क्योंकि संसार मूलतः बेहतर नहीं, बल्कि अफसोस कि बदतर ही हो सकता है। हेगेल का विचार अधिक संयत और उदात्त था "अगर कोई विचार अस्तित्व के लिए बहुत ही अच्छा है, तो वह स्वयं कल्पना का दोष है" (64, 14,274)।

मार्क्स और एंगेल्स अमूर्त आवश्यकता का विरोध करते हुए तथा आदर्शों को यथार्थता के मुकाबले में रखते हुए हेगेल के विचार को विकसित करते तथा गहन बनाते हैं। यह आत्म-विकाससमान यथार्थता आदर्शों को पैदा करती है और अपने बाद के विकास में उनका अतिक्रमण करती है। हेगेल के विपरीत, मार्क्सवाद के संस्थापक इस चीज को भली-भांति जानते हैं कि यूटोपिया अपने को यथार्थता से पृथक् रखनेवाली और कल्पनाविलासी बुद्धि द्वारा नहीं पैदा किये जाते, बल्कि वे ऐतिहासिक यथार्थ का निश्चित (निश्चित सामाजिक स्थिति में किये गये) परिवर्तन हैं। इसीलिए वे प्रगतिशील तथा प्रतिक्रियावादी यूटोपिया के बीच भेद करते हैं और दिखाते हैं कि प्रगतिशील यूटोपिया [illegible] विकास की वस्तुगत प्रवृत्तियों को [illegible] गं प्र [illegible]

है, जब कि प्रतिक्रियावादी यूटोपिया विगत को आदर्श स्वरूप प्रदान करता है और इसे पुन पाये जानेवाले खोये स्वर्ग के रूप मे पेश करता है। कल्पनावाद के सभी रूपो की ठोस आलोचना करते हुए मार्क्स हेगेल की भांति सिद्ध करते हैं कि स्वय यथार्थता से उत्पन्न होनेवाला बुद्धिसगत आदर्श मात्र सामाजिक विकास की वास्तविक, ऐतिहासिक रूप से निश्चित प्रवृत्ति की आत्मिक अभिव्यक्ति है। अगर यह अप्राप्य प्रतीत होता है तो केवल इस वजह से कि इसके द्वारा व्यक्त प्रवृत्तिया अभी भ्रूणावस्था मे हैं। मार्क्स के शब्दो मे, "इस प्रकार, मानवजाति अपने लिए अवश्यंभावी रूप से केवल ऐसे ही कर्तव्य निर्धारित करती है जिन्हे पूरा करने मे वह समर्थ हो, क्योकि निकट से जाच करने पर हमेशा पता चलेगा कि कोई भी समस्या स्वय तभी खडी होती है जब उसके समाधान की भौतिक परिस्थितिया पहले से या तो मौजूद हो, या कम से कम निर्माण के क्रम मे हो" (6,21)। इस प्रकार, हेगेल की स्थापना "हर वास्तविक चीज़ बुद्धिसगत है और हर बुद्धिसगत चीज़ वास्तविक है", जो पहली दृष्टि मे सामाजिक-ऐतिहासिक प्रक्रिया की विकृति है, वास्तव मे उसकी अवश्यभावी प्रगति मे मेधावी अतर्दृष्टि है।

लेकिन आधुनिक बुर्जुआ सिद्धातकार प्रगति के विचार को प्रबोधन-युग के दिवालिया हो चुके एक भ्रम के रूप मे देखते हैं। वे दावा करते हैं कि अगर प्रगति का अस्तित्व है, तो यह केवल अत्यत एकागी, सीमित और विकृत रूप मे ही है। जहा तक इतिहास की मुख्य प्रवृत्ति का सबध है, वे इसे अधिकाशत प्रतिगामी प्रवृत्ति के रूप मे देखते हैं। प० न० फेदोसेयेव उल्लेख करते हैं "अधिकाश आधुनिक बुर्जुआ दार्शनिको का सामाजिक निराशावाद ऐतिहासिक रूप से कालातीत पूजीवादी उत्पादन सबधो के खिलाफ किसी भी प्रतिवाद की अप्रत्यक्ष निदा है। यह अत्यत सूक्ष्म रूप मे अनुरूपतावाद की सफाई है जो पूजीवाद की छद्म आलोचना तथा पूजीवाद-विरोधी लफ्फाज़ी का व्यापक रूप मे उपयोग करते हुए असनुरूपतावाद के रूप मे प्रकट होता है जो वास्तव मे आधुनिक, मानो मौलिक रूप से परिवर्तित पूजीवाद को निर्दोष सिद्ध करता है" (33,11)।

हाल मे, बुद्धिसगत ऐतिहासिक आशावाद का मज़ाक उडाना

अनेक बुर्जुआ दार्शनिकों का तब फैशन हो गया है। हेगेल के दौर में निराशा सचाई को बचकानापन माना था, लेकिन इससे उसका अपना दार्शनिक फैशन से नहीं था, क्योंकि दर्शन मानवजाति के लिए बहुत गंभीर और महत्वपूर्ण बौद्धिक कार्य है। दार्शनिक फैशन में मुग्ध कुछ दार्शनिक हेगेल और मार्क्स के ऐतिहासिक आशावाद को कठोर भर्त्सना के समस्त भार के रूप में देखते हैं, जो किसी को मुक्ति की कोई आस नहीं देती। लेकिन आधुनिक सामाजिक निराशावाद एकान्त चट्टान की ऊंचाई से जीवन की तूफानी धारा के शांत मनन का उपदेश देनेवाले जार्ज सांतायाना की भावना में केवल पलायन नहीं है। न ही यह शो पेनहावर की विरासत का गंभीरतापूर्वक उपयोग करनेवाली दार्शनिक सनक है। यह निराशावाद, जो बुर्जुआ समाज में आत्म-अन्यसंक्रामण को बौद्धिक ढंग से व्यक्त करता है, उत्पादन के कालातीत पूंजीवादी संबंधों के खिलाफ संघर्ष की भर्त्सना करता है। दूसरे शब्दों में, यह अनुरूपतावाद की सूक्ष्म गहराई है, जो अननुरूपतावाद के रूप में प्रकट होता है, क्योंकि यह बौद्धिक स्वतंत्रता का नकाब पहन लेता है तथा अधिकांश बुर्जुआ सिद्धान्तकारों के मीठे सुधारवादी उपदेशों का विरोध करता है। लेकिन आसमान की ऊंचाई से जमीन का इस तरह का मानव-द्वेषी अवलोकन सामाजिक निराशावाद को लेशमात्र भी उचित नहीं ठहराता। हेगेल ने ठीक ही कहा कि हर चीज में केवल निरर्थकता और निस्सारता देख लेना अहम्मन्यता है "हो सकता है कि चरम बुद्धिमत्ता के रूप में सब कुछ व्यर्थ मानना सचमुच कोई गहरी बात हो, लेकिन यह खोखलेपन की गहराई है" (*64,14,64*)। इन्हीं स्थितियों से हेगेल ने फ्रांसीसी क्रांति के उत्साह का स्वागत किया। इस क्रांति (जिसे अभिजातवर्गीय प्रतिक्रिया के सिद्धान्तकारों ने मनुष्य के पापों की दैवी सजा के रूप में देखा) के उनके मूल्यांकन में सबसे महत्वपूर्ण पहलू उसकी ऐतिहासिक आवश्यकता, उसके जन-स्वरूप, सामाजिक-ऐतिहासिक विकास के लिए उसके बड़े महत्व की समझ है। हेगेल ने १८१६ में लिखा "मेरा विश्वास है कि हमारे समय की विश्व-आत्मा ने आगे बढ़ने का आदेश दिया। ऐसा आदेश प्रतिरोध का सामना करता है, यह सत्ता बख्तरबंद, एकजुट टुकड़ी की भांति अजेय और [illegible] से ही दृष्टिगोचर ढंग से सभी अवरोधों को पार करते हुए

का भी कि भौतिक उत्पादन न केवल बाह्य प्रकृति, बल्कि मानव-प्रकृति को भी बदल देता है, कुछ सीमा तक श्रम की हेगेलीय समझ में पूर्वानुमान किया गया है। इसे मार्क्स '१८४४ की आर्थिक और दार्शनिक पाडुलिपियो' मे इगित करते हैं। वह मुख्य चीज, जिसे मार्क्स ने सिद्ध किया और जो उनकी बाद की सभी खोजों का स्रोत है, यह है कि स्वय मानवजाति अपने विकास को निर्धारित करनेवाली वस्तुगत परिस्थितियों का निर्माण करती है। न भौगोलिक परिस्थितिया, न जलवायु, न ही अन्य प्राकृतिक कारक सामाजिक-ऐतिहासिक प्रक्रिया की निर्धारक शक्ति हो सकते हैं। यह शक्ति अतिम विश्लेषण मे उत्पादक शक्तिया ही हो सकती हैं।

उत्पादक शक्तियों का विकास अनुक्रम की वस्तुगत प्रक्रिया है जो विचारो के इतिहास मे अनुक्रम से मूलत भिन्न है; पहले मे चुनाव की कोई स्वतत्रता नही है लोग अपनी उत्पादक शक्तियो को स्वतत्रतापूर्वक नही चुन सकते। लेकिन वस्तुत लोग न कि "परम आत्मा" उत्पादक शक्तियो को निर्मित और विकसित करते हैं और इस आधार पर जो ऐतिहासिक आवश्यकता बनती है, वह जीवत और मूर्त मानव-कार्य की एकता है। उत्पादक शक्तियो की प्रगति और अत व्यक्ति की शक्तियो का विकास मूर्त और जीवत मानव-श्रम के सहसबध को आवश्यक रूप से जीवत श्रम के पक्ष मे बदल देते हैं। लोग उतना ही अपनी जीवन की परिस्थितियों को निर्धारित करते हैं, जितना कि वे उन्हें निर्मित करते हैं। इस तरह, उत्पादक शक्तियो की निर्णायक भूमिका की स्वीकृति इस भाग्यवादी निष्कर्ष पर नहीं ले जाती कि सामाजिक विकास पूर्व निर्धारित है। सामाजिक-आर्थिक प्रगति की प्रक्रिया मे उत्पादन के समस्त पूर्ववर्ती विकास का महत्व उसकी वर्तमान अवस्था के लिए बढता नहीं, बल्कि घटता है। समाज के विकास मे भौतिक उत्पादन की भूमिका, प्रमुख उत्पादक शक्ति के रूप मे मेहनतकश लोगों के बारे मे अपने सिद्धात द्वारा मार्क्स ने इतिहास की उस भाग्यवादी धारणा पर काबू पा लिया जिसके बधन मे हेगेल बधे हुए थे तथा इस भाग्यवादी विचार का पूर्णत खडन किया कि इतिहास मनुष्य के सबध परिणाम है।

३।न बुर्जुआ दार्शनिक तथा समाजविज्ञानी अक्सर समाज के

करने के मार्क्स के सिद्धान्तों की व्याख्या ऐतिहासिक प्रक्रिया की टेक्नोलॉजिकल धारणा के रूप में करते हैं। उनका यह गलत दृष्टिकोण मार्क्स के विभिन्न वक्तव्यों की, जिन्हें उनकी समष्टि से मनमाने ढंग से पृथक करके ले लिया जाता है, एकांगी व्याख्या पर आधारित है। इसके अलावा, इस तथ्य की भी उपेक्षा की जाती है कि मार्क्सवादी दृष्टिकोण से उत्पादक शक्तियां और टेक्नोलॉजी एक ही चीज कदापि नहीं हैं। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उत्पादक शक्ति अपनी ऐतिहासिक रूप से विक-सित योग्यताओं के साथ स्वयं मनुष्य है, जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति से भिन्न होती है और इस तरह इस निर्विवाद तथ्य पर बल देती है कि समग्र रूप से वे सामाजिक विकास की उपज हैं जिसकी हद में इन योग्यताओं के विकास की गहनता और सीमा मानव-चेतना और इच्छा से स्वतंत्र होती है हालांकि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपनी योग्यताओं को विकसित करता और पूर्ण बनाता है यानी वह इस कार्य को दूसरों को नहीं सौंप सकता।

मार्क्स के लिए टेक्नोलॉजी उत्पादन के साधनों का सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण अंश और केवल उत्पादक शक्तियों के विकास की उपलब्ध सीमा का एक सूचक (और एकमात्र कदापि नहीं) है। अन्य सूचक हैं श्रम का सामाजिक संगठन, उत्पादन प्रवाह का स्वरूप, विज्ञान के टेक्नोलॉ-जिकल प्रयोग की सीमा, आदि। मार्क्सवादी दृष्टिकोण से, चूंकि टेक्नो-लॉजी उत्पादन का एक साधन है (और इस चीज पर भी जोर देना बहुत महत्त्वपूर्ण है कि यह सृजन का साधन, सामूहिक आवश्यकताओं को पूरा करने का साधन, डाक्टरी उपचार का साधन और अफसोस कि विनाश का साधन भी है), इसलिए स्वभावतः इसका उन उद्देश्यों से द्वंद्वात्मक संबंध है, जो इसकी सहायता से प्राप्त किये जाते हैं। यह केवल इस चीज से ही स्पष्ट नहीं है कि बहुत से उद्देश्य केवल टेक्नोलॉ-जिकल साधनों के जरिये ही संभाव्य, प्राप्य बनते हैं, बल्कि इस चीज में भी कि वास्तव में वे टेक्नोलॉजिकल विकास की वजह से ही आविर्भूत होते हैं। इसके अलावा, मार्क्सवाद वैज्ञानिक तथा टेक्नोलॉजिकल प्रगति के महत्त्व पर स्पष्ट रूप से जोर देते हुए इसके संभव और वास्तविक नकारात्मक परिणामों की ओर से भी आंखें नहीं मूंदता। लेकिन चूंकि ऐतिहासिक भौतिकवाद का इतिहास की उस टेक्नोलॉजिकल धारणा

आधुनिक बुर्जुआ सिद्धांतकार अक्सर मार्क्स की इस बात के लिए निंदा करते हैं कि उन्होंने वैज्ञानिक तथा टेक्नोलॉजिकल प्रगति के अंतर्विरोधों की उपेक्षा की। लेकिन वस्तुतः मार्क्स ने १६वीं सदी के मध्य में ही उन अंतर्विरोधों को मेधावी ढंग से प्रकट किया और सिद्ध किया कि उन्हें केवल सामाजिक संबंधों के कम्युनिस्ट रूपांतरण द्वारा ही हल किया जा सकता है। मार्क्स ने केवल भाग्यवाद और आत्मगतवाद पर ही नहीं, बल्कि इतिहास की प्रकृतिवादी व्याख्या पर भी काबू पाया, जिससे पूर्व-मार्क्सवाद के असाधारण भौतिकवादी भी आगे नहीं बढ़ सकते थे। '१८४४ की आर्थिक और दार्शनिक पांडुलिपियां' में मार्क्स ने इतिहास की अपनी समझ को "पूर्ण प्रकृतिवाद" कहा जिससे उनका आशय केवल यह था कि सामाजिक विकास की प्रेरक शक्तियां अलौकिक नहीं, प्राकृतिक हैं। इसीलिए मार्क्स ने कहा कि उनका "पूर्ण प्रकृतिवाद" मानवतावाद है इतिहास का निर्माण करनेवाली शक्तियां मानव शक्तियां हैं, हालांकि वे प्रत्येक विचाराधीन पीढ़ी की शक्तियां ही नहीं हैं। न प्रकृति, न ही मानवजाति सर्वशक्तिमान हैं। कोई भी चीज़ सर्वशक्तिमान नहीं है। लेकिन संभाव्य रूप से सर्वशक्तिमान प्रकृति की भांति ही संभाव्य रूप से सर्वशक्तिमान मानवजाति है और इन संभाव्य अपरिमितताओं को कभी भी पूर्ण रूप से कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। अपरिमित का मार्ग अपने किसी भी भाग में अपरिमित बना रहता है। इसका अर्थ यह है कि हमारे समक्ष तथा हमारे दूरवर्ती वंशजों के समक्ष भी रचनात्मक कार्य की असीम संभावना है।

मार्क्सवादी विश्व-दृष्टिकोण आशावाद से ओत-प्रोत है, यह अपनी सारी जटिलताओं और अंतर्विरोधों में मानव-इतिहास की गहन समझ है। लेनिन ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण को "ऐतिहासिक आशावाद" कहा। कम्युनिस्ट आंदोलन की वस्तुगत परिस्थितियों का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा कि मार्क्सवादी "सामाजिक विकास की वर्तमान प्रक्रिया में विश्वास करता है, क्योंकि वह इन अंतर्विरोधों के पूर्ण विकास में ही बेहतर भविष्य के पूर्वसंकेत को देखता है" (10,2,525)।

मार्क्सवाद का ऐतिहासिक आशावाद विकास के द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी सिद्धांत से अटूट रूप से जुड़ा है। मार्क्सवादी दर्शन वस्तुगत यथार्थता को सचेत और उद्देश्यपूर्ण मानव-कार्य के एक असीम क्षेत्र के रूप

परिशिष्ट